Arcot, T.N.
12/3/2019

2 Saturday
JANUARY

002-364

श्री योगबिन्दुः

(कर्ता - हरिभद्रसू. म.)
(टीका - अज्ञात)

जिनके द्वारा सद् योग रूप चिन्तामणि से जगत् का महान् स्वामित्व प्राप्त किया गया, जो योगियों के समूह को भी वंदनीय हैं, वे जिन हमारे पापों को अत्यंत (घन) रूप से काटें/फाड़ डालें ।1

अमृत के बिंदु की तरह अप्रतिम आनंद को एकत्रित करने वाले योगबिन्दु ग्रंथ की यह वृत्ति संक्षेप से रची जाती है ।2

वैसा कोई गुरु का उपदेश नहीं है, उदार (उत्तम) कोई मति भी नहीं है तथापि योग की प्रियता के वश से अर्थात् योग मुझे प्रिय होने से उसके अभ्यास के लिए मेरा यह प्रयत्न है ।3

अब- उस योगबिंदु का यह आदिसूत्र 'नत्वा' इत्यादि दो श्लोक हैं -

नत्वाद्यन्तविनिर्मुक्तं शिवं योगीन्द्रवन्दितम् ।
योगबिन्दुं प्रवक्ष्यामि तत्त्वसिद्ध्यै महोदयम् ॥1॥
सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः ।
सन्नीत्या स्थापकं चैव मध्यस्थांस्तद्विदः प्रति ॥2॥

आदि-अन्त से रहित और योगीन्द्र से वन्दित ऐसे शिव को नमस्कार कर महान् उदय वाले और सभी योगशास्त्रों के अविरोधपूर्वक सन्नीति से मध्यस्थ ऐसे योगविद् के प्रति योगशास्त्रों के स्थापक ऐसे योगबिंदु ग्रंथ को मैं तत्त्व की सिद्धि के लिए कहूँगा ।1

→ आदि-अन्तविनिर्मुक्तं= आदि और अन्त से रहित । यह विशेषण शिव के संतान (प्रवाह) की अपेक्षा से है । शिव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनंत है । अनादि से शुरू ऐसा कोई एक शिव नहीं है । अन्य दर्शनि की ऐसी मान्यता अन्य शास्त्रों का में विस्तार से खंडन किया गया है ।

→ शिव = सकल उपद्रव, उपद्रवों के अंश से भी रहित देव ।

→ योगीन्द्रवन्दित= गणधरादि महामुनियों द्वारा नमस्कृत ।

→ योगबिंदु = मोक्ष के हेतु ऐसे अनुष्ठान रूप योग का बिंदु, अवयव । इसका प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को भी योगबिंदु कहा जाता है । अतः योगबिंदु

FEBRUARY 2016
W M T W T F S S
5 1 2 3 4 5 6 7
6 8 9 10 11 12 13 14
7 15 16 17 18 19 20 21
8 22 23 24 25 26 27 28
9 29 - - - - - -
2016

नामक प्रकरण को कहूँगा। (ज्ञान, बोध)

→ तत्त्वसिद्धि = आत्मादि तत्त्व की प्रतीति के लिए।

→ महोदय = महान् यानी प्रशस्त, उदय यानी मोक्ष और अभ्युदय की प्राप्ति। अभ्युदय यानी इह-परलोक के सुख। अर्थात् मोक्ष और इह-परलोक की प्राप्ति कराने वाला ग्रंथ।

→ सर्वेषां योगशास्त्राणां = ~~सर्व~~ कपिल-सुगतादि द्वारा प्रणीत सभी योगशास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र।

अविरोधेन = अविरोध पूर्वक।

तत्त्वतः = ऐदम्पर्यालोचन से अर्थात् तात्पर्यार्थ से अविरोध।

अर्थात् तात्पर्यार्थ से सभी योगग्रंथों के साथ विरोध नहीं है, किंतु शब्द-न्याय से तो विरोध है क्योंकि प्रत्येक दर्शन में शब्दों की प्रवृत्ति तो अन्य-अन्य प्रकार से होती है। कहा जाता है कि-

असंगानुष्ठान सांख्यों द्वारा प्रशान्तवाहिता, बौद्धों द्वारा विसभागपरिक्षय, शैवों द्वारा शिववर्त्म तथा महाव्रतिकों द्वारा ध्रुवाध्वा कहा जाता है। (योगदृष्टि गा.176)

→ सन्नीति = अन्वयव्यतिरेक रूप शुद्ध युक्ति से।

→ स्थापक = अविसंवाद प्राप्त कराने से प्रतिष्ठा करने वाला।

अर्थात् युक्ति-युक्त वर्णन करने से तथा सभी योगशास्त्रों में अविसंवाद सिद्ध करने से यह ग्रंथ सभी योगशास्त्रों का स्थापक है।

→ प्र. योगशास्त्रकार स्व-स्व मत में अत्यन्त अभिनिवेश से विप्रतिपन्न हैं तो यह प्रकरण सभी योगशास्त्रों का संस्थापक कैसे होगा?

उ. स्वदर्शन के राग और परदर्शन के द्वेष के मध्य में वर्ती मध्यस्थ और स्वदर्शन के योगशास्त्र को जानने वाले श्रोता के प्रति ही यह ग्रंथ सभी योगशास्त्रों का स्थापक है क्योंकि अमध्यस्थ श्रोताओं में वस्तु की स्थापना नहीं हो सकती। कहा गया है कि- "आग्रही पुरुष युक्ति को वहाँ ले जाने की इच्छा करता है, जहाँ उसकी मति है जबकि पक्षपातरहित पुरुष की मति वहीं निवेश करती है, जहाँ युक्ति है"।

→ अनुबंध चतुष्टय -

'नत्वा शिवं' पद से स्व विघ्न दूर करने हेतु शास्त्र के आदि (मूल) में मंगल कहा।

JANUARY 2016
W M T W T F S S
1 2 3
1 4 5 6 7 8 9 10
2 11 12 13 14 15 16 17
3 18 19 20 21 22 23 24
4 25 26 27 28 29 30 31

4 Monday
JANUARY

Week 1 004-362

'योगबिन्दु' पद से प्रेक्षावान् पुरुषों की प्रवृत्ति के लिए अभिधेय कहा।
'तत्वसिद्धये' पद से अनन्तर प्रयोजन और 'महोदयं' पद से परंपर प्रयोजन कहा।
अभिधान-अभिधेय रूप संबंध स्वयं ही समझ लेना चाहिए।

★ आद्यन्तविनिर्मुक्त शिव को ग्रंथकार ने नमस्कार किया है अर्थात् सिद्धों को प्रवाह रूप से नमस्कार किया है। यह प्रायः अन्य कहीं भी नहीं देखा गया है।
★ तत्वसिद्धि का अर्थ किया है आत्मादि तत्त्व की प्रतीति। प्रतीति शब्द के दो अर्थ होते हैं - बोध और अनुभव। यहाँ अनुभव अर्थ नहीं लेना है क्योंकि अनुभव तो मात्र आत्म तत्त्व का ही होता है, आत्मादि तत्वों का नहीं। अतः यहाँ बोध अर्थ लेना। आत्मादि तत्वों के ज्ञान के लिए इस ग्रंथ की रचना की गई है। वैसे भी शास्त्र तो सिर्फ ज्ञान द्वारा तत्त्व का निर्देश करते हैं, फिर प्रवृत्ति तो जीव को ही करनी होती है। कहा भी है - व्यापारः सर्वशास्त्राणां दिक्प्रदर्शनमेव हि। परं तु प्रापयत्येको ऽनुभवो भवतारिणेः॥ (ज्ञानसार 26-2)
★ यहाँ अनुबंध चतुष्टय में टीकाकार ने मंगल्य, अभिधेय, प्रयोजन और संबंध लिया है। मूल में तो संबंध वाचक कुछ पद नहीं है। यहाँ अधिकारी ले सकते हैं - मध्यस्थ और योगशास्त्र को जानने वाले इस ग्रंथ के अधिकारी हैं। ग्रंथारंभ में पाँच चीज़ होती हैं - मंगल्य, अभिधेय, प्रयोजन, संबंध, अधिकारी। ~~इनमें से~~ कुछ ग्रंथकार प्रयोजन, संबंध या अधिकारी में से कोई एक छोड़कर अनुबंध-चतुष्टय मानते हैं। तो कुछ मंगल्य को अत्यंग बोलकर शेष चार को अनुबंध-चतुष्टय कहते हैं।

अब सभी योगशास्त्रों में अविरोध कैसे है? वही ~~बता~~ दर्शाते हैं -

मोक्षहेतुर्यतो योगो भिद्यते न ततः क्वचित्।
साध्याभेदात्तथाभावे तूक्तिभेदो न कारणम्॥ 3॥

★ योग मोक्ष का हेतु है इसलिए कहीं भी उसमें भेद नहीं है क्योंकि साध्य (मोक्ष) का अभेद है। मोक्ष का अभेद होने से योग के भेद में उक्तिभेद कारण नहीं है।

FEBRUARY 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
5	1	2	3	4	5	6	7
6	8	9	10	11	12	13	14
7	15	16	17	18	19	20	21
8	22	23	24	25	26	27	28
9	29	-	-	-	-	-	-

→ मोक्ष यानी निवृत्ति, हेतु यानी निमित्त, कारण।
→ क्वचित् = किसी भी योग शास्त्र में।

2016

→ साध्य = योग के अभ्यास से निष्पाद्य मोक्ष

मोक्षहेतु ... साध्याभेदात् ⇒ सभी दर्शनों में मोक्ष एकरूप ही है, सकल कर्म-क्लेश के क्षय रूप है। अतः इस मोक्ष के हेतु/साधन भी एक जैसे ही होंगे। इस अनुमान से यह सिद्ध होता है कि सभी दर्शन में मोक्षहेतु योग भी एक ही है।

→ इस प्रकार होने पर जो सिद्ध होता है, वह कहते हैं - तथाभावे यानी मोक्ष का अभेद होने पर।

युक्तिभेद = योगशास्त्रों में आत्मादि योगांगों का जो शब्दभेद/संज्ञाभेद है।

तथाभावे ... व्यवस्थियमाणत्वात् ⇒ मोक्ष का अभेद होने पर योगशास्त्रों में आत्मादि योगांगों का जो युक्तिभेद/संज्ञाभेद/शब्दभेद है, वह योगभेद का कारण नहीं है। मात्र नाममात्र के भेद से भाव भिन्न नहीं होते क्योंकि शक्रादि एक का ही अनेक नाम से व्यवहार होता है।

☆ यहाँ 'तथाभावे' पद का अर्थ टीकाकार ने 'मोक्षाभेदभावे सति' किया है। इसकी जगह 'तथाभावे' पद का अर्थ 'योगभेदे' भी ले सकते हैं -
योग मोक्ष का हेतु है और मोक्ष सभी दर्शन में एकरूप ही है। अतः योग में भी कोई भेद नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ('साध्याभेदात्' पद तक)। यहाँ पूर्वपक्ष शंका करता है कि ~~मोक्ष में~~ योग में भेद तो दिखाई देता ही है क्योंकि सभी दर्शनों में आत्मादि तत्त्वों के नाम अलग-अलग हैं। इस प्रश्न के उत्तर में 'तथाभावे... कारणं' पंक्ति है। तथाभाव अर्थात् शंकाकार जिस प्रकार कह रहा है, उस प्रकार के भाव में, योगभेद में तो ~~युक्त~~ युक्तिभेद कारण नहीं है। आशय यह है कि शंकाकार जैसा योगभेद कह रहा है, वैसे योगभेद में मात्र युक्ति/नाम भेद है और वैसा युक्ति-भेद योगभेद में कारण नहीं है।

अत. इसी में विशेष कहते हैं -

मोक्षहेतुत्वमेवास्य किन्तु यत्नेन धीधनैः।
सद्गोचरादिसंशुद्धं मृग्यं स्वहितकाङ्क्षिभिः ॥4॥

स्वहित के कांक्षी ऐसे बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा इस योग का सद्गोचरादि से संशुद्ध ऐसा मोक्षहेतुत्व यत्नपूर्वक ढूँढा जाना चाहिए।

JANUARY 2016
W M T W T F S S
1 2 3
1 4 5 6 7 8 9 10
2 11 12 13 14 15 16 17
3 18 19 20 21 22 23 24
4 25 26 27 28 29 30 31

6 Wednesday
JANUARY
Week 1 006-360

→ सद्गोचरादिसंशुद्ध = सद् यानी अनुपचरित ऐसे गोचर यानी विषयादि से संशुद्ध।
→ मृग्य = आत्मादि में मोक्ष का हेतु योग होता है?, इस प्रकार निपुण ऊहापोह से योग की गवेषणा करना चाहिए।
योग में लगा जाने पर पुरुष सभी पुरुषार्थ में अवश्य वंचित/स्खलित होता है; क्योंकि कहा गया है - यह उत्तम पुरुषार्थ है, इसमें स्खलित होने वाला सभी कल्याण-कार्यों में अवश्य स्खलित होता है। (पंचवस्तु - 1025)

अव. योग की गोचरादि शुद्धि क्यों ढूँढना चाहिए? उ. -

गोचरश्च स्वरूपं च फलं च यदि युज्यते।
अस्य योगस्ततोऽयं तन्मुख्यशब्दार्थयोगतः॥5॥

यदि इस योग का विषय, स्वरूप और फल घटित होता है तो यह योग वस्तुतः योग बनता है क्योंकि शब्द के मुख्य अर्थ का योग (घटित) होता है।

→
→ गोचर = परिणामी जीव रूप विषय।
→ स्वरूप = सभी अर्थों में उचित प्रवृत्ति रूप।
→ फल = मोक्ष रूप।
→ मुख्य = अनुपचरित, उपचार रहित।
शब्दार्थ = 'योग' शब्द का अर्थ 'मोक्षेण योजनाद् योगः'।
योगतः = घटित होने से।
यदि इस योग का विषय, स्वरूप और फल घटित होता है तो यह योग वास्तविक योग कहलाता है क्योंकि तब ही इसमें 'योग' शब्द का मुख्य/उपचार रहित अर्थ 'मोक्षेण योजनाद् योगः' घटित होता है। अन्यथा यदि विषय, स्वरूप या फल बराबर नहीं घटित होता है, तो वह योग भी मोक्ष प्राप्त कराने वाला न होने से वास्तविक योग नहीं बनता है, मात्र उपचार से (बोलने/कहने का) योग होता है। अतः स्वहित कांक्षी को गोचरादि से शुद्ध योग की गवेषणा करना चाहिए।

अव. 'यथोद्देशं निर्देशः' न्याय से गोचरादि की शुद्धि को ही भावित करते हैं -

आत्मा तदन्यसंयोगात्संसारी तद्वियोगतः ।
स एव मुक्त एतौ च तत्स्वाभाव्यात्तयोस्तथा ॥6॥

आत्मा उससे अन्य के संयोग से संसारी है। वही आत्मा उसके वियोग से मुक्त है। संयोग और वियोग का वैसा स्वभाव होने से ~~मोक्ष~~ संसार-मोक्ष हैं।

→ तदन्यसंयोग = तद् यानी आत्मा, आत्मा से अन्य ऐसे कर्म के संयोग से।
→ तद्वियोग= तद् यानी आत्मा से अन्य कर्म, कर्म के वियोग से जीव मुक्त होता है।
→ तत्स्वाभाव्यात्= तद् यानी ~~स्व~~ संसारहेतु और मोक्षहेतु, वे के हैं संसारहेतुः मोक्षहेतुश्च स्वभावौ ययोः तौ ~~स्व~~ तत्स्वभावः, तस्य भावः तत्स्वाभाव्यं, तस्मात् तत्स्वाभाव्यात् अर्थात् संसारहेतु और मोक्षहेतु हैं स्वभाव जिन दो (संयोग-वियोग) के ऐसे तत्स्वभाव तथा ऐसे तत्स्वभावपन से।
→ तयोः = संयोग-वियोगयोः , संयोग और वियोग के।

आत्मा... मुक्तः ⇒ आत्मा स्वयं से अन्य अर्थात् परद्रव्य ऐसे कर्म के संयोग से संसारी होता है और वही आत्मा परद्रव्य ऐसे कर्म के वियोग से मुक्त होता है। द्रव्यरूप से जो आत्मा संसारी था, वही मुक्त होता है, अन्य नहीं।
एतौ... तयोः ⇒ संयोग और वियोग का क्रमशः संसारहेतु और मोक्षहेतु ~~स्व~~ स्वभाव होने के कारण संसार और मोक्ष होते हैं। ~~अर्थात्~~

★ योग का विषय आत्मा है। आत्मा को परिणामी नित्य मानने पर ही संसार और मोक्ष घटित होता है। ऐसी गोचर-शुद्धि इस गा. 6 से गा. 29 तक कहेंगे। पाँच प्रकार के योग के वर्णन में स्वरूपशुद्धि कहेंगे। ग्रंथ के अंत योग का फल मोक्ष कहने द्वारा फल शुद्धि का वर्णन होन होगा।
★ 'तत्स्वाभाव्य' पद में 'तत्' पद से टीकाकार ने संसार-हेतु और मोक्षहेतु का ग्रहण किया है। वहाँ 'तत्' पद से जीव/आत्मा का भी ग्रहण कर सकते हैं। फिर षष्ठी तत्पुरुष समास होगा-

8 Friday
JANUARY
Week 1 008-358

स्वभाव एव स्वाभाव्यं (?), तस्य जीवस्य स्वाभावं तत्स्वाभाव्यं, तस्मात् ।
संयोग और वियोग जीव का स्वभाव होने के कारण ही उसी आत्मा का संसार और मोक्ष होता है, अन्य का नहीं। अतः आत्मा को परिणामी नित्य मानने पर ही संसार और मोक्ष की सम्यक् उपपत्ति होगी।

प्र. कर्म का वियोग तो जीव का स्वभाव है किंतु संयोग कैसे स्वभाव है? उ. उपचरित सद्भूत व्यवहार नय से कर्मसंयोग जीव का स्वभाव है और अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय से कर्म का वियोग जीव का स्वभाव है। यहाँ कर्मसंयोग से कर्म पुद्गलों का संयोग और वियोग से कर्म पुद्गलों का वियोग नहीं लेना बल्कि कर्मसंयोग के निमित्त रूप ऐसे जीव के परिणाम और कर्मवियोग के योग्य जीव के परिणाम अर्थात् क्रमशः विभाव दशा और स्वभावदशा (सकाम निर्जरा में) का ग्रहण करना। ये दोनों प्रकार के परिणाम जीव का ही स्वभाव है, जीव की ही पर्याय है। ऐसा मानने पर ही संसार-मोक्ष की उपपत्ति होती है।

अब. इसी बात को कहते हैं-

[संयोग-वियोग दोनों को आत्मा का स्वभाव न मानने पर संसार-मोक्ष की उपपत्ति नहीं होगी। अतः दोनों आत्मा के स्वभाव हैं, इस बात की पुष्टि करते हुए महेशवादिमत का खंडन करते हैं-]

अन्यतोऽनुग्रहोऽप्यत्र तत्स्वाभाव्यनिबन्धनः।
अतोऽन्यथा त्वदः सर्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥७॥

यहाँ (योग की विचारणा में) अन्य (महेशादि) से होने वाला अनुग्रह भी उस स्वभाव की के निबंधन वाला है। इससे अन्य प्रकार से यह सब मुख्यरूप से उपपन्न नहीं स्वीकार सकते (औपचारिक हो सकता है)।

→ अन्य = महेश, ईश्वर।
→ अनुग्रह = शुद्ध ज्ञान-क्रिया की शक्ति रूप उपकार।
→ तत्स्वाभाव्यनिबन्धनः = स महेशानुग्रहयोग्यः स्वभावः यस्य स तत्स्वभावः,

FEBRUARY 2016
W M T W T F S S
5 1 2 3 4 5 6 7
6 8 9 10 11 12 13 14
7 15 16 17 18 19 20 21
8 22 23 24 25 26 27 28
9 29
2016

तस्य भावः तत्त्वाभाव्यं, तद् निबन्धनं हेतुः यस्य स तत्त्वाभाव्यनिबन्धनः
महेश के अनुग्रह योग्य है स्वभाव जिस जीव का, ऐसे जीव का
भाव अर्थात् जीवत्व महेशानुग्रहयोग्यस्वभाव, यह स्वभाव है कारण
जिसका ऐसा अनुग्रह।
→ अन्यथा = केवल महेशानुग्रह से ही मोक्ष मानो तो।
→ मुख्य = अनुपचरित।
→ अदः = संसारित्व आदि।

अन्यतो...निबन्धनः ⇒ महेशादि का जो अनुग्रह होता है, वह भी जीव की योग्यता से ही होता है। यदि जीव की योग्यता नहीं होती तो वह अनुग्रह भी नहीं होता। अतः एकांत रूप से अनुग्रह द्वारा मोक्ष मानना भी गलत है।
अतो... उपपद्यते ⇒ ऊपर जो व्यवस्था बताई कि जीव की योग्यता ही मुख्य उपादान कारण है, इससे अन्यथा अर्थात् इस व्यवस्था से अन्य रूप से यदि केवल अनुग्रह द्वारा मोक्ष स्वीकारेंगे तो जीव का संसारित्व और आदि पद से मुक्तत्व मुख्यरीति से अर्थात् उपचार रहित नहीं घटित होगा क्योंकि केवल अनुग्रह से मोक्ष मानने पर जीव के स्वभाव में तो कुछ अंतर आया ही नहीं। स्वभाव में अंतर नहीं हुआ तो 'पहले संसारी, फिर मुक्त' ऐसा मात्र शब्द से ही कह सकते हैं। अतः यह तो औपचारिक हुआ। अनुपचरित संसार-मोक्ष मानने के लिए जीव के स्वभाव में कुछ भेद अवश्य मानना पड़ेगा। अतः पहले जीव की योग्यता नहीं होने से अनुग्रह भी ~~अकिंचि~~ अकिंचित्कर था, फिर योग्यता के परिपाक से अनुग्रह द्वारा मोक्ष हुआ। यही बात टीकाकार दृष्टांत से समझाते हैं - जैसे कपास आदि ही यदि स्वभाव से अयोग्य है तो लाक्षारस आदि से उसे रंगने पर भी वह तात्त्विक रंग प्राप्त नहीं करता, किंतु राग का आभास ही प्राप्त करता है। इसी तरह जीव की योग्यता न होने पर महेश के द्वारा किए जाते अनुग्रह-निग्रह भी तात्त्विक नहीं होते, अतः जीव के स्वभाव को अवश्य स्वीकारना चाहिए।

JANUARY 2016
W M T W T F S S
1 2 3
1 4 5 6 7 8 9 10
2 11 12 13 14 15 16 17
3 18 19 20 21 22 23 24
4 25 26 27 28 29 30 31

★ प्र. टीकाकार ने ऐसा क्यों कहा कि अनुग्रह से कुछ प्रयोजन नहीं है? जैन दर्शन भी तीर्थंकरादि के मोक्षप्राप्ति के लिए अनुग्रह की अपेक्षा तो रखता ही है।

10 Sunday
Week 1 010-356 ● JANUARY

जीव के स्वभाव को स्वीकारने पर उससे ही संसार-मोक्ष की उपपत्ति होने से महेशानुग्रह आदि से कुछ प्रयोजन नहीं रहता। अतः 'आत्मा तदन्यसंयोगात्संसारी' इत्यादि बात सिद्ध होती है।

★ उ. यहाँ 'अनुग्रह से कुछ प्रयोजन नहीं है' ऐसा कहने के पीछे टीकाकार का आशय यह है कि अनुग्रह निमित्त है, जीव की योग्यता उपादान है। उपादान मुख्य है, निमित्त गौण है। जहाँ जीव उपादान कारण होता है, वहाँ निमित्त अवश्य उपस्थित हो ही जाता है। निमित्त को परिपक्व पकड़ने नहीं जाना नहीं पड़ता। अतः टीकाकार यह कहना चाहते हैं कि जीव को उसकी योग्यता प्रगट करना चाहिए। यदि योग्यता प्रगट होगी तो अनुग्रह रूप निमित्त तो अवश्य आएगा ही, उसे लेने नहीं जाना पड़ेगा। इस आशय से कहा है कि 'अनुग्रह से कुछ प्रयोजन नहीं है' अर्थात् अनुग्रह रूप निमित्त के पीछे पड़ने की आवश्यकता नहीं है।

अब. इस प्रकार महेशवादिमत का खंडन कर पुरुषाद्वैतमत का खंडन करते हुए कहते हैं-

केवलस्यात्मनो न्यायात्सदात्मत्वाविशेषतः।
संसारी मुक्त इत्येतद् द्वितयं कल्पनैव हि ॥४॥

केवल आत्मा के ही युक्तिमार्ग से हमेशा आत्मत्व सामान्य होने से 'संसारी-मुक्त' ~~ऐसे~~ ऐसे दो प्रकार कल्पना ही है।

→ केवल आत्मा = आत्मा से अन्य अदृष्टादि से रहित आत्मा।
→ आत्मत्वाविशेषतः = 'आत्मा का स्वरूप समान होने से अर्थात् विशेष (भेद) के कारण ऐसे कर्मसंयोगादि को नहीं स्वीकारने से 'आत्मा हमेशा समान होने से।
→ कल्पना = स्वविकल्परूप।

FEBRUARY 2016
W M T W T F S S
5 1 2 3 4 5 6 7
6 8 9 10 11 12 13 14
7 15 16 17 18 19 20 21
8 22 23 24 25 26 27 28
9 29
2016

पुरुषाद्वैत मत वाले मात्र पुरुष (आत्मा) को ही मानते हैं, कर्म को नहीं मानते।

उनसे यहाँ पूछ रहे हैं कि आप केवल आत्मा ही मानते हो तो संसार और मोक्ष कैसे होगा क्योंकि दोनों अवस्था में आत्मत्व तो एक जैसा ही रहता है। आत्मा में मलिनता कैसे होगी? अतः ~~आप~~ आप कर्म को माने बिना संसार और मोक्ष कैसे घटा सोगे? आपके मत में तो संसार और मोक्ष दोनों अवस्था में आत्मत्व एक जैसा ही रहने से इन दोनों अवस्था में कोई भेद नहीं होगा। अतः संसार और मोक्ष मात्र आपकी कल्पना है, वह औपचारिक है, मात्र शाब्दिक है किंतु वास्तविक नहीं है।

अब इसी बात को दृष्टान्त से समझाते हुए कहते हैं -

काञ्चनत्वाविशेषेऽपि यथा सत्काञ्चनस्य न।
शुद्ध्यशुद्धी ऋते शब्दात्तद्वदत्रापि संशयम् ॥9॥

जैसे काञ्चनत्व समान होने पर भी शुद्ध सोने की शुद्धि-अशुद्धि शब्द सिवाय नहीं होती, वैसे ही यहाँ भी संशयरहित है।

→ सत्काञ्चन = ~~निर्मलता-मलिनता~~ सर्व मल से रहित कल्याण नामक सुवर्ण।
→ शुद्ध = विकल पुरुष के द्वारा प्रयुक्त ऐसा शब्द।
→ अत्र = आत्मा में

शुद्ध का सोने में काञ्चनत्व समान है, अतः उसमें शुद्धि-अशुद्धि शब्द के अलावा नहीं हो सकती अर्थात् मात्र शब्द से बोलने में ही होती है वास्तविक नहीं। इसी तरह आत्मा में भी कर्म का स्वीकार न करने पर संसार और मोक्ष अवस्था मात्र काल्पनिक होगी।

★ प्र. यहाँ शुद्ध सुवर्ण का उदाहरण ही क्यों दिया है?
उ. कर्म मल नहीं मानोगे तो एकमात्र आत्मा ही बचेगा, वह भी कर्म न होने से शुद्ध ही होगा इसलिए संसार और मोक्ष नहीं घटेंगे। जैसे ही मल नहीं मानोगे तो मात्र शुद्ध सुवर्ण ही बचेगा, उसमें भी शुद्धि-अशुद्धि नहीं घटेगी।

12 Tuesday
JANUARY
Week 2 012-354

अव. प्र. जो पहले आत्मा से अन्य कहा गया, वह कर्म है। वह किया जाने पर कर्ता ऐसे आत्मा की अवश्य अपेक्षा रखता है। वह आत्मा कर्म से पहले ही सिद्ध रूप मानना चाहिए; क्योंकि एककाल में होने वाले दो पदार्थों में गाय के ही दाहिने और बाएँ सींग की तरह कार्य-कारणभाव का अभाव होता है। अतः स्वरूप मात्र में स्थित ऐसे शुद्धरूप वाले आत्मा को संसारिपन के हेतुरूप ऐसा प्रथम कर्मसंयोग कैसे हुआ ? उ. -

योग्यतामन्तरेणास्य संयोगोऽपि न युज्यते।
सा च तत्तत्त्वमित्येवं तत्संयोगोऽप्यनादिमान्॥10॥

योग्यता के बिना इस आत्मा का संयोग भी घटित नहीं होता है। वह योग्यता इस आत्मा की स्वभावभूत है। इस प्रकार उसका संयोग भी अनादि है।

→ योग्यता = कर्म संयोग के अनुकूल परिणति रूप।
→ संयोग = कर्म का संयोग, संबंध।
→ अपि = संयोग भी घटित नहीं होता तो संयोग न होने पर संसारित्व की तो क्या बात ? अर्थात् वह तो ज़रा भी घटित नहीं होगा।
→ तत्तत्त्व = (तत्) आत्मा का (तत्त्व) स्वभाव रूप।
→ इत्येवं = इस प्रकार ~~संयोग~~ योग्यता भी आत्मा का स्वभाव होने से।
→ अपि = संयोग भी अनादि है तो जीव तो सुतरां अनादि है।
→ अनादिमान् = प्रवाह की अपेक्षा से अजीव की तरह आदि काल से रहित।

आत्मा और कर्म का संबंध ~~होता~~ दोनों की परस्पर तथाविध योग्यता के कारण होता है। यदि दोनों में से किसी एक की भी योग्यता नहीं होगी तो संयोग नहीं होगा। जैसे - सिद्ध भगवंत जहाँ विराजमान है, वहाँ कर्म के पुद्गल भी हैं किंतु सिद्ध भगवंत में बंध की योग्यता न होने से संयोग नहीं होता। अतः संसारी जीव को जो कर्मबंध होता है, वह जीव की योग्यता से होता है।

वह योग्यता भी जीव का ही स्वरूप है, स्वभाव है। तथा स्वभाव रूप होने से वह अनादि है, उससे संयोग भी अनादि है। अतः पूर्वपक्ष द्वारा दी गई आपत्ति का निराकरण हो जाता

FEBRUARY 2016
W M T W T F S S
5 1 2 3 4 5 6 7
6 8 9 10 11 12 13 14
7 15 16 17 18 19 20 21
8 22 23 24 25 26 27 28
9 29 - - - - - -
2016

है। जीव अनादि से है संयोग के अनुकूल परिणति भी अनादि से है अतः संयोग भी अनादि से है। इसलिए पहले जीव सिद्धरूप था फिर संयोग हुआ, ऐसा नहीं होता।

अब. ऐसा कैसे होता है अर्थात् संयोग भी अनादि से क्यों है, यह ग्रंथकार दिखा रहे हैं-

योग्यतायास्तथात्वेन विरोधोऽस्यान्यथा पुनः।
अतीतकालसाधर्म्यात् किन्त्वाज्ञातोऽयमीदृशः॥11॥

योग्यता भी वैसी (अनादि) होने से संयोग भी अनादि है। (गा.10 के चौथे पद के साथ अन्वय है।) अन्यथा इस बंध का विरोध होगा। अतीतकाल के साधर्म्य से यह बंध केवल आज्ञा (आगम) से इस प्रकार (अनादि) है।

→ तथात्व = जीव का स्वभावभूत होने के कारण अनादि।
→ विरोध = घटित नहीं होगी।
→ अन्यथा = योग्यता को आदि सहित मानने पर।
→ अतीतकालसाधर्म्यात् = भूत काल की समानता से।
→

योग्यतायास्तथात्वेन ⇒ गा.10 में कहा कि संयोग भी अनादि है। पूर्वपक्ष ने शंका की कि संयोग अनादि से कैसे है? इसी शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं कि योग्यता जीव के स्वभाव रूप है तथा जीव अनादि से है इसलिए जीव का स्वभाव भी अनादि से है। अतः योग्यता भी अनादि से है और योग्यता से होने वाला संयोग भी अनादि से है।

विरोधः ... पुनः ⇒ अन्यथा यदि योग्यता को अनादि नहीं मानोगे और आदि सहित मानोगे तो इस बंध में विरोध होगा अर्थात् बंध घटित नहीं होगा क्योंकि यदि योग्यता को आदि मानोगे तो बंध को भी आदि मानना पड़ेगा और बंध को आदि मानोगे तो निम्नलिखित आपत्तियाँ होंगी-

1. बंध को सभी दर्शनकार अनादि मानते हैं अर्थात् सभी दर्शनकार

2016
JANUARY 2016
W M T W T F S S
1 2 3
1 4 5 6 7 8 9 10
2 11 12 13 14 15 16 17
3 18 19 20 21 22 23 24
4 25 26 27 28 29 30 31

14 Thursday
JANUARY
Week 2 014-352

आत्मा की मलिनता, अविवेक, अज्ञानता, मिथ्यात्व को अनादि मानते हैं। अतः उनका विरोध होगा।

2. बंध आदि मानोगे तो उसके पहले आत्मा को शुद्ध मानना पड़ेगा तथा जैसे उस शुद्ध आत्मा को अकस्मात् बंध से होना स्वीकारेंगे तो सिद्ध जीवों को भी अकस्मात् बंध होने की आपत्ति आएगी, जिससे सभी को सिद्ध में अविश्वास हो जाएगा अर्थात् सभी ऐसा विचारेंगे कि सिद्ध होने पर भी अकस्मात् बंध होने से जीव संसार में पुनः आ जाता है तो मोक्ष का उपक्रम करने से क्या फायदा! अतः सभी मोक्ष का पुरुषार्थ ही छोड़ देंगे।
अतः योग्यता और उससे होने वाले बंध को अनादि ही मानना चाहिए।

प्र. बंध तो कृतक होने के कारण उसे अनादि मानना कैसे उचित है?

उ. अतीतकालसाधर्म्यात् ⇒ भूतकाल की समानता से। अर्थात् जैसे ~~भूतकाल पक्ष~~ एक-एक क्षण व्यतीत हुई होती हुई भूतकाल बन जाती है किंतु फिर भी अतीतकाल को प्रवाह की अपेक्षा से देखो तो वह अनादि ही है, इसी तरह बंध व्यक्ति की अपेक्षा से शुरू होने से सादि है किंतु प्रवाह की अपेक्षा से वह अनादि है। इस तरह अतीत काल की समानता के द्वारा आगम से ही कर्मबंध को अनादि मानना।

* टीकाकार ने यहाँ कृतकत्व को लेकर शंका की फिर समाधान में अतीतकालसाधर्म्य बताया किंतु काल में कृतकत्व धर्म तो घटित नहीं होता। अतः यहाँ ऐसा ~~प्रश्न~~ समझ सकते हैं -

प्र. बंध तो हर समय होता है। अतः हर समय उसकी आदि है।

उ. अतीतकाल साधर्म्यात् ⇒ जैसे प्रत्येक क्षण व्यतीत होती है तब भूत भूतकाल रूप में आदि होती है किंतु प्रवाह की अपेक्षा से वह अनादि है, इसी तरह बंध भी व्यक्ति की अपेक्षा से आदिमान् है किंतु प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है।

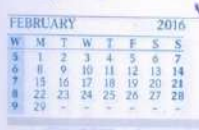

2016

प्र. अतीतकाल तो दृष्टान्त है। ~~xxx~~ दृष्टान्त विपक्ष में भी मिल सकता है। क्योंकि ग्रंथकार ने ही कहा है - दृष्टान्तमात्रं सर्वत्र पदेवं सुलभं क्षितौ। (योगदृष्टि समुच्चय गा. 95) अतः दृष्टान्त से बंध को कैसे अनादि मान लें?

उ. किन्त्वाद्यातो... ⇒ यह केवल आगमप्रमाण से ही अनादि सिद्ध हो सकता है। अल्पवत्त कुछ युक्तियाँ ऊपर दर्शाई है किंतु फिर भी यह आगमप्रमाण से अनादि है। तथा सभी दर्शनों के आगमप्रमाण से यह अनादि है, मात्र हमारे आगम से ही नहीं।

अब. संक्षेप से गा. 6 में महेशवादिमत का खंडन किया था। अब 'महेश के अनुग्रह से मोक्ष होता है' ऐसे महेशवादिमत का विस्तार से खंडन करते हुए कहते हैं -
(जीव की योग्यता को ही पुनः सिद्ध करते हैं।)

अनुग्रहोऽप्यनुग्राह्ययोग्यतापेक्ष एव तु।
नाणुः कदाचिदात्मा स्याद् देवतानुग्रहादपि ॥12॥

अनुग्रह भी अनुग्राह्य की योग्यता की अपेक्षा वाला ही है क्योंकि देवता के अनुग्रह से भी अणु कभी भी आत्मा नहीं बनता।

→ अनुग्रह = महेश द्वारा किया गया।
→ अपि = अनुग्रह को भी योग्यता की अपेक्षा है तो शेष क्रियाओं में तो अवश्य योग्यता चाहिए।
→ अनुग्राह्य = अनुग्रह का विषय ऐसा जीव।
→ अपि = देवता के अनुग्रह से भी अणु आत्मा नहीं होता तो अनुग्रह के अभाव में तो अवश्य नहीं हो सकता।

★ देवतानुग्रहादपि ⇒ जो कार्य देवता के अनुग्रह से भी नहीं होता, वह अनुग्रह बिना तो कदापि नहीं हो सकता। जैसे - किसी भव्य जीव का भव्यत्व के परिपाकादि बिना मोक्ष नहीं हो सकता। परिपाकादि के बाद उसकी योग्यता प्रगट

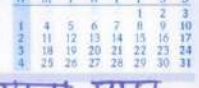

16 Saturday
JANUARY
Week 2 016-350

होने पर यदि देवता का अनुग्रह हो तो कार्य होता है किंतु योग्यता होने पर भी जब तक अनुग्रह नहीं होता, तब तक मोक्ष नहीं होता। जैसे कोई-कोई जीवों में भव्यत्व तो होता है किंतु अनुग्रहादि मोक्षमार्ग की सामग्री प्राप्त न होने के कारण अनेक जीव अनंत काल तक मोक्ष में नहीं जाते। अतः उन्हें जातिभव्य जीव कहा जाता है।

अब इसी अर्थ को बताते हैं -

कर्मणो योग्यतायां हि कर्ता तद्व्यपदेशभाक्।
नान्यथाऽतिप्रसङ्गेन लोकसिद्धमिदं ननु ॥13॥

कर्म की योग्यता होने पर ही कर्ता उसके कर्तृत्व के व्यपदेश का भागी होता है। अन्यथा अतिव्याप्ति दोष होने से व्यपदेश का भागी नहीं होता। यह तो लोक में भी सिद्ध है।

→ कर्म = क्रिया का विषय, सामान्य से मूँग वगैरह वस्तु।
→ लोकसिद्ध = बात, स्त्री आदि सभी को पता है।

कर्मणो... भाक् ⇒ कर्म अर्थात् क्रिया के विषय की योग्यता होती है तो कर्ता उस क्रिया को करने वाला कहा जाता है। जैसे - मूँग में पकने की योग्यता है, तो ही उसे पकाने वाला पाचक कहा जाएगा।
न... अतिप्रसङ्गेन ⇒ अन्यथा ~~अर्थात यदि~~ कर्म की योग्यता न होने पर ~~भी यदि कर्ता का व्यपदेश करे~~ करने से अतिव्याप्ति रूप दोष आ की प्राप्ति होने से कर्ता उसके व्यपदेश का भागी नहीं होता। यदि कर्म की योग्यता न होने पर भी उसके कर्ता का व्यपदेश करेंगे तो अतिव्याप्ति होगी। जैसे - कोई पानी से घर बनाने का प्रयत्न करता है तो उसे घर का कर्ता नहीं कहा जाएगा क्योंकि पानी से घर बनने की योग्यता ही नहीं है। यदि योग्यता न होने पर भी कर्ता का व्यपदेश स्वीकारेंगे तो पानी घर बनाने के प्रयत्न वाले को भी घर का कर्ता कहने की

FEBRUARY 2016
W M T W T F S S
5 1 2 3 4 5 6 7
6 8 9 10 11 12 13 14
7 15 16 17 18 19 20 21
8 22 23 24 25 26 27 28
9 29

*[कर्म की योग्यता न मानने पर होने वाली आपत्ति कहते हैं-]

रूप अतिव्याप्ति होगी।

लोक... ⇒ यह बात तो लोक में भी प्रसिद्ध है अर्थात् इस बात की सिद्धि के लिए अन्य कोई प्रमाण ढूँढने की आवश्यकता नहीं है। अतः अनुग्रह भी अनुग्राह्य की योग्यता की अपेक्षा रखता है।

अव. पुनः इसी अर्थ को आगे करके कहते हैं-

अन्यथा सर्वमेवैतदौपचारिकमेव हि।
प्राप्नोत्यशोभनं चैतत्तत्त्वतस्तदभावतः ॥15॥

अन्यथा यह सब औपचारिक ही प्राप्त होगा और यह (औपचारिक) तो अशोभन है क्योंकि परमार्थ से उसका अभाव है।

→ अन्यथा = स्वयं की योग्यता के बिना भी यदि कर्म के कर्ता का व्यपदेश किया जाए
→ सर्व = बाह्य और आभ्यंतर कार्य समूह।
→ औपचारिक = मात्र उपचार से, शाब्दिक, वास्तविक नहीं।

अन्यथा... हि प्राप्नोति ⇒ अन्यथा यदि कर्म की योग्यता के बिना भी कर्ता का व्यपदेश किया जाए तो सभी बाह्य और अभ्यंतर कार्य औपचारिक ही होंगे अर्थात् मात्र शाब्दिक होंगे, वास्तविक नहीं। जैसे - पकने की योग्यता रहित ऐसे कठोर मूँग को पकाने वाले को पाचक कहेंगे तो पाककार्य मात्र औपचारिक होगा क्योंकि वास्तविक पाक तो हुआ ही नहीं; उसने मात्र चुल्ली पर भाजन चढ़ा दिया इसलिए उसे कहने में 'पाचक' कह दिया किंतु पाक तो हुआ ही नहीं।
इसी तरह शौर्य-क्रौर्य गुण से माणवक को सिंह कहा, यह भी उपचार है। यह माणवक कभी पारमार्थिक सिंह जैसा कार्य नहीं कर सकता।
इसी तरह जीव की योग्यता बिना केवल महेश के अनुग्रह से मोक्ष स्वीकारोगे तो मोक्ष भी पारमार्थिक नहीं होगा, कल्पनामात्र होगा।

औपचारिक मोक्ष

Week 3 018-348 **18** Monday JANUARY

प्र. भले ही ऐसा होने दो, ऐसा मानने में क्या दोष है?

उ. अशोभनं ⇒ सभी कार्य को औपचारिक स्वीकारना अशोभन है अर्थात् सुंदर नहीं है क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से तो इस औपचारिक वस्तु का अभाव है।

अतः जीव में की योग्यता स्वीकारे बिना जीव के पारमार्थिक संसार-मोक्ष नहीं होंगे।

अब (इसी बात का सिद्ध करने के लिए आगे अन्य युक्ति कहते हैं -)

उपचारोऽपि च प्रायो लोके यन्मुख्यपूर्वकः।
दृष्टस्ततोऽप्यदः सर्वमित्थमेव व्यवस्थितम् ॥15॥

लोक में उपचार भी प्रायः मुख्यवस्तु पूर्वक ही देखा गया है। अतः इस कारण से भी यह सब (बंध, आत्मादि तत्त्व) इस प्रकार ही (हमारे द्वारा कही गई रीति से ही) व्यवस्थित है।

→ उपचार = उपचरितवस्तु का व्यवहार।
→ प्रायः = बहुलता से।
→ मुख्यपूर्वक = निरुपचरित वस्तु के व्यवहार की अपेक्षा वाला।
→ उपचारोऽपि में अपि = उपचार भी मुख्य पूर्वक होता है तो मुख्य वस्तु तो सुतरां मुख्य पूर्वक होती है।
→ अपि = इस युक्ति से भी जीव की योग्यता सिद्ध होती है तो पूर्वोक्त ~~अन्य~~ युक्ति से तो अवश्य सिद्ध होती है।
→ सर्वं अदः = आत्मा, कर्मबंधादि तत्त्व।
→ इत्थं = हमने जो व्यवस्था बताई है, उसी प्रकार।
→ व्यवस्थित = लोक में रहे हुए हैं।

उपचारः ... दृष्टः ⇒ लोक में उपचार भी मुख्य पूर्वक ही देखा जाता है अर्थात् मुख्यवस्तु जगत् में कहीं प्रसिद्ध हो तब ही उसका उपचार किया जाता है। जैसे- प्राणवंत में सिंह का उपचार किया जाता है। जगत् में सिंह प्रसिद्ध है इसलिए उसके शौर्य-क्रौर्य

FEBRUARY 2016
W M T W T F S S
5 1 2 3 4 5 6 7
6 8 9 10 11 12 13 14
7 15 16 17 18 19 20 21
8 22 23 24 25 26 27 28
9 29 - - - - - -

2016

गुणों को लेकर माणवक में सिंह का उपचार किया जाता है। गा.14 में पूर्वपक्ष ने कहा कि यदि मोक्ष को औपचारिक मान लो तो क्या आपत्ति है? उसी का उत्तर यहाँ देते हैं कि उपचार भी मुख्य पूर्वक ही होता है। आप "महेश के अनुग्रह से औपचारिक मोक्ष स्वीकारते हो तो उससे पहले आपको महेश के अनुग्रह बिना अनुपचरित मोक्ष मानना पड़ेगा। ऐसा अनुपचरित मोक्ष कहीं किसी का ~~होता~~ है मानने पर ही औपचारिक मोक्ष स्वीकार सकते हो। मुख्य मोक्ष के बिना औपचारिक मोक्ष नहीं मान सकते। अतः अनुग्रह के बिना भी मोक्ष होता है, ऐसा सिद्ध होता है। और यह मोक्ष जीव की योग्यता से ही होता है। ~~अतः यह सिद्ध~~

ततो ~. व्यवस्थितम् ⇒ ~~अतः~~ औपचारिक मोक्ष मानने पर भी हमारा मुख्य मोक्ष तो सिद्ध हो ही जाता है। अतः संसार-मोक्ष-बंधादि सभी तत्त्व जिस प्रकार हमने कहे हैं, उसी प्रकार जगत में व्यवस्थित हैं।

पू. यहाँ सूत्र में आपने प्रायः शब्द का ग्रहण क्यों किया है? यदि उपचार लोक में मुख्यपूर्वक सर्वथा नहीं होता, प्रायः ही होता है तो हमारा औपचारिक मोक्ष भी मुख्य के बिना ही स्वीकार सकते हैं।

उ. प्रायः ⇒ प्रायः शब्द का ग्रहण कहीं-कहीं होने वाले व्यभिचार को बताने के लिए किया है। लोक में उपचार हमेशा मुख्यपूर्वक ही होता है किंतु कहीं-कहीं मुख्य के बिना ही उपचार होता है। जैसे- मेरु को मंथान बनाकर देवों द्वारा समुद्र का मंथन किया गया। ऐसे अत्यंत असंबद्ध लोकव्यवहार मुख्य वस्तु पूर्वक नहीं होते किंतु मिथ्या विकल्पों के संस्कार के प्रकोप पूर्वक होते हैं। अतः आपको औपचारिक मोक्ष मानने के लिए दो ही विकल्प हैं-

1. यदि मुख्य मोक्ष पूर्वक मानो। उ. लोकव्यवहार
2. यदि मोक्ष को अत्यंत ~~असंबद्ध~~ संबद्ध मानो।

दूसरा विकल्प तो स्वीकारना योग्य नहीं है। अतः पहला विकल्प स्वीकारने पर हमारा मुख्य मोक्ष सिद्ध हो जाएगा।

20 Wednesday
JANUARY
Week 3 020-346

★ ~~अर्थात्~~ → 9. जैन दर्शन तो मुख्य मोक्ष ही स्वीकारता है, औपचारिक नहीं। ~~अतः~~ यहाँ तो ग्रंथकार ने औपचारिक मोक्ष भी स्वीकार लिया।
उ. जैन दर्शन औपचारिक मोक्ष नहीं मानता लेकिन महेशवादिमत को आपत्ति देने के लिए यहाँ अभ्युपगम वाद से उसका स्वीकार किया है। अर्थात् महेशवादि मत वाले ने जिस औपचारिक मोक्ष को मानते हैं, उसे स्वीकारने पर कैसी आपत्ति होगी, यह दर्शाने के लिए 'औपचारिक मोक्ष है' ऐसा मानकर उसे आपत्ति दी है।

★ इस गाथा के पूर्वार्ध का अन्य ~~संदर्भ~~ संदर्भ में भी अर्थ कर सकते हैं – उपचार = व्यवहार, मुख्य = निश्चय। व्यवहार हमेशा निश्चय पूर्वक ही होता है। यदि जीव में निश्चय सम्यग्दर्शन है, तब ही उसे बाहर से तत्त्वश्रद्धा आदि व्यवहार सम्यक्त्व होता है। निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना व्यवहार सम्यग्दर्शन भी नहीं होता, मात्र व्यवहाराभास होता है। इसी प्रकार जीव निश्चय से देशविरति में होने पर ही ~~व्यवहार~~ उसकी बाह्य क्रिया को व्यवहार कहा जाता है, अन्यथा मात्र व्यवहाराभास होता है।

अब. अब कहे हुए ग्रंथ के भावार्थ को प्रगट करने के लिए कहते हैं:-

ऐदम्पर्यं तु विज्ञेयं सर्वस्यैवास्य भावतः।
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे योगमार्गस्य सम्भवः ॥16॥

इस पूरी चर्चा का ऐदम्पर्यार्थ, तात्पर्य तो यह जानना चाहिए कि परमार्थ से तत्त्व इसी प्रकार व्यवस्थित होने पर योगमार्ग संभवित है।

→ सर्वस्य अस्य = ऊपर कहे गए गा. 6 से 15 तक के ग्रंथ का।
→ भावतः = परमार्थ से, वास्तविक।
→ एवं व्यवस्थिते तत्त्वे = ~~स~~ जैसे हमने कहा है, उसी प्रकार तत्त्व (जीव की योग्यता, कर्मबंध आदि) रहने पर, मानने पर।

इस पूरी चर्चा का भावार्थ यह है कि ~~है~~ आत्मा की योग्यता से संसार-मोक्ष, कर्म रूप अन्य द्रव्य का संयोग, आत्मा-योग्यता-संयोग

2016

तीनों अनादि हैं, इत्यादि तत्त्व हमने जिस प्रकार युक्ति से सिद्ध किए हैं, उसी प्रकार स्वीकारने पर ही योगमार्ग संभवित होगा। अन्यथा योगमार्ग संभव नहीं होगा क्योंकि ① महेशानुग्रह से मोक्ष मानने पर योग की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जब महेश प्रसन्न होगा तभी मोक्ष होगा, अतः पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है। ② यदि कर्म न मानो, मात्र पुरुषाद्वैत मानो तो आत्मा शुद्ध ही होने से संसार-मोक्ष की उपपत्ति ही नहीं होगी। /अशुद्ध

अब. कैसे? – (इन तत्त्वों को इस प्रकार मान लेने पर योगमार्ग संभव कैसे है?)

पुरुषः क्षेत्रविज्ज्ञानमिति नाम यदात्मनः।
अविद्या प्रकृतिः कर्म तदन्यस्य तु भेदतः ॥17॥

आत्मा के पुरुष, क्षेत्रविद्, ज्ञान तथा उसे अन्य द्रव्य के अविद्या, प्रकृति, कर्म नाम हैं।

इन तत्त्वों के अलग-अलग दर्शन में अलग-अलग नाम हैं किंतु अर्थ एक ही है। उन्हीं नामों को दर्शाते हैं –
जैन और वेदान्तिक आत्मा को पुरुष सांख्य क्षेत्रविद् और बौद्ध ज्ञान कहते हैं। आत्मा से भिन्न सत्व को बौद्ध और वेदान्तिक अविद्या, सांख्य प्रकृति तथा जैन कर्म कहते हैं।

भ्रान्तिप्रवृत्तिबन्धास्तु संयोगस्येति कीर्तितम्।
शास्ता वन्द्योऽविकारी च तथानुग्राहकस्य तु ॥18॥

संयोग के भ्रान्ति, प्रवृत्ति, बंध नाम कहे गए हैं। तथा अनुग्रह करने वाले के शास्ता, वंद्य और अविकारी नाम हैं।

कर्म के संयोग को वेदान्तिक और बौद्ध भ्रान्ति, सांख्य प्रवृत्ति तथा जैन बंध कहते हैं। अनुग्रह करने वाले को जैन शास्ता, बौद्ध वन्द्य और शैव भागवत अविकारी कहते

22 Friday JANUARY

Week 3 022-344

कही गई हैं।

हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि योगमार्ग में जैन मत में आत्मा, योग-उपयोगादि जितनी वस्तु कही गई हैं, उतनी ही वस्तु अन्य दर्शनों में भी कही गई हैं किंतु भिन्न-भिन्न नाम से। नामभेद बाधक नहीं है क्योंकि एक वस्तु के अनेक नाम संभव हैं। परिणामी आत्मा में स्वयं की योग्यता से ही संयोग-वियोग होते हैं, ऐसा स्वीकारने पर ही सभी दर्शन में कहा गया योग घटित होता है। अतः सभी को यह स्वीकारना चाहिए।

अब. इससे क्या सिद्ध हुआ? -

सांकल्यस्यास्य विज्ञेया परिपाकादिभावतः।
औचित्याबाधया सम्यग्योगसिद्धिस्तथा तथा ॥19॥

इन सबकी परिपाकादि भाव से औचित्य की अबाधा द्वारा सम्यग् योगसिद्धि उस-उस रूप से (आराधना से) होती है।

→ इन सब = आत्मा, संयोगादि भावों की। ~~सभी~~ ~~शब्द~~ से
→ परिपाकादिभावतः = भव्यत्व के पाक रूप भाव। आदिशब्द से संयोग का ह्रास, शास्ता का अनुग्रह का ग्रहण करना।
→ औचित्य की अबाधा = योग्य प्रवृत्ति रूप।
→ सम्यग्योगसिद्धि = अनुपचरित योग की निष्पत्ति।
→ तथा तथा = अपुनर्बन्धकादि अनुष्ठान की आराधना ~~सब~~ से।

इन सब आत्मादि भावों के परिपाकादि होने से औचित्य की अबाधा के द्वारा सम्यग् योगसिद्धि होती है। दर्शन-ज्ञान का अंतर्भाव यहाँ परिपाकादि में किया है तथा औचित्य की अबाधा से यहाँ चारित्र का ग्रहण किया है। अतः आत्मा के भव्यत्व के परिपाक, संयोग के ह्रास तथा शास्ता के अनुग्रह से औचित्य की अबाधा होती है। उससे अपुनर्बंधकादि की आराधना होती है, फिर अनुपचारित योग की निष्पत्ति होती है।

FEBRUARY 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
5	1	2	3	4	5	6	7
6	8	9	10	11	12	13	14
7	15	16	17	18	19	20	21
8	22	23	24	25	26	27	28
9	29						

2016

यहाँ अस्य के संबंध का अन्वय परिपाकादि में करना, योगसिद्धि में नहीं।

अब. तथा -

एकान्ते सति तद्-यत्नस्तथाऽसति च यद् वृथा।
तत्तथायोग्यतायां तु तद्भावेनैव सार्थकः ॥20॥

आत्मादि भाव एकांत सत् तथा एकांत असत् होने पर इस योग का प्रयत्न व्यर्थ होता है। तथायोग्यता होने पर आत्मा के भाव (परिणाम) से यह योग सार्थक है।

परमार्थ की विचारणा से आत्मादि द्रव्य स्वरूप से सत् हैं तथा पररूप से असत् है। यदि आत्मा को एकांत से सत् मानो या एकांत से असत् मानो तो इस योग का प्रयत्न व्यर्थ होता, निरर्थक होगा।
एकांत से सत् मानना यानि आत्मा को सभी प्रकार से सत् मानना अर्थात् आत्मा स्वरूप से भी सत् है और पररूप से भी सत् है। इस प्रकार यदि आत्मा पररूप से भी सत् होगा तो आत्मा में पररूप का प्रवेश होगा। इस पररूप प्रवेश से आत्मा के स्वरूप की व्याहति होगी अर्थात् उसका स्वरूप नष्ट हो जाएगा। स्वरूप ही नष्ट होने से योगाभ्यास निरर्थक होगा। कोई योगी योग का अभ्यास करता है और यदि वह पररूप से भी सत् है तो उसमें अयोगी आत्मा का स्वरूप भी प्रविष्ट होगा। अतः उसका योगाभ्यास निरर्थक हो जाएगा क्योंकि अन्य ~~क~~ अयोगी का अयोग भी उसमें प्रविष्ट हुआ, अतः उसके अयोग से योगी का योग भी नष्ट हो जाएगा।
एकान्त से असत् मानना यानि आत्मा को सभी प्रकार से असत् मानना अर्थात् आत्मा स्वरूप से भी असत् है, और पररूप से भी असत् है। यदि आत्मा स्वरूप से भी असत् है तो असत्त्व आत्मा का कुछ स्वरूप ही नहीं है। आत्मा का स्वरूप ही न होने से कौन योगाभ्यास वाला होगा और उसके फल को प्राप्त करने वाला भी कौन होगा? क्योंकि आत्मा तो है ही नहीं। जैसे - खरविषाण असत् हैं तो वे कुछ प्रवृत्ति नहीं करते अथवा कुछ फल भी प्राप्त नहीं करते। इस प्रकार आत्मा

24 Sunday
JANUARY
Week 3 024-342

को एकांत सत् या एकांत असत् मानने पर योग का प्रयत्न निरर्थक होगा।
अतः योग का ~~प्रय~~ प्रयत्न निरर्थक कैसे नहीं होता, वह कहते हैं- आत्मा को ~~परिणामी नित्य~~ स्वरूप से सत् और पररूप से असत् मानने पर ही योग का प्रयत्न सार्थक होगा। स्वरूप से सत् और पररूप से असत् पने की योग्यता होने पर ही आत्मा का फलरूप में परिणाम होने से यह योग सार्थक होता है।
इस प्रकार आत्मा परिणामी, स्वरूप से सत् और पररूप से असत् मानना चाहिए।

★ गा. के उत्तरार्ध में रहे 'एष' पद से टीकाकार ने 'योग' का ग्रहण किया है किंतु पूर्वार्ध च से 'यत्न' का ग्रहण कर सकते हैं। श्लोकार्ध
★ किसी भी दर्शन के पदार्थों का खंडन नहीं हो सकता, मात्र उसकी एकांत मान्यता का ही खंडन हो सकता है। क्योंकि अन्य सभी पदार्थों के ~~खंडन~~ प्रश्नों के जवाब हर दर्शन कुछ-न-कुछ दे ही देगा। अतः ग्रंथकार ने भी किसी दर्शन का खंडन नहीं किया। ~~पहले~~ जीव की योग्यता की सिद्धि, महेश्वरादिमत, एकांत सत् या असत् पक्ष, सभी जगह उन्होंने मात्र एकांत का ही खंडन किया है।

अव. इस प्रकार आत्मा को नित्यानित्य और सदसत् रूप सिद्ध करने पर अन्य भी जो सिद्ध होता है, वह कहते हैं-

दैवं पुरुषकारश्च तुल्यावेतदपि स्फुटम्।
युज्यते एवमेवेति वक्ष्याम्यूर्ध्वमदोऽपि हि ॥21॥

'कर्म और पुरुषार्थ तुल्य हैं' यह बात भी इस तरह ही स्पष्ट रूप से घटेगी। यह बात मैं आगे भी कहूँगा।

FEBRUARY 2016
W M T W T F S S
5 1 2 3 4 5 6 7
6 8 9 10 11 12 13 14
7 15 16 17 18 19 20 21
8 22 23 24 25 26 27 28
9 29

→ दैव = पूर्वकृत कर्म।
→ पुरुषकार = पुरुष का व्यापार।
→ एतद् = कर्म और पुरुषार्थ का तुल्यत्व।

2016

→ एवमेव = इसी प्रकार अर्थात् अनेकांत मानने पर ही।
→ ऊर्ध्व = गा. 318 से 337 तक।

दैव... तुल्यौ ⇒ किसी भी पुरुषार्थ की सिद्धि में अर्थात् किसी भी कार्य की पूर्णाहुति में पूर्वकृत कर्म और पुरुष का प्रयत्न दोनों तुल्य हैं अर्थात् दोनों समान सामर्थ्य वाले हैं, ऐसी बात अन्य शास्त्रों में गाई जाती है।
ऐतत्... इति ⇒ यह बात भी इस तरह ही अर्थात् अनेकांत मानने पर ही घटेगी, एकांत मानने पर नहीं। यदि आत्मा को एकांत सत् मानो तो पररूप के प्रवेश से उसका स्वरूप नष्ट हो जाएगा, स्वरूप नष्ट होने पर पुरुषार्थ घटित नहीं होगा, इस तरह पुरुषार्थ कर्म के तुल्य नहीं होगा।
यदि एकांत असत् मानो तो पुरुष ही नहीं होगा, पुरुषार्थ भी नहीं होगा। अतः तुल्यत्व नहीं घटेगा।
यदि एकांत से महेशानुग्रह से मोक्ष मानो तो पुरुषार्थ निरर्थक हो जाएगा अथवा महेश के आधीन होगा। अतः तुल्यत्व घटित नहीं होगा।
पुरुषाद्वैत मत में मात्र पुरुष ही होने से, कर्म न होने से दोनों का तुल्यत्व घट नहीं सकता।
इस प्रकार सभी एकांतवादि मत में यह तुल्यत्व घटित नहीं होगा। अनेकांत मानने पर ही तुल्यत्व घटेगा।
वक्ष्यामि ⇒ इसी व तुल्यत्व को मैं आगे गा. 318 से 337 तक विस्तार से कहूँगा।

प्रश्न. पू. गोचरादि की शुद्धि से योग की गवेषणा क्यों करना चाहिए? —
(★ पू. वे कपिल-सुगतादि भी आप्तपुरुष होने से उनके वचन श्रद्धा से स्वीकारना चाहिए। उ. —
यहाँ ऐसी अवतरणिका होना चाहिए क्योंकि ग्रंथकार गा. 22-23 दोनों में अनेकांतता की ही सिद्धि कर रहे हैं।)

JANUARY 2016
W M T W T F S S
1 2 3
1 4 5 6 7 8 9 10
2 11 12 13 14 15 16 17
3 18 19 20 21 22 23 24
4 25 26 27 28 29 30 31
2016

अनुसंधान 68?

26 Tuesday
JANUARY

Week 4 026-340

लोकशास्त्राऽविरोधेन यद् योगो योग्यतां व्रजेत् ।
श्रद्धामात्रैकगम्यस्तु हन्त नेष्टो विपश्चिताम् ॥22॥

योग लोक और शास्त्र से अविरोध द्वारा योग्यता को पाता है। मात्र श्रद्धा से गम्य योग बुद्धिमान पुरुषों को इष्ट नहीं है।

लोक... व्रजेत् ⇒ योग लोक और शास्त्र से अविरोध पूर्वक ही योग्यता को प्राप्त करता है अर्थात् योग यदि लोक और शास्त्र से अविरोधी है तो ही वह फल को प्राप्त कराने वाला होता है। यदि विरोधी है तो तात्त्विक फल का प्रापक नहीं होता। एकान्त से नित्य या अनित्य आत्मा में योग घटता नहीं है क्योंकि लोक और शास्त्र में योग आत्मा की अन्य अवस्था रूप में स्पष्ट प्रतीत होता है अर्थात् योग से आत्मा का मोक्ष होता है, तब आत्मा की अवस्था बदलती है, ऐसा लोक और शास्त्र दोनों में प्रसिद्ध है। अतः योग एकांत नित्य या अनित्य आत्मा मानने पर नहीं घट सकता क्योंकि नित्य हमेशा एकरूप होने से उसकी अवस्थान्तर नहीं स्वीकार सकते और अनित्य क्षण में ही क्षय होने के स्वभाव वाला होने से उसका भी अवस्थान्तर नहीं स्वीकार सकते। अतः योग की गोचरादि शुद्धि की गवेषणा करना चाहिए।

प्र. गोचरादि की शुद्धि न होने पर भी कपित्थादि के द्वारा निरूपित क्या किया जाता योग ~~उपलब्ध~~ उपलब्ध है -

उ. श्रद्धा... ⇒ वह योग मात्र श्रद्धा से गम्य है। ऐसा योग बुद्धिमानों का इष्ट नहीं है। वह योग पूर्वापर विमर्श से रहित है इसलिए मात्र श्रद्धा से गम्य है तथा स्वयं के दर्शन के पक्षपात से रचा गया है। इसलिए वह बुद्धिमान पुरुषों को इष्ट नहीं है क्योंकि बुद्धिमान पुरुष कष-छेद-ताप से शुद्ध वस्तु की ही श्रद्धा करते हैं।

FEBRUARY 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
5	1	2	3	4	5	6	7
6	8	9	10	11	12	13	14
7	15	16	17	18	19	20	21
8	22	23	24	25	26	27	28
9	29						

★ (Bracket वाली अवतरणिका के अनुसार इसका अर्थ -)
गाथार्थ same। भावार्थ - योग यदि लोक और शास्त्र से अविरोधी है तो ही वह तात्त्विक फल देने की योग्यता को प्राप्त करता

2016

है। लोक और शास्त्र दोनों से आत्मा की अवस्थान्तर प्रतीत होती है इसलिए नित्य या अनित्य आत्मा में योग घटित नहीं होगा। अतः ~~श्री~~ मात्र श्रद्धा गम्य ~~वचन~~ योग बुद्धिमान पुरुषों को इष्ट नहीं है। अतः योग को श्रद्धा से नहीं स्वीकारना चाहिए, लोक और शास्त्र का विरोध न हो ऐसी युक्ति से विचारणा करना चाहिए।

अब. ★ 'परलोकविधौ मानं वचनं' ऐसा पाठ होने से यह सिद्ध होता है कि वचन से ही इसकी (योग की) सिद्धि होती है। अतः कपिल-सुगतादि के वचन भी स्वीकारना चाहिए। ? उ.-

वचनादस्य संसिद्धिरेतदप्येवमेव हि।
दृष्टेष्टाबाधितं तस्मादेतन्मृग्यं हितैषिणा ॥23॥

वचन से इस योग की सिद्धि होती है। यह वचन भी इस प्रकार ही से योग्यता को प्राप्त करता है (गा. 22 के साथ से अध्याहार)। अतः हितैषी जीव को दृष्ट और इष्ट से अबाधित ऐसे वचन की गवेषणा करना चाहिए।

→ एतद् = वचन
→ एवमेव = अनेकांत मानने पर ही।
→ दृष्ट-इष्ट अबाधित = ~~दृष्ट इष्ट~~ आगे की गाथा में दृष्ट-इष्ट का स्वरूप कहा जाएगा, उनसे अबाधित।

वचनाद् संसिद्धि ⇒ वचन से ~~इस~~ अर्थात् आगम से इस योग की सिद्धि अर्थात् प्रतीति होती है, अन्य प्रकार से नहीं; क्योंकि 'परलोकविधौ मानं वचनं' ऐसा वचन है। किंतु-

एतद् ... हि ⇒ यह वचन भी इस प्रकार अर्थात् अनेकांत मानने पर ही घटित होता है, परिणामी नित्य आत्मा में ही घटित होगा क्योंकि वचन की प्रवृत्ति भाषक में परिणामान्तर संभव होने पर ही घटती है। यदि एकांत नित्य ~~इस~~ भाषक हो तो वह सदा एक ही वचन बोलते रहना चाहिए, अलग-अलग वचन नहीं बोलना चाहिए। यदि एकांत अनित्य हो तो वह वचन

28 Thursday
JANUARY
Week 4 028-338

बोल ही नहीं सकता क्योंकि बोलने के लिए सोचेगा उससे पहले ही क्षण बदलने से नष्ट हो जाएगा। अतः वचन की प्रवृत्ति परिणामी नित्य भाषक में ही घटेगी।
दृष्ट... ⇒ वचन से ही योग की प्रतीति होने के कारण हित के इच्छुक जीव को दृष्ट और इष्ट से अबाधित ऐसे वचन की गवेषणा करना चाहिए।

★ गा. के द्वितीय पद में गा. 22 से 'योग्यतां व्रजेत्' अध्याहार लेना है।
★ गा. 22 में कहा कि योग को मात्र श्रद्धा से नहीं स्वीकारना चाहिए। यहाँ पूर्वपक्ष पुनः आपत्ति देता है कि 'परलोकविधौ मानं वचनं' आपके ही शास्त्र का वचन है। अतः इसे स्वीकारना पड़ेगा। तो इस आपत्ति का उत्तर ग्रंथकार इस गा. 23 में देते हैं कि वचन से ही इस योग की प्रतीति होती है किंतु वचन भी अनेकांत होने पर ही घटित होता है तथा कपिल-सुगतादि के वचन दृष्ट-इष्ट से बाधित भी हैं। अतः हितेच्छु जीव को दृष्ट-इष्ट से बाधित वचन ढूँढकर उसे श्रद्धा से स्वीकारना चाहिए किंतु कोई भी वचन श्रद्धा से नहीं मानना चाहिए।
★ ~~संक्षेप में गा. 21 के साथ~~
★ गा. 22 में रहे 'यद्' पद का अर्थ 'यस्मात्' है, उसका अन्वय गा. 23 के 'तस्मात्' पद के साथ करना। अतः गा. 22-23 युग्म है।
★ संक्षेप में गा. 21 के साथ गा. 22-23 का संबंध बताकर दोनों गाथा का अर्थ स्पष्ट करते हैं-
गा. 21 में कहा कि 'कर्म और पुरुषार्थ तुल्य हैं' ऐसा शास्त्र वचन भी अनेकांत मानने पर ही घटित होगा, तब पूर्वपक्ष आपत्ति देता है कि 'परलोक विधि में वचन/आगम ही प्रमाण हैं' ऐसा वचन होने से कपिलादि के एकांतवादि वचन भी स्वीकारना चाहिए। ऐसी आपत्ति का उत्तर ~~ग्रंथकार~~ गा. 22-23 में देते हुए ग्रंथकार 'हितेच्छु जीव को क्या करना चाहिए' यह भी गुंथकार बताते हैं कि जिस कारण से (यद्)

FEBRUARY 2016
W M T W T F S S
5 1 2 3 4 5 6 7
6 8 9 10 11 12 13 14
7 15 16 17 18 19 20 21
8 22 23 24 25 26 27 28
9 29 - - - - - -

2016

तो अन्य अनुमानादि प्रमाणों से प्राप्त अर्थ की क्या बात करना? वह तो अवश्य ^विरोधी ही होगा। अतः

1. योग लोक और शास्त्र के अविरोध से ही योग्यता को पाता है।
2. विद्वानों को मात्र श्रद्धा गम्य योग इष्ट नहीं है।
3. वचन से योग की प्रतीति होती है किंतु वचन भी अनेकांत होने पर ही घटित होता है, एकांत में नहीं। इस कारण से (तस्माद्) हितैषी को दृष्ट-इष्ट से अबाधित वचन ही ढूँढना चाहिए।

अब. प्र. ऐसे वचन की गवेषणा किसलिए करना चाहिए? –

दृष्टबाधेव यत्रास्ति ततोऽदृष्टप्रवर्तनम्।
असच्छ्रद्धाभिभूतानां केवलं ध्यान्ध्यसूचकम् ॥२५॥

जिस शास्त्र में दृष्ट की बाधा ही है, उस शास्त्र अनुसार अदृष्ट में प्रवर्तन करना मात्र असत् श्रद्धा से अभिभूत जीवों की बुद्धि की अंधता का सूचक है।

→ दृष्ट = प्रत्यक्ष से उपलब्ध ऐसे द्रव्यरूप में अवस्थित आत्मादि अर्थ के परिणाम से। बाधा = विरोध।
→ एव = अन्यप्रमाण से उपलब्ध अर्थ की तो क्या बात! करना?
→ यत्र = जिस शास्त्र में।
→ अदृष्ट = अदृष्ट फल के विषय वाले यम-नियमादि अनुष्ठान में।
प्रवर्तन = प्रवृत्ति।
→ असच्छ्रद्धाभिभूत = असुंदर ऐसा श्रद्धा = रुचि से अभिभूत, विह्वल किए गए जीवों की।

~~जिस~~ जिस शास्त्र में प्रत्यक्ष प्रमाण से उपलब्ध ऐसे अर्थ का भी विरोध है, ^उस शास्त्र के अनुसार अदृष्ट फल वाले अनुष्ठान में प्रवृत्ति करना असत् श्रद्धा से अभिभूत जीवों की बुद्धि की अंधता का सूचक है। जैसे धतूरा भक्षण करने वाले को ईंट के टुकड़े में सुवर्ण की श्रद्धा होती है किंतु यह उसकी भ्रान्ति है, इससे कुछ इष्ट फल प्राप्त नहीं होता; वैसे ही असत् श्रद्धा वाले जीव को दृष्टबाधा वाले शास्त्रानुसार प्रवर्तन में

30 Saturday
JANUARY
Week 4 030-336

कुछ फल प्राप्त नहीं होता। अतः दृष्ट-अबाधित वचन की गवेषणा करना चाहिए।

अब. तो किस प्रकार के वचन से सफल प्रवृत्ति होती है? उ.-

प्रत्यक्षेणानुमानेन यदुक्तोऽर्थो न बाध्यते।
दृष्टोऽदृष्टेऽपि युक्ता स्यात्प्रवृत्तिस्तत एव तु ॥25॥

जिस शास्त्र में [प्रत्यक्ष और अनुमान से] ~~कहा गया~~ दृष्ट अर्थ, बाधित नहीं है, उसी शास्त्रानुसार अदृष्ट अर्थ में भी प्रवृत्ति युक्त/योग्य होती है।

→ यदुक्त = जिस शास्त्र में कहा गया।
→ दृष्ट अर्थ = स्वयं के अनुभव से सिद्ध ऐसे आत्मादि अर्थ।
→ बाधित नहीं होते = विरोधी नहीं होते।
→ अदृष्ट = स्वर्ग-मोक्षादि अर्थ।
→ अपि = अदृष्ट में भी उस शास्त्रानुसार प्रवृत्ति करना चाहिए तो दृष्ट अर्थ में तो सुतरां उसी शास्त्र से प्रवर्तन करना चाहिए।
→ प्रवृत्ति = हान-उपादान रूप।
→ तत = उसी शास्त्र से, अन्य शास्त्र से नहीं।

प्रत्यक्ष और अनुमान से

जिस शास्त्र में कहा गया दृष्ट अर्थ अर्थात् स्वयं के अनुभव से सिद्ध अर्थ विरोधी नहीं है, उसी शास्त्र से अदृष्ट अर्थ में भी प्रवृत्ति करना उचित है अर्थात् अदृष्ट अर्थ में किस तत्त्व को हेय-उपादेय जानना इत्यादि प्रवृत्ति उसी शास्त्रानुसार करना उचित है, अन्य शास्त्र से नहीं क्योंकि ठगने वाले वचन महा अनर्थ के हेतु होते हैं अर्थात् किसी ठग के वचन में फँसकर प्रवृत्ति करने पर तो महा अनर्थ होता है।

FEBRUARY 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
5	1	2	3	4	5	6	7
6	8	9	10	11	12	13	14
7	15	16	17	18	19	20	21
8	22	23	24	25	26	27	28
9	29	-	-	-	-	-	-

** गा. 24-5 दोनों में दृष्ट अर्थ टीकाकार ने आत्म या आत्मा का परिणाम लिया है।

2016

31 Sunday
JANUARY
031-335 Week 4

अब. विपक्ष में होने वाली बाधा को कहते हैं-
(~~यदि~~ दृष्टबाधा वाले वचनानुसार प्रवृत्ति करने पर होने वाली बाधा को कहते हैं-)

अतोऽन्यथाप्रवृत्तौ तु स्यात्साधुत्वाद्यनिश्चितम् ।
वस्तुतत्त्वस्य हन्तैवं सर्वमेवासमञ्जसम् ॥26॥

इस वचन से अन्यथा प्रवृत्ति करने पर (वस्तुतत्त्व का साधुत्वादि अनिश्चितम् हो जाएगा। ऐसा होने पर सब ही असमंजस हो जाएगा।

→ वस्तुतत्त्व = आत्मादि रूप।
→ सर्व = इहलोक-परलोक की व्यवस्था।

अत... वस्तुतत्त्वस्य ⇒ सम्यग् अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र से अन्य शास्त्रानुसार प्रवृत्ति करने पर आत्मादि वस्तुतत्त्व का साधुत्व और असाधुत्व अनिश्चित हो जाएगा अर्थात् हमारी प्रवृत्ति सही तत्त्व में हो रही है या नहीं, कुछ पता नहीं चलेगा क्योंकि वस्तुतत्त्व का निश्चय परिशुद्ध वचन से होता है और वह धर्मार्थी स्वयं की इच्छानुसार वचन में प्रवृत्ति करता है।

हन्त... ⇒ यदि ऐसे साधुत्व-असाधुत्व अनिश्चित होगा तो वस्तुतत्त्व के अनिश्चयपूर्वक से प्रवृत्ति करते हुये से ऐहिक और ~~अ~~ पारलौकिक, दोनों ही अर्थ/व्यवस्था असमंजस अर्थात् असंगत हो जाएँगे। क्योंकि तत्त्व के अनिश्चय से व्यवहार करने वाले कुछ कृत्य को प्राप्त नहीं करते किंतु ~~इनकी प्रवृत्ति~~ अनर्थ को ही पाते हैं।

★ 'अतः अन्यथाप्रवृत्तौ' पदों का अर्थ टीकाकार ने 'सम्यग् वचन से अन्य वचनानुसार प्रवृत्ति करना' किया है। किंतु ऐसा अर्थ भी हो सकता है - सम्यगर्थ वाले शास्त्र से अन्य रीति से इच्छानुसार प्रवृत्ति करना, उसमें अन्य वचन का आलंबन ~~ले~~ न ले। ऐसी इच्छानुसार प्रवृत्ति करने से वस्तुतत्त्व का साधुत्व-असाधुत्व अनिश्चित हो जाएगा।

2016
JANUARY 2016
W M T W T F S S
1 2 3
1 4 5 6 7 8 9 10
2 11 12 13 14 15 16 17
3 18 19 20 21 22 23 24
4 25 26 27 28 29 30 31

अव. तो वस्तुव्यवस्था कैसी होना चाहिए, जिससे प्रवृत्त होने वाला पुरुष फल से ~~क्षा~~ वंचित न हो ? उ. –

तद्दृष्टाद्यनुसारेण वस्तुतत्त्वाद्यपेक्षया।
तथा तथोक्तिभेदेऽपि साध्वी तत्त्वव्यवस्थितिः ॥27॥

दृष्टादि के अनुसार वस्तुतत्त्व के आश्रय से उस-उस प्रकार से उक्ति-भेद होने पर भी तत्त्व की व्यवस्था बराबर होती है अर्थात् घटित होती है।

→ दृष्टादि-अनुसार = दृष्ट यानि प्रत्यक्ष से उपलब्ध अर्थ, आदिशब्द से वैसी अन्यथा-अनुपपत्ति होने से अनुमान से उपलब्ध आत्मादि अर्थ के अनुसार।
→ वस्तुतत्त्वाद्यपेक्षा = वस्तुतत्त्व यानि परिणामित्वादि वस्तु का स्वभाव, उसका आश्रय करने से।
→ तथा तथोक्तिभेदे = उस-उस प्रकार से भिन्न दर्शनों में भिन्न शब्द होने पर भी
→ अपि = उक्तिभेद होने पर भी तत्त्वव्यवस्था घटित होगी तो जहाँ उक्तिभेद नहीं है, वहाँ तो अवश्य घटेगी।
→ साध्वी = अविरुद्धा, विरोध रहित।
→ तत्त्वव्यवस्थिति = जीवादि तत्त्व की व्यवस्था।

दृष्ट अर्थ और अनुमित अर्थ के अनुसार वस्तु के परिणामित्वादि स्वभाव का आश्रय करना चाहिए अर्थात् वस्तु के परिणामी नित्य स्वभाव को स्वीकारना चाहिए। ऐसे स्वीकार करने पर ही तत्त्व की व्यवस्था विरोधरहित होगी अर्थात् जगत् में जैसी होती है, वैसी ही ~~चाहे~~ ज्ञान में भी बनेगी। हाँ, अन्य-अन्य दर्शन के आश्रय से शब्दभेद होने पर भी तत्त्वव्यवस्था एक ही होगी।

★ Pg. 32 से यहाँ जोड़ना।
2016 अव. यह (= शब्द भेद होने पर भी तत्त्व की व्यवस्था बराबर होगी) ऐसा कैसे होगा ? –

FEBRUARY 2016
W M T W T F S S
5 1 2 3 4 5 6 7
6 8 9 10 11 12 13 14
7 15 16 17 18 19 20 21
8 22 23 24 25 26 27 28
9 29 - - - - - -

2 Tuesday
FEBRUARY

Week 5 033-333

अमुख्यविषयो यः स्याद्युक्तिभेदः स बाधकः।
हिंसाहिंसादिवद् वाऽपि तत्त्वभेदव्यपाश्रयः ॥28॥

अमुख्य विषयक जो उक्तिभेद है, वह बाधक है, हिंसा-अहिंसा की तरह अथवा वह उक्तिभेद तत्त्वभेद के आश्रय वाला है।

→ अमुख्यविषय = अपरमार्थ विषयक।
→ बाधक = विरुद्ध, विरोध वाला।
→ तत्त्वभेद = नैयायिक 6 तत्त्व, सांख्य 25 तत्त्व इत्यादि स्वीकारते हैं, ऐसे तत्त्वों का भेद।

अमुख्य अर्थात् अपारमार्थिक पदार्थ विषयक जो ~~तत्त्व~~ शब्दभेद है, वह विरोध वाला होगा। जैसे- एकांत नित्य या अनित्य मानना अपारमार्थिक है। ऐसे आत्मा को एकांत नित्य या अनित्य माननेसे पर हिंसा और अहिंसा घटित ही नहीं होगी। अतः एकांत नित्य या अनित्य आत्मा अपारमार्थिक है। अतः उस आत्मा विषयक शब्दभेद विरोधी ही होगा। अथवा यह शब्दभेद तत्त्वभेद का आश्रय करने वाला है। अर्थात् अलग-अलग दर्शन = जो अलग-अलग तत्त्व मानते हैं, उनका आश्रय करने वाला अर्थात् उसके विषय में यह शब्द भेद विरोधी होगा।

★ (Pg. No. 31 पर जोड़ना) - वस्तुतत्त्व अर्थात् जगत् की वास्तविक परिस्थिति, व्यवस्था को स्वीकारने पर जो तत्त्वव्यवस्था बनती है, उस वस्तुव्यवस्था अनुसार प्रवृत्त पुरुष फल से वंचित नहीं होगा (इस प्रकार अवतरणिका से संबंध है)।

★ अब. इसी बात को व्यतिरेक से कहते हैं-

मुख्ये तु तत्र नैवासौ बाधकः स्याद्विपश्चिताम्।
हिंसादिविरतावर्थे यमव्रतगतो यथा ॥29॥

मुख्य विषय में तो विद्वानों को यह शब्दभेद बाधक नहीं होता है। जैसे- हिंसादि से विरतिरूप अर्थ में यम, व्रत में रहा हुआ

MARCH 2016
W M T W T F S S
9 1 2 3 4 5 6
10 7 8 9 10 11 12 13
11 14 15 16 17 18 19 20
12 21 22 23 24 25 26 27
13 28 29 30 31
2016

शब्दभेद ~~से~~ बाधक नहीं है।

→ मुख्य = परिणामित्वादि धर्म वाले अनुपचरित अर्थ में।

मुख्य अर्थात् अनुपचरित अर्थ में विद्वानों को यह शब्दभेद बाधक नहीं होता है अर्थात् ~~से~~ विरोधी नहीं लगता है। जैसे- हिंसादि से विरति रूप अर्थ में सांख्य यम कहते हैं, जैन व्रत कहते हैं। अतः यह शब्दभेद ~~को~~ विरोधी नहीं है क्योंकि अर्थ तो एक ही है।

★ गा. 28-29 का अन्वय अर्थ भी कर सकते हैं- ~~(अभी यह छोड़ देते हैं)~~
~~पदार्थ~~ पदार्थ दो प्रकार के हैं-
(1) प्रयोजनभूत पदार्थ = जिन पदार्थों का मोक्षमार्ग से सीधा संबंध है। जैसे- आत्मद्रव्य, उसका स्वरूप, बंध-मोक्ष-संवर-निर्जरादि तत्त्व।
(2) अप्रयोजनभूत पदार्थ = जिन पदार्थों का मोक्षमार्ग से कोई संबंध नहीं है। जैसे- खगोल, भूगोल, ज्योतिष आदि। ये पदार्थ जैसे हैं, वैसे ही मानो या न मानो सम्यग्दर्शन पर कुछ फर्क नहीं पड़ता। हाँ, इतना अवश्य है कि सम्यग्दर्शन होने पर जीव को वीतराग प्रभु की वाणी पर अनन्य श्रद्धा होने से वह इन पदार्थों को भी उनके द्वारा कहे अनुसार स्वीकारता है। किंतु इन पदार्थों का ज्ञान होने या न होने से मोक्षमार्ग पर कुछ फर्क नहीं पड़ता।
ऐसे प्रयोजनभूत पदार्थों को पू. हरिभद्रसूरि म. मुख्य कहते हैं और अप्रयोजनभूत पदार्थों को अमुख्य कहते हैं।
चार्वाक दर्शन सिवाय जैन, बौद्ध आदि सभी दर्शनों का लक्ष्य तत्त्वज्ञान पाकर मोक्ष प्राप्त करना है। अतः इन सभी दर्शनों में जो भी मुख्य पदार्थ होंगे, वे सभी समान होंगे, शब्दभेद हो सकता है। और जो अमुख्य पदार्थ हैं, उनमें भिन्नता भी हो सकती है। अतः यहाँ चतुर्भंगी हुई-

	शब्दभेद	अर्थभेद
मुख्य	✓	×
अमुख्य	✓	✓

FEBRUARY 2016
W M T W T F S S
5 1 2 3 4 5 6 7
6 8 9 10 11 12 13 14
7 15 16 17 18 19 20 21
8 22 23 24 25 26 27 28
9 29

4 Thursday
FEBRUARY

Week 5 035-331

इस शब्दभेद को ग्रंथकार ने उक्तिभेद कहा है तथा अर्थ-भेद को विरोध कहा है। इस ~~अब~~ भूमिका अनुसार ~~गा. 28~~ →
गा. 28 का अर्थ - अमुख्य पदार्थों के विषय में जो उक्तिभेद है, वह बाधक है, विरुद्ध है, ~~अर्थात~~ विरोध वाला है अर्थात् अर्थभेद ~~वाला~~ सहित है। ~~यह शब्द~~ यह शब्दभेद अर्थभेद सहित होने का कारण ही कहते हैं कि यह शब्दभेद तत्त्वभेद के आश्रय वाला है अर्थात् नैयायिक 6 पदार्थ मानते हैं, सांख्य 25 पदार्थ मानते हैं इत्यादि रूप तत्त्व की भिन्नता वाला है।
गा. 29 का अर्थ - मुख्य पदार्थों में बुद्धिमान् पुरुषों को यह शब्द-भेद बाधक नहीं होता अर्थात् अर्थभेद वाला नहीं होता। यहाँ बुद्धिमान् पुरुषों को ही ऐसा होता है, बाकी शेष लोगों को तो यहाँ भेद ही लगता है, वे शब्दों को पकड़कर ही लड़ते रहते हैं।

अत: इस प्रकार योग के गोचरादि को कहकर प्रस्तुत योगमार्ग का प्रारंभ करते हैं - (यहाँ तक 'योग का विषय परिणामी नित्य आत्मा होता है' इत्यादि बातें सिद्ध की। यहाँ टीकाकार ने गोचरादि लिखा किंतु गा. 5 में कही तीन बातों में से अभी तक मात्र एक योग के विषय की शुद्धि का ही कथन किया है। देखें पृ. 6 पर पहला Star ★)

मुख्यतत्त्वानुवेधेन स्पष्टलिङ्गान्वितस्तत:।
युक्त्यागमानुसारेण योगमार्गोऽभिधीयते॥30॥

मुख्य तत्त्व के अनुसरण से स्पष्ट चिह्नों से युक्त ऐसे योगमार्ग का युक्ति और आगम के अनुसार कथन किया जाता है।

→ मुख्य तत्त्व = अनुपचरित ऐसे आत्मादि अर्थ के।
अनुवेध = अनुसरण से।
→ स्पष्टलिंगान्वित = प्रगट लक्षणों से युक्त।
→ युक्ति-आगमानुसार = अनुमान और आगम के अनुसार।
→ योगमार्ग = योग रूपी ही मार्ग।
→ तत: = वचन के भेद से योगमार्ग के अनेक भेद होने के कारण।

MARCH 2016
W M T W T F S S
9 1 2 3 4 5 6
10 7 8 9 10 11 12 13
11 14 15 16 17 18 19 20
12 21 22 23 24 25 26 27
13 28 29 30 31
2016

ऊपर कहे अनुसार वचन भेद अनेक होने के कारण आत्मादि ऐसे अनुपचरित अर्थ के अनुसरण पूर्वक स्पष्ट लक्षणों से युक्त ऐसा योगमार्ग युक्ति और आगम के अनुसार कहा जाता है।
प्र. योग कैसे मार्ग है? उ.- निर्वाण रूप नगर को प्राप्त कराने वाला होने से योग मार्ग है।
योग के स्पष्ट लिंग आगे गा. 52 वगैरह में कहे जाएँगे। जैसे- स्थैर्य, धैर्य, श्रद्धा, मैत्री, जनप्रियत्व, प्रातिभ तत्त्वभासन इत्यादि।

★ मुख्य तत्त्व= प्रयोजनभूत पदार्थ के अनुसरण द्वारा।
★ ग्रंथकार भगवंत यहाँ संबंध बताते हैं- युक्ति और आगम के अनुसार। गा. 1-2 में ग्रंथकार ने संबंध नहीं बताया था।

अव. योगमार्ग को ही भेद से कहते हैं-

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद् योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥31॥

योग मार्ग के 5 भेद हैं- अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षय। मोक्ष के साथ जोड़ने वाला होने से यह योग क्रमशः उत्तर-उत्तर में श्रेष्ठ है।

★ वस्तुतः ये योग के भेद नहीं किंतु योग का क्रम है।

अव. तथा अन्य प्रकार से भेद बताते हैं-

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायं सानुबन्धस्तथापरः।
सास्रवोऽनास्रवश्चेति संज्ञाभेदेन कीर्तितः ॥32॥

यह योग संज्ञाभेद से तात्त्विक-अतात्त्विक, सानुबन्ध-निरनुबन्ध और सास्रव-अनास्रव कहा गया है।

अव. इन तात्त्विकादि भेद का अर्थ कहते हैं-

तात्त्विको भूत एव स्यादन्यो लोकव्यपेक्षया।
आत्मिनः सानुबन्धस्तु क्षेदवानपरो मतः ॥33॥

6 Saturday
FEBRUARY

Week 5 037-329

तात्त्विक योग सद्भूत ही होता है, अन्य (अतात्त्विक) योग लोक की अपेक्षा से होता है। सानुबन्ध योग मुक्ति की प्राप्ति तक अच्छिन्न (लगातार) होता है, निरनुबन्ध योग को छेदवाला ~~क~~ माना कहा है।

तात्त्विक योग सद्भूत ही होता है अर्थात् जो योग ~~मोक्ष~~ प्रान्त निर्वाण के लक्ष्य से होता है, वह तात्त्विक है। जो योग लोक के चित्त की आराधना रूप होता है, वह ~~अ~~ अतात्त्विक योग है।

सास्रवो दीर्घसंसारस्ततोऽन्योऽनास्रवः परः।
अवस्थाभेदविषयाः संज्ञा एता यथोदितः ॥34॥

जिस योग से संसार दीर्घ हो, वह सास्रव योग तथा उससे अन्य अर्थात् संसार को न्यून करने वाला श्रेष्ठ अनास्रव योग है। ये सब संज्ञा (नाम) अवस्था भेद के विषय वाली हैं अर्थात् अलग-अलग अवस्था में जीव को वह-वह योग होता है तथा ये सब ~~स~~ संज्ञाएँ सार्थक हैं।

अब इन योगों के भेद के विषय में ही कुछ कहते हैं:-

स्वरूपं सम्भवं चैव वक्ष्याम्यूर्ध्वमनुक्रमात्।
अमीषां योगभेदानां सम्यक्शास्त्रानुसारतः ॥35॥

इन योगभेदों का स्वरूप और उत्पत्ति ~~सम्यक्~~ शास्त्रानुसार सम्यक् रीति से क्रमशः आगे कहूँगा।

इदानीं तु समासेन योगमाहात्म्यमुच्यते।
पूर्वसेवाक्रमश्चैव प्रवृत्त्यङ्गतया सताम् ॥36॥

अभी तो संक्षेप से योग का माहात्म्य कहा जाता है और सज्जनों की प्रवृत्ति का अंग होने से पूर्वसेवा का क्रम कहा जाता है।

MARCH 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
9		1	2	3	4	5	6
10	7	8	9	10	11	12	13
11	14	15	16	17	18	19	20
12	21	22	23	24	25	26	27
13	28	29	30	31			

योग का माहात्म्य और पूर्वसेवा दोनों सज्जनों की प्रवृत्ति के अंग हैं अर्थात् योग की महिमा सुनने से ही सज्जनों को योग में प्रवृत्ति करने की इच्छा जागृत होती है। तथा

2016

पूर्व सेवा का क्रम सुनने से क्या प्रवृत्ति करना है, वह ख्याल आता है।

अब. 'यथोद्देशं निर्देशाः' न्याय से योग के माहात्म्य को ही कहते हैं-

योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः।
योगः प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः ॥37॥

योग श्रेष्ठ कल्पवृक्ष है, योग श्रेष्ठ चिंतामणि है, योग सभी धर्मों में प्रधान है और योग सिद्धि को स्वयं-ग्रहण करने वाला है।

→ योगः सिद्धेः ...⇒ जैसे कन्या खुद वर को चुने उसे स्वयंवर कहते हैं। वैसे ही यह योग मुक्ति का स्वयंग्रह है अर्थात् मुक्ति खुद योगी का ग्रहण करती है।
यहाँ बार-बार योग शब्द का ग्रहण किया है, वह योग की अत्यन्त आदरणीयता को बताने के लिए किया है।

तथा च जन्मबीजाग्निर्जरसोऽपि जरा परा।
दुःखानां राजयक्ष्माऽयं मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः ॥38॥

तथा यह योग जन्म रूपी बीज के लिए अग्नि है, बुढ़ापे का भी प्रकृष्ट बुढ़ापा है, दुःखों का राजयक्ष्मा रोग है, मृत्यु का भी मृत्यु है।

कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा।
योगवर्मावृते चित्ते तपश्छिद्रकराण्यपि ॥39॥

योग रूप कवच से आवृत चित्त होने पर तप में भी छिद्र करने वाले ऐसे तीक्ष्ण काम रूपी अस्त्र सर्वथा कुंठित हो जाते हैं।

अक्षरद्वयमप्येतत् श्रूयमाणं विधानतः।
गीतं पापक्षयायोच्चैर्योगसिद्धैर्महात्मभिः ॥40॥

'योग' ये दो अक्षर विधि विधिपूर्वक सुनने से भी, पाप के अत्यंत क्षय के लिए होते हैं, ऐसा योगसिद्ध महात्माओं द्वारा जोर से कहा गया है।

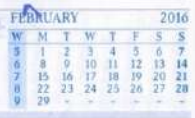

8 Monday
FEBRUARY

Week 6 039-327

→ विधि पूर्वक = श्रद्धा-संवेगादि द्वारा शुद्ध भावोल्लास से हाथ जोड़ना आदि।
→ दो अक्षर = 'योग' ऐसे दो अक्षर।
→ अपि = नवकार वगैरह से तो क्या! इन दो अक्षरों से भी निर्जरा होती है।
→ श्रूयमाण = केवल सुनने पर, अर्थ न खबर पड़े तो भी।

मलिनस्य यथा हेम्नो वह्नेः शुद्धिर्नियोगतः।
योगाग्नेश्चेतसस्तद्वदविद्यामलिनात्मनः॥५१॥

जैसे मलिन सुवर्ण की वह्नि से अवश्य शुद्धि होती है, वैसे योगरूपी अग्नि से अविद्या से मलिनात्मा के चित्त की अवश्य शुद्धि होती है।

अमुत्र संशयापन्नचेतसोऽपि ह्यतो ध्रुवम्।
सत्स्वप्नप्रत्ययादिभ्यः संशयो विनिवर्तते॥५२॥

परलोक विषय में संशयापन्न चित्त वाले जीव को इस योग के माहात्म्य द्वारा सत्स्वप्नप्रत्ययादि से संशय का अवश्य निवर्तन होता है।

→ संशयापन्न = 'भवान्तर है या नहीं' ऐसी भ्रान्ति वाला।
→ सत्स्वप्नप्रत्यय = स्वप्न में स्वर्गादि का दर्शन आदि।
→ आदि शब्द से निज ऊहापोह और आगम अभ्यास से जन्य प्रतीति।

शुद्ध समाचारी वाले साधु सत्स्वप्न की प्राप्ति से, निज ऊहापोह से और सदागम के अभ्यास से पूर्व में संशयित मन वाले भी भवान्तर का निर्णय करते हैं।

अव. 'स्वप्न कैसे प्राप्त होता है' ऐसी शंका नहीं करना चाहिए क्योंकि -

श्रद्धालेशान्नियोगेन बाह्ययोगवतोऽपि हि।
शुक्लस्वप्ना भवन्तीष्टदेवतादर्शनादयः॥५३॥

श्रद्धा के लेश से बाह्य योग वालों को भी इष्ट देवता के दर्शनादि शुक्ल स्वप्न अवश्य होते हैं।

MARCH 2016
W M T W T F S S
9 1 2 3 4 5 6
10 7 8 9 10 11 12 13
11 14 15 16 17 18 19 20
12 21 22 23 24 25 26 27
13 28 29 30 31

देवान् गुरून् द्विजान् साधून् सत्कर्मस्था हि योगिनः।
प्रायः स्वप्ने प्रपश्यन्ति हृष्टान् सन्नोदनापरान् ॥५५॥

हृष्ट (संतुष्ट) सत्प्रेरणा में तत्पर ऐसे देव, गुरु, द्विज (मुनि), सज्जनों को सत् क्रिया में स्थित ऐसे योगी देखते हैं।

→ दीक्षा ग्रहण करने से दूसरा जन्म लेने के कारण मुनि द्विज कहलाते हैं।

अब 'यह प्रेरणा भ्रमणा नहीं है' ऐसा कहते हैं-

नोदनापि च सा यतो यथार्थैवोपजायते।
तथाकालादिभेदेन हन्त नोपप्लवस्ततः॥५६॥

वह प्रेरणा भी यथार्थ ही होती है [उस-उस प्रकार के कालादि के भेद से] अतः वह मात्र उपप्लव नहीं है।

स्वप्न में गुरु आदि जो प्रेरणा करते हैं, वह प्रेरणा भी उस काल-क्षेत्र-भाव के विशेष से यथार्थ ही होती है अर्थात् उसमें सूचित किए गए प्रयोजन को सिद्ध करने वाली ही होती है। इसलिए ये प्रेरणा/स्वप्न मात्र उपप्लव अर्थात् वायु आदि धातु के विकार से उत्पन्न चित्त की भ्रान्ति रूप नहीं होती है क्योंकि लोक में यथार्थफल को देने वाली वस्तु अविसंवादी होने से उपप्लव रूप नहीं ही कही जाती है किंतु सत्य ही कही जाती है।

स्वप्नमन्त्रप्रयोगाच्च सत्यः स्वप्नोऽभिजायते।
विद्वज्जनेऽविगानेन सुप्रसिद्धमिदं तथा ॥५७॥

स्वप्नमंत्र के प्रयोग से सत्य स्वप्न आता है, यह बात विद्वज्जन में निर्विवादरूप से प्रसिद्ध है।

2016 → स्वप्नमंत्रप्रयोग= स्वप्न की प्राप्ति रूप फल वाला मंत्र स्वप्न मंत्र कहा जाता है, उस मंत्र के प्रयोग से।

FEBRUARY 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
5	1	2	3	4	5	6	7
6	8	9	10	11	12	13	14
7	15	16	17	18	19	20	21
8	22	23	24	25	26	27	28
9	29	-	-	-	-	-	-

10 Wednesday
FEBRUARY
Week 6 041-325

अब. 'यह व्यवहार मात्र भूत (पंचभूत) के कारण होता है, ऐसा नहीं है। यही बात बताते हैं—

न ह्येतद् भूतमात्रत्वनिमित्तं सङ्गतं वचः।
अयोगिनः समक्षं यन्नेवंविधगोचरम् ॥५१॥

यह देवतादर्शनादि भूत के निमित्त से होता है, ऐसा वचन संगत नहीं है क्योंकि अयोगी (छद्मस्थ) का प्रत्यक्ष ज्ञान ऐसे अतीन्द्रिय अर्थ रूप विषय वाला नहीं होता है।

योग का माहात्म्य बताते हुए गा.५२ में कहा था कि परलोक विषयक संशय का इस माहात्म्य से नाश होता है क्योंकि माहात्म्य से स्वप्न में देवतादर्शनादि होते हैं। यहाँ कोई (मीमांसकादि) शंका करता है कि यह स्वप्न तो भूत के निमित्त से आते हैं, अतः इसे योग का माहात्म्य कैसे कह सकते हो? अर्थात् शरीर पंचभूत से निर्मित है, अतः स्वप्न भी पंचभूत से ही आते हैं।
इस शंका का उत्तर इस गा.५१ में ग्रंथकार देते हैं कि 'यह स्वप्नदर्शन मात्र भूत के निमित्त से होता है' यह वचन संगत नहीं है क्योंकि अयोगी (छद्मस्थ) जीव को प्रत्यक्ष ज्ञान इस विषय में कुछ नहीं जान सकता अर्थात् 'वह स्वप्न भूत से आया या स्वप्नमंत्र से आया अथवा योगमाहात्म्य से आया!' ऐसा छद्मस्थ जीव जान ही नहीं सकता। अतः छद्मस्थ जीव का ऐसा वचन संगत नहीं है।

अब इसी बात को दृष्टांत से कहते हैं—

प्रत्यापमात्रं च वचो यदप्रत्यक्षपूर्वकम्।
यथेहाप्सरसः स्वर्गे मोक्षे चानन्द उत्तमः ॥५२॥

जो वचन अप्रत्यक्ष पूर्वक है, वह प्रत्यापमात्र है। जैसे- यहाँ कोई कहे कि स्वर्ग में अप्सराएँ और मोक्ष में उत्तम आनन्द है।

MARCH 2016
W M T W T F S S
9 1 2 3 4 5 6
10 7 8 9 10 11 12 13
11 14 15 16 17 18 19 20
12 21 22 23 24 25 26 27
13 28 29 30 31

2016

पूर्व गाथा में कहा कि छद्मस्थ जीव अतीन्द्रिय अर्थ नहीं जान सकता।

इसी बात को यहाँ कहते हैं कि ~~छद्मस्थ~~ जो वचन ~~छद्मस्थ~~ ~~जी~~ प्रत्यक्ष ज्ञान से रहित है, वह मात्र प्रलाप है अर्थात् निरर्थक है। जैसे- कोई छद्मस्थ कहे कि स्वर्ग में अप्सराएँ और मोक्ष में उत्तम आनन्द होता है। यह वचन प्रत्यक्ष देखे बिना बोला हुआ होने से निरर्थक है। इसी तरह कोई कहे कि स्वप्न में देवतादर्शनादि होना मात्र भूत के निमित्त से होता है, तो वह वचन भी निरर्थक है। अतः ऐसा सिद्ध होता है कि स्वप्न योगमाहात्म्य से भी आते हैं और उससे जीव को आत्मा, परलोकादि का निश्चय होता है।

अब यहाँ पुनः कोई शंका करता है कि 'योगी (सर्वज्ञ) के वचन से जानकर यह निश्चय किया कि ~~स्वप्न भूत के निमित्त से होते~~ स्वर्ग में अप्सराएँ और मोक्ष में आनंद होता है' तो इसी शंका का उत्तर देते हैं-

योगिनो यत्सप्रत्यक्षं ततश्चेदुक्तनिश्चयः।
आत्मादेरपि युक्तोऽयं तत एवेति चिन्त्यताम् ॥५७॥

यदि ऐसा कहो कि 'योगी को जो प्रत्यक्ष है, उससे ऊपर कहा हुआ निश्चय किया' तो योगी के प्रत्यक्ष से ही आत्मादि का भी निश्चय योग्य है, ऐसा विचार किया जाए।

गा.५४ में शंकाकार को उत्तर दिया कि छद्मस्थ का वचन अप्रत्यक्ष-पूर्वक होने से प्रलापमात्र है, जैसे स्वर्ग में अप्सरा और मोक्ष में आनंद का ज्ञान छद्मस्थ को नहीं हो सकता। ऐसा उत्तर देने के बाद ग्रंथकार स्वयं ही इसके आगे की शंका ~~कस्के~~ करके इसका उत्तर देते हैं कि यदि शंकाकार ऐसा कहे कि दिव्यचक्षु वाले ऐसे योगी को प्रत्यक्ष होने से हमने स्वर्ग में अप्सरा और मोक्ष के आनंद का निश्चय किया है तो उसे ऐसा भी विचार करना चाहिए कि आत्मादि अर्थ का भी निश्चय योगी के प्रत्यक्ष ज्ञान से हो सकता है। अतः योगी के

12 Friday
FEBRUARY
Week 6 043-323

प्रत्यक्ष से आत्मा, परलोक आदि का निश्चय हो जाता है।

अब इसी बात को कहते हैं –

अयोगिनो हि प्रत्यक्षगोचरातीतमप्यत्यन्तम् ।
विजानात्येतदेवं च बाधाऽत्रापि न विद्यते ॥ ७० ॥

अयोगी (छद्मस्थ) के प्रत्यक्ष के विषय से अतीत अर्थ को भी योगी का प्रत्यक्ष अत्यंत जानता है। इस प्रकार यहाँ भी बाधा नहीं है।

→ अत्यं = अत्यंत रीति से अर्थात् हस्त हाथ में रहे हुए मुक्ताफल की तरह स्पष्ट रीति से।
→ एतद् = योगी का प्रत्यक्ष ज्ञान।
→ एवं = इस प्रकार / ऐसा होने पर।
→ बाधा = धारित न नहीं होने रूप बाधा / विरोध।
→ ~~अत्र = इस विषय यानि अप्सरा - आनंद आदि विषय में भी~~
→ अत्र = आत्मादि विषय में भी।
→ अपि = अप्सरा - आनंद के विषय में तो अवश्य बाधा नहीं है।

छद्मस्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान से अतीत अर्थ को भी योगी का प्रत्यक्ष ज्ञान हाथ में रहे हुए मुक्ताफल की तरह स्पष्ट रूप से जानता है। ऐसा होने पर आत्मादि विषय जानने में भी बाधा नहीं है।

★ अत्र का अर्थ टीकाकार ने आत्मादि अर्थ किया है। इसकी जगह 'स्वप्न भूतमात्र से आया है या योगमाहात्म्य से?' ऐसा अतीन्द्रिय विषय भी ले सकते हैं क्योंकि यह चर्चा गा. ५१ से स्वप्न के विषय में शुरू हुई थी, ~~अतः~~ अतः इसे पुनः वहाँ जोड़ते हैं।
ऐसा अर्थ करने पर इस गा. ७० का अर्थ –

अयोगी के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय से अतीत विषय को भी अत्यंत स्पष्ट रूप से योगी का प्रत्यक्ष जानता है। ऐसा होने पर 'स्वप्न भूतमात्र से आया या योगमाहात्म्य से?'

इस विषय को जानने में भी बाधा नहीं है अर्थात् योगी ऐसे विषय को भी जान ही सकता है और गा. ५१ में कहे अनुसार इस योगी के प्रत्यक्ष से ऐसे विषय का निर्णय भी छद्मस्थ को होता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि योग के माहात्म्य से सत् स्वप्न आते हैं क्योंकि योगी को ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

★ 'अत्र' का अर्थ 'योगमाहात्म्य से स्वप्न आना' भी कर सकते हैं। गा. ५० का अर्थ – अयोगी के प्रत्यक्ष से अतीत अर्थ को भी योगी का प्रत्यक्ष ज्ञान जानता है। ऐसा होने पर योगमाहात्म्य से योगी को सत्य स्वप्न आने में भी कोई बाधा नहीं है अर्थात् जब प्रत्यक्ष ज्ञान भी इतना हो सकता है तो स्वप्न से परलोकादि का निश्चय होना तो सामान्य वस्तु है, उसमें कोई बाधा नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ कि योग के माहात्म्य से योगी को स्वप्न आते हैं। (गा. ५१ से विषय जोड़ना)

★ यहाँ 'अत्र' पद के दो अलग अर्थ किए। अन्यत्र ग्रंथकार स्वयं तो गा. ५ में आत्मादि अर्थ की ही बात करते हैं।

अब. इस तरह 'आत्मादि अतीन्द्रिय वस्तु को योगी के प्रत्यक्ष से जान सकते हैं', ऐसा आगम से गम्यमान पन कहकर अब ये विषय अनुमान से भी जाने जा सकते हैं, ऐसा कहते हैं –

आत्मादतीन्द्रियं वस्तु योगिप्रत्यक्षभावतः।
परोक्षमपि चान्येषां न हि युक्त्या न युज्यते ॥ ५ ॥

आत्मादि अतीन्द्रिय वस्तु योगी को प्रत्यक्ष होने से और अन्यों को परोक्ष होने पर भी युक्ति से घटित नहीं होती है, ऐसा नहीं है।

आत्मादि अतीन्द्रिय वस्तु योगी को प्रत्यक्ष है। किंतु योगी के वचन तो आगम प्रमाण है और यह आगम तो अन्य छद्मस्थ जीवों के लिए परोक्ष ज्ञान ही है। ऐसे परोक्ष होने पर भी ये अतीन्द्रिय पदार्थ युक्ति से

2016

14 Sunday
Week 6 045-321 FEBRUARY

घातित नहीं होते हैं, ऐसा नहीं है अर्थात् युक्ति से घटते ही हैं। वही युक्तियाँ बताते हैं-

① आत्मा की सिद्धि - पंच भूत अचेतन हैं। चेतना उनका धर्म भी नहीं है और उनका फल भी नहीं। जिसकी यह चेतना है, वही आत्मा है, ऐसा जानो। (यहाँ दो पक्ष हुए- चेतना भूत का धर्म नहीं है और चेतना भूत का फल नहीं है। क्रमशः इन दोनों पक्ष की सिद्धि करते हैं। धर्म प्रत्येक द्रव्य में रहता है, अतः यदि चेतना भूत का धर्म होती तो पाँचों भूत में अलग-अलग रहती। फल यानी पाँचों भूत मिलकर एक चेतना को उत्पन्न करते हैं, ऐसी पूर्वपक्षी चार्वाक की मान्यता है। इन दोनों का खंडन है।) यदि यह चेतना भूत का धर्म होती तो प्रत्येक भूत में हमेशा इसकी उपलब्धि होती, जैसे तत्त्व-काठिन्यादि धर्मों की उपलब्धि होती है। किंतु चेतना की ऐसी उपलब्धि न होने से वह भूत का धर्म नहीं है।
प्रत्यक्ष सिद्धि से ही भूत काठिन्यादि स्वभाव वाले हैं किंतु चेतना तो तद्रूप अर्थात् काठिन्यादि स्वभाव वाली नहीं है। अतः वह कैसे भूतों का फल हो सकती है?
इस प्रकार चेतना स्वभाव वाली आत्मा की सिद्धि हुई।

② कर्म की सिद्धि - समान प्रताप-उद्यम और साहस वाले लोगों में से भी कुछ लोग ही स्वयं के कार्य की सिद्धि को हासिल करते हैं, अन्य लोग सिद्धि को प्राप्त नहीं करते। यदि यहाँ कर्म को छोड़कर अन्य कोई भी हेतु है तो मुझे कहो।
विचित्र देह-आकृति-वर्ण-गंध-प्रभाव-जाति-स्वभाव वाले अनेक प्रकार के जीव समूह लोक में पूर्वकृत कर्म को छोड़कर किसके द्वारा किए जाते हैं?

कलल आदि बहुत प्रकार के भाव (पर्यायों) से नौ मास तक गर्भ में वृद्धि ~~करके~~ करके - उद्वर्तन करके माता के गर्भ से कर्म को छोड़कर कौन बाहर निकालता है? 2016

③ सर्वज्ञ की सिद्धि - सर्वज्ञ वीतराग ~~है~~ (जगत् में) होते हैं क्योंकि प्रमाण से अबाधित हैं। वे सत्पुरुषों के द्वारा सुखादि की तरह हमेशा निश्चित रूप से जाने गए हैं। (यहाँ भी दो पक्ष हैं - वीतराग और ~~सम्म सर्वथा~~ सर्वज्ञ। क्रमशः दोनों की सिद्धि करते हैं -)
~~सम सर्वथा क्षय क्षीण कहीं भी होता है क्योंकि उसक~~
राग कहीं-न-कहीं उसके कारण की हानि होने से सर्वथा क्षीण होता है। काष्ठादि के वियोग से क्या अग्नि की हानि नहीं होती? ज्ञान कहीं-न-कहीं पुकर्ष का स्थान है क्योंकि उसमें तरतमता की उपलब्धि होती है। जैसे - परिमाण आकाश में पुकृष्ट है। अर्थात् ज्ञान में तरतमता की उपलब्धि होने से वह कहीं-न-कहीं अवश्य पुकृष्ट होता है क्योंकि जिस-जिस वस्तु में तरतमता होती है, वह कहीं-न-कहीं पुकृष्ट होती है, ऐसी व्याप्ति है। जैसे परिमाण में तरतमता दिखती है तो वह परिमाण आकाश में पुकृष्ट होता है, वैसे ही ज्ञान भी सर्वज्ञ में पुकृष्ट होगा।

★ इस गा. ५। की अवतरणिका ऐसी भी हो सकती है -
शंकाकार - आपने योगी के पुत्यक्ष से आत्मादि अतीन्द्रिय अर्थ की सिद्धि की किंतु वह भी हमारे लिए तो परोक्ष है। अतः हमें उसे कैसे मान लें? (उत्तर में गाथार्ध)

अव. यहीं पर योग के माहात्म्य से होने वाले अन्य गुण कहते हैं -

किं चान्यद् योगतः स्थैर्यं धैर्यं श्रद्धा च जायते।
मैत्री जनप्रियत्वं च प्रातिभं तत्त्वभासनम् ॥५२॥

तथा योग से स्थैर्य, धैर्य, श्रद्धा, मैत्री, जनप्रियत्व और प्रातिभ ऐसा तत्त्वभासन उत्पन्न होता है।

→ स्थैर्य = स्वीकारे हुए व्रत-नियमादि के निर्वाह में स्थिरता।
2016→ धैर्य = संकट रूप बिजली गिरने पर भी अविचलित रहने रूप स्वभाव।

18 Thursday
FEBRUARY

Week 7 049-317

→ श्रद्धा = तत्त्व मार्ग का अनुसरण करने वाली रुचि।
→ मैत्री = सभी जीवों पर मित्रता।
→ जनप्रियत्व = शिष्ट लोगों का वल्लभपन।
→ प्रातिभ तत्त्वभासन = सहज प्रतिभा से उत्पन्न होने वाला ऐसा जीवादि तत्त्वों का अवलोकन।

विनिवृत्ताऽऽग्रहत्वं च तथा द्वन्द्वसहिष्णुता।
तदभावश्च लाभश्च बाह्यानां कालसङ्गतः ॥३३॥

वे आग्रहों का निवर्तन होना, द्वन्द्वों में सहनशीलता, द्वन्द्वों का अभाव और काल के संगत (उचित) ऐसे बाह्य पदार्थों की प्राप्ति भी योग से होती है।

→ विनिवृत्ताग्रहत्व = अनुचित अर्थ में अभिनिवेश छोड़ना।
→ द्वन्द्वसहिष्णुता = निरुपक्रम ऐसे क्लिष्ट कर्मों के उदय से आए हुए इष्ट वियोग - अनिष्ट संयोगादि संकरों में सहनशीलता।
→ तदभाव = परिशुद्ध योग से द्वन्द्व (संकरों) को प्रगट करने वाले अपायों की शक्ति नष्ट होने से द्वन्द्व का नाश। (प्रायः)
→ कालसंगत बाह्य (पदार्थों) की प्राप्ति = जो जिस काल में योग्य है, उस काल में उन-उन बाह्य समाधिहेतुओं की प्राप्ति होना।

धृतिः क्षमा सदाचारो योगवृद्धिः शुभोदया।
आदेयता गुरुत्वं च शमसौख्यमनुत्तरम् ॥३५॥

शुभ उदय वाली धृति, क्षमा, सदाचार, योग की वृद्धि, आदेयता, गुरुत्व और अनुत्तर ऐसा शम का सुख भी योग के माहात्म्य से प्राप्त होता है।

→ धृति = निर्वाह के निमित्त ऐसे वस्त्र-भोजनादि जो कोई भी मिल जाए, उससे संतोष मानना।
→ क्षमा = अन्य के सत्य दोषों के श्रवण से करने योग्य तत्त्व को बिना विचारे बिना ही कोप के उदय से बाहर और अंदर विक्रिया

MARCH 2016
W M T W T F S S
9 1 2 3 4 5 6
10 7 8 9 10 11 12 13
11 14 15 16 17 18 19 20
12 21 22 23 24 25 26 27
13 28 29 30 31
2016

को प्राप्त करते ऐसे आत्मा का निरोध करना।

→ सदाचार = सबका उपकार करना, प्रिय वचन बोलना, अकृत्रिम और उचित स्नेह करना इत्यादि रूप सज्जनों की चेष्टा।

→ योगवृद्धि = मुक्ति के बीज रूप ऐसे सम्यग्दर्शनादि का उत्कर्ष होना।

→ शुभोदय = प्रशस्त फल को उत्पन्न करने के कारण।

→ आदेयता = दूसरों के द्वारा वचनों का आदर किया जाना।

→ गुरुत्व = सभी जगह गौरव, बहुमान प्राप्त होना।

→ शमसौख्य = कषाय रूप विष के दोष अत्यंत मंद होने से प्रशम रूप सुख अथवा प्रशम का सुख प्राप्त होना।

→ अनुत्तर = विषय के सेवन से उत्पन्न सुख से भी अतिशय ऐसा प्रशम सुख। क्योंकि कहा गया है - जिन्होंने मद और मदन को जीत लिया है, जो मन-वचन-काया के विकार से रहित हैं और जिन्हें घर की आशा नहीं है ऐसे सुविहित पुरुषों को यहीं मोक्ष है।

आविद्वदङ्गनासिद्धमिदानीमपि दृश्यते।
एतत्प्रायस्तदन्यत्तु सुबह्वागमभाषितम् ॥८८॥

योग का यह फल विद्वानों से लेकर स्त्रियों तक ~~सब~~ प्रसिद्ध है और प्रायः अभी भी देखा जाता है। इससे अन्य फल तो आगम में भी बहुत प्रकार से कहा गया है।

योग का यह फल विद्वानों से लेकर स्त्रियों तक सबको प्रसिद्ध है। तथा यह फल तो अभी दुःषम काल में भी प्रायः देखा जाता है। दुःषम काल में भी देखा जाता है तो सुषमदुःषम काल में तो अवश्य देखा जाता है। इससे अन्य बहुत सारे फल आगम में कहे गए हैं। जैसे - आवश्यक निर्युक्ति में कहा है - आमर्षौषधि, विप्रुडौषधि, खेलौषधि, जल्लौषधि, संभिन्नस्रोत लब्धि, ऋजुमति, ~~सर्व~~ सर्वौषधि, चारणलब्धि, आशीविष लब्धि, केवलज्ञान, मनः पर्यवज्ञान, पूर्वधर, अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव लब्धियाँ हैं।

तथा अलोलुपता, आरोग्य, अनिष्ठुरता, शुभ गंध, अल्प मूत्र-पुरीष,

कान्ति, प्रसाद, स्वर की सौम्यता योग की प्रवृत्ति के प्रथम चिह्न हैं। विषयों में अचित्त न होना, मैत्री आदि से युक्त चित्त, प्रभावशाली, धैर्य से युक्त चित्त, ६ संकटों से अधृष्टता, अभीष्ट फल का लाभ, उत्कृष्ट जनप्रियत्व, दोषों का नाश, परम तृप्ति, औचित्य योग, गुर्वी समता, वैरादि का नाश और ऋतम्भरा बुद्धि योग की निष्पत्ति के चिह्न हैं।

★ ऊपर की गाथाओं में कहे गए योग-फल अभी देखे जाते हैं। उससे अन्य फल आगम में कहे गए हैं। ऐसा कहने से अर्थापत्ति द्वारा यह सिद्ध होता है कि ये आगम में कहे गए वर्तमान में दिखाई नहीं देते।

अत: अब कहे गए योग के फल से अन्य तत्त्व की सिद्धि के लिए कहते हैं –

न चैतद् भूतसङ्घातमात्रादेवोपपद्यते।
तदन्यभेदकाभावे तद्वैचित्र्याऽप्रसिद्धितः॥७॥

यह योग का माहात्म्य/फल भूत के समूह मात्र से ही घटित नहीं होता है क्योंकि उस भूतसंघात से अन्य किसी भेदक के अभाव में उस योग के माहात्म्य/फल की विचित्रता की सिद्धि नहीं हो सकती।

यह योग का माहात्म्य मात्र भूत के समूह से ही घटित नहीं होता अर्थात् यदि ~~शरीर~~ ~~मात्र~~ चेतना भूत का समूहमात्र होती ~~न~~ (कोई आत्मा जैसी वस्तु नहीं होती) तो ~~न~~ यह योगमाहात्म्य घट नहीं सकता क्योंकि (→ पहले तद् से भूतसंघात और दूसरे तद् से योगमाहात्म्य लेना) ~~यदि~~ —
योग के माहात्म्य में जो विचित्रता दिखाई देती है, वह विचित्रता भूतसंघात से अन्य किसी भेदक (विशेष/भेद करने वाले) के अभाव में घटित नहीं होती अर्थात् यदि भूतसंघात मात्र से ही यह योगमाहात्म्य होता तो वह योगी-अयोगी

MARCH 2016
W M T W T F S S
9 1 2 3 4 5 6
10 7 8 9 10 11 12 13
11 14 15 16 17 18 19 20
12 21 22 23 24 25 26 27
13 28 29 30 31
2016

दोनों में होना चाहिए क्योंकि भूतसंघात तो दोनों में समान है। किंतु लोक में ऐसा स्पष्ट दिखता है कि योगमाहात्म्य योगी में ही होता है, अयोगी में नहीं। इससे ही सिद्ध होता है कि वह माहात्म्य भूतसंघात से नहीं होता। अतः यहाँ शरीर से भिन्न कोई आत्मा का स्वीकार करना पड़ेगा, जिस आत्मा के कर्म योग द्वारा कम होने के कारण उसमें योगमाहात्म्य प्रगट होता है, अयोगी के कर्म अधिक होने से उसमें योगमाहात्म्य प्रगट नहीं होती। योगियों में भी सबके कर्म एक जैसे नहीं रहते। अतः जिस योगी के कर्म जितने कम, उतना योगमाहात्म्य अधिक। ऐसे योगमाहात्म्य की विचित्रता भूतसंघात से अन्य आत्मा रूप किसी भेदक अर्थात् जीवों में योगी-अयोगी रूप भेद करने वाले को माने बिना घटित नहीं होती। अतः इससे आत्मा की सिद्धि होती है।

★ यहाँ ~~ग्रंथकार~~ टीकाकार ने 'एतद्' पद से योगमाहात्म्य ~~मात्र~~ का ग्रहण किया है। वहाँ 'योग का फल' भी ले सकते हैं।

अब अब योगमाहात्म्य से ही परलोक की सिद्धि करते हैं:-

ब्रह्मचर्येण तपसा सद्वेदाध्ययनेन च।
विद्यामन्त्रविशेषेण सत्तीर्थसेवनेन च ॥57॥
पित्रोः सम्यगुपस्थानाद् ग्लानभैषज्यदानतः।
देवादिशोधनाच्चैव भवेज्जातिस्मरः पुमान् ॥58॥

ब्रह्मचर्य से, तप से, सद्वेद के अध्ययन से, विद्या विशेष- मंत्र विशेष से, सत्तीर्थ के सेवन से, माता-पिता के सम्यग् विनय से, ग्लान को औषधि दान से और देवादि के शोधन से पुरुष जातिस्मरण ज्ञान वाला होता है।

→ ब्रह्मचर्य = भाव से कामवृत्ति के निरोध से।
→ तप = उपवासादि से।
→ सद्वेदाध्ययन = आत्मानुग्रहादि शुभ परिणाम से युक्त होने पूर्वक

2016
FEBRUARY 2016
W M T W T F S S
5 1 2 3 4 5 6 7
6 8 9 10 11 12 13 14
7 15 16 17 18 19 20 21
8 22 23 24 25 26 27 28
9 29

* ये ब्रह्मचर्यादि जातिस्मरण के निमित्त हैं, इसी बात को सिद्ध करते हैं-

22 Monday
FEBRUARY

Week 8 053-313

सद्भूत अर्थ वाले आगम के अध्ययन से।

→ विद्यामंत्रविशेष = साधनासहित अथवा स्त्री रूप स्वामी वाली विद्या, साधनारहित अथवा पुरुष रूप स्वामी वाला मंत्र। मंत्र शास्त्र में प्रसिद्ध ऐसे विद्याविशेष और मंत्रविशेष से।

→ तत्तीर्थसेवन = संकट रूपी समुद्र से निस्तार करने के उपाय रूप ऐसे स्थावर और जंगम तीर्थ के सेवन, पर्युपासन से।

→ माता-पिता के सम्यग् उपस्थान = विनय से।

→ देवादिशोधन = देव - जिनालय - पुस्तक - उपाश्रय आदि धर्मकार्य में उपयोगी ऐसे ~~वस्तुओं~~ साधनों की शुद्धि से अर्थात् मल दूर करने से।

इन सब निमित्तों से पुरुष ~~जातिस्मर~~ जातिस्मरण प्राप्त करता है क्योंकि ये सभी योग ज्ञानावरणीय कर्म के ह्रास के कारण हैं।

* टीकाकार ने इन सब योगों को ज्ञानावरणीय कर्म के ह्रास के अंतरंग कारण कहा है। ये सब अंतरंग कारण कैसे? ऐसी यहाँ शंका होती है।

प्रश्न. जातिस्मरण के प्रसंग से सिद्ध होने वाली बात कहते हैं-

अत एव न सर्वेषामेतदागमनेऽपि हि।
परलोकाद् यथैकस्मात्स्थानात्तन्नुभृतामिति॥५७॥

इस कारण से ही परलोक से आने पर भी सभी को यह जातिस्मरण नहीं होता, जैसे एक स्थान से आए हुए सभी जीवों को।

ये ब्रह्मचर्यादि जातिस्मरण के हेतु होने के कारण ही सभी जीवों को परलोक से आने पर भी जातिस्मरण नहीं होता अर्थात् ये ब्रह्मचर्यादि जातिस्मरण के निमित्त हैं। यदि ये ब्रह्मचर्यादि जातिस्मरण के निमित्त नहीं होते तो, मात्र पूर्वकालीन अनुभव ही हेतु होता सभी जीवों को जातिस्मरण हो जाता क्योंकि पूर्व का अनुभव तो सभी को है। किंतु ऐसा नहीं होने से

MARCH 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
9		1	2	3	4	5	6
10	7	8	9	10	11	12	13
11	14	15	16	17	18	19	20
12	21	22	23	24	25	26	27
13	28	29	30	31			

2016

सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्यादि जातिस्मरण के हेतु हैं। तथा ये योग के माहात्म्य से ही होने के कारण ही सभी जीवों को जातिस्मरण नहीं होता। जैसे - किसी एक स्थान से आए हुए सभी जीवों को वहाँ का स्मरण नहीं होता वैसे।

प्र. किसी स्थान से आने वालों में से बहुतों को स्मरण होता है, अल्प को नहीं होता किंतु जातिस्मरण में तो इससे विपरीत है। अतः ऐसे अल्पबहुत्व से दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक में साम्य नहीं है।

उ. दृष्टांत-दार्ष्टान्तिक में सर्वथा साम्य नहीं होता। यहाँ इस दृष्टान्त से 'जगत् में जातिस्मरण संभव है' मात्र ऐसा ही बताना चाहते हैं। अतः यह दृष्टांत उतने अंश में तो सही है।

अव. इस दृष्टांत की ही विचारणा करते हैं -

न चैतेषामपि ह्येतदुन्मादग्रहयोगतः।
सर्वेषामनुभूतार्थस्मरणं स्याद्विशेषतः॥६०॥

एक स्थान से आए हुए सभी लोगों को भी उन्माद या ग्रह के योग से अनुभूत अर्थ का स्मरण विशेष से नहीं होता है।

अर्थात् एक स्थान से आए हुए सभी लोगों को भी उन्माद = मोह, विस्मृति या ग्रह = भूत, पिशाचादि के योग से विशेष से स्मरण नहीं होता किंतु सामान्य से तो सभी लोगों को स्मरण होता ही है।

अव. दार्ष्टान्तिक में सभी जीवों को सामान्य से स्मृति कैसे होती है? वह बताते हैं -

सामान्येन तु सर्वेषां स्तनवृत्यादिचिह्नितम्।
अभ्यासातिशयात्स्वप्नवृत्तितुल्यं व्यवस्थितम्॥६१॥

अभ्यास के अतिशय से स्वप्न में वृत्ति के समान स्तनवृत्ति आदि रूप से चिह्नित ऐसा स्मरण सभी जीवों को

24 Wednesday
FEBRUARY
Week 8 055-311

सामान्य से तो रहा हुआ है।

अर्थात् परलोक से आए हुए सभी जीवों को भी स्तनपान इत्यादि वृत्ति रूप अनुभूत अर्थ का स्मरण स्वप्न में वृत्ति के समान होता ही है। जैसे दिन में बहुत विचारे हुए काम्य देवकुल-वन में घूमना वगैरह कार्य रात में स्वप्न में होते हुए दिखाई देते हैं, वैसे ही पूर्वभव अतिशय अभ्यस्त किए हुए कार्य इस भव में भी सामान्य से तो स्मरण में होते ही है।

अव. पु. स्वप्न की वृत्ति का तो बाद में भी स्मरण होता है किंतु भवान्तर संबंधी स्तनादिवृत्ति का यहाँ स्मरण नहीं होता तो इन दोनों (स्वप्नवृत्ति और स्तनवृत्ति) में दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक भाव कैसे है? —

कु. स्वप्ने वृत्तिस्तथाभ्यासाद्विशिष्टस्मृतिवर्जिता।
जाग्रतोऽपि ~~क्व~~ क्वचित्सिद्धा सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम् ॥62॥

इस प्रकार के अभ्यास से स्वप्न की वृत्ति जागते हुए पुरुष को कभी विशिष्ट स्मृति से रहित सिद्ध है, इस प्रकार सूक्ष्मबुद्धि से निरूपण करना ~~चाहिए~~।

अर्थात् कोई प्रवृत्ति ~~स्व~~ स्वप्न में इस प्रकार के मंद अभ्यास से हुई हो तो उसका विशिष्ट स्मरण जागते हुए पुरुष को नहीं होता है किंतु सामान्य से 'मैंने कुछ स्वप्न देखा' ऐसा स्मरण ही होता है। इसी प्रकार ~~स्तन~~ ~~वृत्ति~~ स्तनपान की प्रवृत्ति पूर्व भव के स्मरण से होती है किंतु जीव को ~~स~~ सामान्य से ही स्मरण होता है, '~~पूर्व~~ पूर्वभव के स्मरण से प्रवृत्ति हो रही है' ऐसा विशेष से स्मरण नहीं होता।
इस प्रकार सूक्ष्म बुद्धि से विचार करना, अन्यथा मात्र शब्द से तो ऐसा अर्थ नहीं मिलेगा।

MARCH 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
9		1	2	3	4	5	6
10	7	8	9	10	11	12	13
11	14	15	16	17	18	19	20
12	21	22	23	24	25	26	27
13	28	29	30	31	-	-	-

2016

अव. अन्य प्रकार से जातिस्मरण द्वारा आत्मादि की सिद्धि करते हैं —

श्रूयन्ते च महात्मान एते दृश्यन्ते इत्यपि।
क्वचित्संवादिनस्तत्साद्तत्सादेहन्त निश्चयः ॥63॥

जातिस्मरण वाले महात्मा सुने जाते हैं, कहीं संवादी देखे भी जाते हैं। अतः इससे आत्मादि का निश्चय होता है।

→ श्रूयन्ते = पूर्व की कथाओं में सुने जाते हैं। जैसे - भृगुकच्छ में पक्षी का जीव राजपुत्री सुदर्शना बना इत्यादि।
→ दृश्यन्ते = वर्तमान में साक्षात् देखे भी जाते हैं।

पूर्व की कथाओं में जातिस्मरण वाले महात्मा सुने जाते हैं और वर्तमान काल में देखे भी जाते हैं तथा जो वर्तमान में देखे जाते हैं, वे संवादी भी होते हैं अर्थात् पूर्व भव का स्मरण जैसा वे बताते हैं, वैसा ही वास्तव में वहाँ होता भी है। अतः इससे भी अतीन्द्रिय ऐसे आत्मा, कर्म आदि की सिद्धि होती है।

अब. निगमन करते हुए कहते हैं -

एवं च तत्त्वसंसिद्धेर्योग एव निबन्धनम्।
अतो यन्निश्चितैवेयं नान्यतस्त्वीदृशी क्वचित् ॥64॥

इस प्रकार तत्त्वसंसिद्धि का योग ही कारण है। इस योग से यह तत्त्वसंसिद्धि निश्चित ही होती है, अन्य से कभी भी ऐसी तत्त्व-संसिद्धि नहीं होती।

पूर्व में कहा कि योग से शुक्लस्वप्न द्वारा आत्मादि का निश्चय होता है इत्यादि। इस प्रकार योग ही तत्त्व की सिद्धि का कारण है; और इस योग से जो तत्त्वसिद्धि होती है, वह हमेशा निश्चित अर्थात् विपर्यासरहित ही होती है। अन्य किसी भी निमित्त से होने वाली तत्त्वसिद्धि ऐसी निश्चित, विपर्यासरहित नहीं होती।

26 Friday
FEBRUARY
Week 8 057-309

★ योग से शुक्ल स्वप्नादि निमित्तों द्वारा तत्त्वसिद्धि होती है किंतु। वास्तव में योग से आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है, वही तत्त्वसिद्धि है। ऐसी तत्त्वसिद्धि जिसे होती है, वह हमेशा इस विषय में संशयरहित हो जाता है क्योंकि उसे साक्षात् अनुभव ज्ञान है। अन्य वाद-प्रतिवाद, गुरु-उपदेशादि से तत्त्व की सिद्धि हो सकती है किंतु वह मात्र ज्ञान का विषय बनती है, अनुभव का नहीं। अतः उसमें संशय-विपर्यास भी हो सकता है।

अवि. अतोऽत्रैव महान् यत्नस्तत्तत्तत्त्वप्रसिद्धये।
प्रेक्षावता सदा कार्यो वादग्रन्थास्तत्कारणम्॥65॥

अतः उस-उस तत्त्व की प्रसिद्धि के लिए बुद्धिमान् पुरुष द्वारा योग में ही सदा महान् प्रयत्न करने योग्य है। वादग्रन्थ तो तत्त्वसिद्धि के लिए कारण नहीं है।

→ महान् = अन्य सभी कार्यों के प्रयत्न से अतिशय।

वादग्रंथ तो मात्र विकल्पों की जाल खड़ी कर परपक्ष के निराकरण पूर्वक स्वपक्ष का स्थापन में ही करते हैं। अतः वे अनुभवात्मक तत्त्व की सिद्धि के लिए कारण नहीं हैं।

अब. इसी बात का समर्थन करते हुए कहते हैं-

उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः।
अविद्योपहितापोच्चैर्मोहदीपसमं वचः॥66॥

तप से कल्मष (पाप) को नष्ट करने वाले ऐसे योग के मार्ग को जानने वालों के द्वारा अयोगी के हित के लिए मोह रूप अंधकार के लिए दीपक समान वचन कहे हैं।

→ योगमार्गज्ञ = पतंजलि वगैरह।

MARCH 2016
W M T W T F S S
9 1 2 3 4 5 6
10 7 8 9 10 11 12 13
11 14 15 16 17 18 19 20
12 21 22 23 24 25 26 27
13 28 29 30 31

2016

अब. उन्होंने क्या वचन कहा है, वही बताते हैं –

वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तो निश्चितांस्तथा।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद्गतौ ॥67॥

निश्चित वाद और प्रतिवादों को बोलते हुए दर्शनी तिल पीसने वाले बैल की तरह तत्त्व के अन्त को प्राप्ति में प्राप्त नहीं करते हैं।

→ वाद = पूर्वपक्ष। प्रतिवाद = अन्य द्वारा स्थापित पूर्वपक्ष का प्रतिवचन।
→ निश्चित = असिद्ध - अनैकान्तिक - विरुद्ध आदि हेत्वाभासों के परिहारपूर्वक)
→ तथा = उस-उस शास्त्र-दर्शन के आलंबन से।
→ तत्त्वान्त = तत्त्व की सिद्धि)

उस-उस दर्शन के आलंबन से

वाद और प्रतिवादों को हेतु के दोषों के परिहार पूर्वक निश्चित रूप से बोलते हुए भी वादी-प्रतिवादी तत्त्व-सिद्धि रूप तत्व के पार को प्राप्त नहीं करते। जैसे तिल को पीसने की चक्की में जोड़ा गया कोल्हू का बैल हमेशा घूमता ~~हुआ~~ रहने पर भी आँख बंद होने से कितना चला, इसका परिमाण नहीं जानता है; इसी प्रकार ये वादी-प्रतिवादी भी स्वपक्ष के अभिनिवेश से अन्ध होने के कारण बोलने पर भी तत्त्व को पार को नहीं पाते। यदि ये वादी-प्रतिवादी मुमुक्षु हैं, तो भी तर्क से तो वे तत्त्व के पार को नहीं पा सकते।

★ वाद-प्रतिवाद से कभी भी तत्त्व का निर्णय नहीं हो सकता। उससे 'यही दर्शन सही है, बाकी गलत' ऐसा निर्णय भी नहीं हो सकता। सभी दर्शन वाले अपने-अपने तर्क से अन्य दर्शन का खंडन कर ही देते हैं। (यह बात ग्रंथकार और टीकाकार खुद आगे गा. 304 में कहेंगे) मात्र अन्य दर्शनों की एकांत मान्यता का खंडन किया जा सकता है।

2016 वाद-प्रतिवाद में तो जिसके पास तर्क शक्ति, वाक्पटुता अधिक होती है, वह गलत पक्ष में होने पर भी जीत सकता है।

FEBRUARY 2016
W M T W T F S S
5 1 2 3 4 5 6 7
6 8 9 10 11 12 13 14
7 15 16 17 18 19 20 21
8 22 23 24 25 26 27 28
9 29

28 Sunday
FEBRUARY
Week 8 059-307

जैसे - रोहगुप्त तीन पदार्थ (जीव, अजीव, नोजीव) रूप गलत पक्ष की स्थापना करने के बावजूद भी तर्कशक्ति और वाक्पटुता अधिक होने से जीत गया। अतः वाद से भी तत्त्व का निर्णय नहीं हो सकता। इसीलिए ग्रंथकार ने गा.65 में कहा- ~~xxx~~ 'वादग्रन्थास्तत्त्वकारणम्'।

अव. यदि वाद से तत्त्वनिर्णय नहीं होता तो तत्त्व-निर्णय का उपाय क्या है? उ.—

अध्यात्ममत्र परम उपायः परिकीर्तितः।
गतौ सन्मार्गगमनं यथैव स्वप्रमादिनः॥68॥

तत्त्वनिर्णय में अध्यात्म ही परम उपाय कहा गया है। जैसे- गति (~~x~~गंतव्य की प्राप्ति) में अप्रमादी जीव का सन्मार्ग द्वारा गमन ही उपाय है।

→ परम = प्रकृष्ट।
→ सन्मार्ग= अविसंवादक ऐसे मार्ग से गमन।
→ अप्रमादी= यदि प्रमाद करेगा तो सही मार्ग होने पर भी गंतव्य प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसलिए अप्रमादी होना आवश्यक है।

अव. वाद से तत्त्व-सिद्धि नहीं होने से और अध्यात्म ही तत्त्व सिद्धि का परम उपाय होने से क्या करना चाहिए?—

मुक्त्वाऽतो वादसङ्घट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम्।
नाविधूते तमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते॥69॥

इस कारण से वादसंघट्ट को छोड़कर अध्यात्म का चिंतन करना चाहिए; क्योंकि तमःस्कंध हटाए बिना ज्ञेय में ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है।

MARCH 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
9		1	2	3	4	5	6
10	7	8	9	10	11	12	13
11	14	15	16	17	18	19	20
12	21	22	23	24	25	26	27
13	28	29	30	31			

वाद से तत्त्व-सिद्धि न होने से और अध्यात्म ही तत्त्वसिद्धि का परम उपाय होने से वादसंघट्ट ~~xx~~ को छोड़कर

2016

अध्यात्म का ही चिंतन करना चाहिए। क्योंकि जब तक मिथ्यात्व- अभिनिवेश आदि रूप अंधकार के समूह को अध्यात्म के पुनः पुनः चिंतन से दूर नहीं करेंगे तब ज्ञान (=अनुभव, प्रतीति रूप ज्ञान) आत्मा रूप ज्ञेय में प्रवृत्ति नहीं करेगा।

अव. इसी बात को विशेष से कहते हैं-

सदुपायाद् यथैवाप्तिरुपेयस्य तथैव हि।
नेतरस्मादिति प्राज्ञः सदुपायपरो भवेत् ॥७०॥

जैसे सदुपाय से उपेय की प्राप्ति होती है, वैसे ही अन्य उपाय से नहीं होती। अतः प्राज्ञ को सदुपाय में तत्पर होना चाहिए।

→ प्राज्ञ = युक्त - अयुक्त, सदुपाय- असदुपाय के भेद को जानने वाला।
→ सदुपायपर = सभी ओर से सोचकर सदुपाय में तत्पर होना चाहिए। यदि जानकर भी सदुपाय में तत्पर नहीं होता तो उसकी प्राज्ञता ही नहीं होती है।

सदुपायश्च नाध्यात्मादन्यः सन्दर्शितो बुधैः।
दुरापं किन्त्वदोऽपीह भवाब्धौ सुष्ठु देहिनाम् ॥७१॥

अध्यात्म से अन्य कोई सदुपाय बुध पुरुषों द्वारा नहीं दिखाया गया है। किंतु यह अध्यात्म भी देही जीवों को संसारसमुद्र में अत्यंत दुर्लभ है।

तत्त्वप्रतीति की तो क्या बात! अध्यात्म भी यहाँ संसार समुद्र में जंतुओं को अत्यंत दुर्लभ है।

अव. अध्यात्म की दुर्लभता ही बताते हैं-

चरमे पुद्गलावर्ते यतो यः शुक्लपाक्षिकः।
भिन्नग्रन्थिश्चरित्री च तस्यैवैतदुदाहृतम् ॥७२॥

यह अध्यात्म दुर्लभ है क्योंकि अंतिम पुद्गलावर्त में जो शुक्लपाक्षिक

FEBRUARY 2016
W M T W T F S S
5 1 2 3 4 5 6 7
6 8 9 10 11 12 13 14
7 15 16 17 18 19 20 21
8 22 23 24 25 26 27 28
9 29

Notes

भिन्नग्रंथिवाले और चारित्र वाले जीव ~~को~~ ही हैं, उसे ही यह (अध्यात्म) कहा गया है।

→ शुक्लपाक्षिक = जिसका अर्ध पुद्गलावर्त से न्यून संसार बाकी होगा।
जेसिं अवड्ढपुग्गलपरियट्टो सेसओ उ संसारो।
ते सुक्कपक्खिया खलु अहिगे पुण किण्हपक्खिति॥

→ भिन्नग्रंथि= उसमें भी जो भिन्नग्रंथि हैं, उन्हें ही अध्यात्म प्राप्त होता है। अपूर्वकरण रूप वज्र के प्रहार से फाड़ दी है घन राग-द्वेष-मोह के परिणाम रूप ग्रंथि जिसने, वह भिन्नग्रंथि।

→ चरित्री= उसमें भी जो चरित्री हैं; उन्हें ही अध्यात्म प्राप्त होता है। जो देश से या सर्व से सावद्याचार से निवृत्त है।

अव. इनसे अन्य जीवों को क्यों अध्यात्म की प्राप्ति नहीं ~~है~~ होती-

प्रदीर्घभवसद्भावाद् मालिन्यातिशयात्तथा।
अतत्त्वाभिनिवेशाच्च नान्योऽन्यस्य जातुचित्॥73॥

लंबा संसार बाकी होने से, अतिशय मलिनता होने से और अतत्त्व में अभिनिवेश होने से अन्य पुद्गलपरावर्तों में अन्य जीव को कभी भी अध्यात्म प्राप्त नहीं होता।

→ मालिन्यातिशय = भव्यत्व के अपरिपाक रूप मलिनता।

→

अव. पु. क्या अन्य भी पुद्गलपरावर्त हैं? उ.—

अनादिरेष संसारो नानागतिसमाश्रयः।
पुद्गलानां परावर्ता अत्रानन्तास्तथा मताः॥74॥

अनेक गति के आश्रय रूप यह संसार अनादि है। यहाँ पुद्गलों के अनंत परावर्त माने गए हैं।

→ अनादि= जिसका कोई मूल, आरंभ नहीं है।

Notes

अव. ये अनंत पुद्गलपरावर्त किनके होते हैं ? —

सर्वेषामेव सत्त्वानां तत्स्वाभाव्यनियोगतः।
नान्यथा संविदेतेषां सूक्ष्मबुद्ध्या विभाव्यताम् ॥75॥

सभी जीवों के तत्त्वभाव के कारण ही सभी जीवों के अनंत पुद्गलपरावर्त हो चुके हैं। यदि ऐसा न मानो तो इन अनंत पुद्गलपरावर्तों का संविद् (ज्ञान, भवबोध) घटित नहीं होगा। इस प्रकार सूक्ष्म बुद्धि से विचारना।

सभी जीवों की वैसी योग्यता, स्वभावता से ही सभी के अनंत पुद्गलपरावर्त हैं। यदि सभी जीव की योग्यता को कारण नहीं मानोगे तो इन अनंतपुद्गलपरावर्तों का बोध घटित नहीं होगा।

अव. इसी बात की विचारणा करते हैं —

यादृच्छिकं न यत्कार्यं कदाचिज्जायते क्वचित्।
सत्त्वपुद्गलयोगश्च तथा कार्यमिति स्थितम् ॥76॥

क्योंकि कहीं भी कभी भी यादृच्छिक कार्य नहीं होता है और जीव-पुद्गल का योग भी वैसा ही कार्य है, ऐसा सिद्ध हुआ।

जगत् में कभी भी कहीं भी क यादृच्छिक कार्य नहीं होता है अर्थात् कारण से निरपेक्ष, कारण बिना कोई भी कार्य नहीं होता। और जीव और पुद्गल का योग भी कार्य ही है, अतः उसका कुछ-न-कुछ कारण तो होगा ही। वह कारण उस जीव की योग्यता के सिवाय अन्य नहीं हो सकता क्योंकि जीव की योग्यता के बिना कर्म का बंध घटित नहीं होता। जीव की योग्यता अनादि है, ऐसा पहले गा. 10 वगैरह में सिद्ध कर चुके हैं। अतः कर्मबंध अनादि होने से सभी जीवों ने अनंत पुद्गल परावर्त पसार किए हैं, ऐसा सिद्ध हुआ।

श्लो. 76 में रहे 'यत्' पद का संबंध श्लो. 75 के साथ है, दोनों श्लोकार्थ

को जोड़कर पढ़ना।

अव. जीव की स्वभावता (योग्यता) की ही विचित्रता कहते हैं-

चित्रस्यास्य तथाभावे तत्स्वाभाव्यादृते परः।
न कश्चिद्धेतुरेवं च तदेव हि तथेष्यताम् ॥77॥

विचित्र ऐसे इस कार्य के तथाभाव (वैसा होने) में जीव के स्वभाव के अलावा अन्य कोई हेतु नहीं है। इस प्रकार उस कार्य को उसी प्रकार मानो।

→ अस्य = पुद्गलपरावर्त रूप कार्य।
→ तथाभाव = उस प्रकार होने में। अर्थात् सभी जीव का अलग-अलग होने में।
→ तथा = विचित्र रूप।

सभी जीव के अलग-अलग काल, पुद्गलपरावर्त में भिन्न-भिन्न कार्य हुए हैं। जितने जीव मोक्ष में गए हैं, उनके भी संसार में ~~कम~~ न्यून-अधिक पुद्गलपरावर्त हुए हैं। अतः ऐसे अनंत पुद्गल-परावर्त रूप विचित्र कार्य का उस जीव की योग्यता के अलावा अन्य कोई हेतु नहीं हो सकता। जिस जीव की जैसी योग्यता थी, उसे वैसे निमित्त से सम्यग्दर्शनादि प्राप्त होकर वह मोक्ष में गया। इस प्रकार सभी जीव के भिन्न-भिन्न पुद्गलपरावर्त रूप कार्य विचित्र होने से उसके कारण रूप जीव के स्वभाव को भी विचित्र मानना पड़ेगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि सभी जीवों की योग्यता भी वैसी ही विचित्र है।

अव. इस प्रकार स्वभाव को ~~ही~~ कारण मानने पर परमत की शंका कर उसका निवारण करते हुए कहते हैं-

स्वभाववादापत्तिश्चेदत्र को दोष उच्यताम्।
तदन्यवादाभावश्चेन्न तदन्याऽनपोहनात् ॥78॥

2 Wednesday
MARCH

यदि पूर्वपक्षी कहे कि आपको स्वभाववाद की आपत्ति है तो इसमें क्या दोष है?, वह कहो। यदि पूर्वपक्षी कहे कि स्वभाव से अन्य वाद का अभाव ही दोष है तो हमें वह दोष नहीं है क्योंकि स्वभाव से अन्य का अनपोहन है।

→ अनपोहन = अनिराकरण।

इस प्रकार जीव के स्वभाव को संसार का कारण मानने पर यदि पूर्वपक्षी कहे कि आपके मत में स्वभाववाद की आपत्ति है अर्थात् 'काँटों की तीक्ष्णता को कौन करता है? पशु-पक्षियों के विचित्रभाव को कौन करता है? यह सब स्वभाव से ही प्रवृत्त है। ~~इस~~ यह किसी की इच्छानुसार नहीं होता, इसमें कोई प्रयत्न भी नहीं कर सकता।' इस प्रकार जो मत सभी कार्यों का कारण ~~मात्र~~ स्वभाव को ~~ही~~ मानता है, आपको भी वैसी ही आपत्ति आएगी। तो हमारा उसे प्रश्न है कि जगत् में कोई भी कार्य उस-उस द्रव्य के स्वभाव के बिना नहीं होता तो स्वभाव को कारण मानने के में क्या दोष है? वह आप दिखाओ, कहो।

यदि पूर्वपक्षी पुनः कहेगा कि मात्र स्वभाव को ही कारण मानने पर स्वभाव से अन्य वादों (नियति आदि) का अभाव हो जाएगा, यही आपके मत में आपत्ति है। तो हमारा उसे जवाब है कि हम मात्र स्वभाव को ही कारण नहीं मानते, स्वभाव को भी कारण मानते हैं। अतः स्वभाव से अन्य कारणों का हमने अपोह/निराकरण नहीं करते हैं, उन कारणों को भी हम सापेक्षतया कारण रूप में स्वीकारते ही हैं। अतः आपके द्वारा दिखाया गया दोष हमारे मत में नहीं होगा।

APRIL 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
13					1	2	3
14	4	5	6	7	8	9	10
15	11	12	13	14	15	16	17
16	18	19	20	21	22	23	24
17	25	26	27	28	29	30	-

अब. इसी बात की विचारणा करते हैं- 2016

★ हम स्वभावादि सभी (पाँचों समवाय) को कारण रूप स्वीकारते

हैं, ऐसा आगम और युक्ति दोनों से सिद्ध करते हैं—

कालादिसचिवश्चायमिष्ट एव महात्मभिः।
सर्वत्र व्यापकत्वेन न च युक्त्या न युज्यते ॥७९॥

सभी कार्यों में व्यापक रूप से कालादि की सहायता वाला यह स्वभाव महात्माओं द्वारा सम्मत ही है और यह स्वभाव (कालादि की सहायता युक्त) युक्ति से घटित नहीं होता है, ऐसा नहीं है।

→ महात्मा = सिद्धसेन दिवाकर सूरि म., मल्लवादी सूरि म. इत्यादि हमारे पूज्य आचार्य।
→ व्यापकत्व = सभी कार्यों में व्यापक रूप से इष्ट है, संपूर्णतया कोई भी अपवाद बिना इष्ट है।

यह कारण मात्र इष्ट है, ऐसा नहीं है किंतु युक्तियुक्त भी है, युक्ति से घटित भी होता ही है।

अब. युक्ति बताते हैं—

तथात्मपरिणामात्तु कर्मबन्धस्ततोऽपि च।
तथा दुःखादि कालेन तत्स्वभावादृते कथम् ॥८०॥

उस प्रकार के आत्म परिणाम से ही कर्मबंध होता है। उससे दुःखादि होता है। वह काल द्वारा जीव के स्वभाव बिना कैसे हो सकता है?

जीव के उस प्रकार के आत्मपरिणाम से ही कर्मबंध होता है। कर्मबंध से उस प्रकार का दुःख-सुख रूप कार्य उत्पन्न होता है। यह कार्य उसके शीत-वर्षादि रूप काल की परिपक्वता के बिना और जीव के स्वभाव के बिना कैसे हो सकता है! अर्थात् कहने का आशय यह है कि जीव की वैसी स्वभावता होने पर स्वयं के परिणाम से ही कर्म बंधकर उस प्रकार के काल के बल से सुख-दुःख का भागी होता है।

4 Friday
MARCH

Week 9 064-302

* इस दृष्टांत में ग्रंथकार ने सभी कारणों का समावेश कर लिया है — जीव की योग्यता होने से (1) स्वभाव, काल की परिपक्वता से (2) काल, कर्म के उदय से (3) कर्म, स्वयं के परिणाम से (4) पुरुषार्थ और इन सभी कारणों का एक साथ इकट्ठा होना (5) नियति (??)।

अ. इस प्रकार ~~भी स्वभा~~ सभी कार्य स्वभाव के आधीन होने पर —

वृथा कालादिवादश्चेन्न तद्बीजस्य भावतः।
अकिंचित्करमेतच्चेन्न स्वभावोपयोगतः ॥8॥

यदि पूर्वपक्षी कहे कि कालादिवाद व्यर्थ होंगे तो ऐसा नहीं है क्योंकि कालादि का बीज विद्यमान है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि वह बीज अकिंचित्कर है तो ऐसा भी नहीं है क्योंकि स्वभाव में उपयोग है।

ग्रंथकार भ. ने श्लो. 80 में सभी कारणों का समावेश किया किंतु मुख्यता पुनः स्वभाव को ही दी क्योंकि लिखा है दुःखादि जीव को उसके स्वभाव के बिना नहीं होते। अतः पूर्वपक्षी शंका करता है कि इस प्रकार स्वभाव को मुख्य मानने पर कालादि कारणवाद व्यर्थ हो जाएँगे। तो ग्रंथकार उत्तर देते हैं कि सभी कार्य उक्तरूप से स्वभाव के आधीन होने पर भी कालादि कारण व्यर्थ नहीं होंगे क्योंकि स्वभाव उपादान कारण है तो कालादि निमित्त/सहकारि कारण हैं। अतः कार्य स्वभाव के आधीन होने पर भी कालादि कारण के बीज स्वभाव में शक्तिरूप में विद्यमान हैं अर्थात् स्वभाव को जब सहकारि कारणों का साथ मिलता है तभी कार्य होता है, अकेले स्वभाव से कार्य नहीं होता। अतः आपकी शंका उचित नहीं है।

पुनः पूर्वपक्षी शंका करता है कि कालादि कारण ~~अ~~ शक्तिरूप में है ही नहीं। कार्य तो स्वभाव से ही होता है। अतः ये कालादि का बीज अकिंचित्कर है। तो ग्रंथकार कहते हैं कि आपकी यह आपत्ति भी सही नहीं है क्योंकि कार्य उपादान

APRIL 2016
W M T W T F S S
13 1 2 3
14 4 5 6 7 8 9 10
15 11 12 13 14 15 16 17
16 18 19 20 21 22 23 24
17 25 26 27 28 29 30
2016

कारण में होता है किंतु निमित्त कारणों का सहकार अवश्य होता है। कार्य स्वभाव से स्वतः ही प्रवृत्त होता है किंतु जब तक सहकारि कालादि कारण सहकार नहीं करते तब तक कार्य नहीं होता। जैसे- मिट्टी से घड़ा बनता है इसमें मिट्टी उपादान कारण है अतः मिट्टी की योग्यता से ही घड़ा बनता है। किंतु जब तक सहकारि कारण चक्र-चीवरादि व्यापार नहीं करते तब तक मिट्टी घड़ा नहीं बन सकती। अतः निमित्त कारण भले बाह्य व्यापार करता है किंतु कार्य का कारण तो वह भी अवश्य है।

अब. इसी बात की विचारणा करते हैं-

सामग्र्याः कार्यहेतुत्वं तदन्याभावतोऽपि हि।
तदभावादिति ज्ञेयं कालादीनां नियोगतः॥82॥

परिणामी कारण (तद्) से अन्य का अभाव होने से कार्य (तद्) का अभाव होता है, इस प्रकार सामग्री ही कार्य का हेतु है, ऐसा जानना। प्रस्तुत कार्य भी कालादि के व्यापार से होता है।

→ सामग्री = सभी कारणों के संयोग रूप, उपादान (परिणामी) कारण + निमित्त (सहकारि) कारण।
→ तद् = परिणामी कारण।
→ तद् = कार्य।
→ नियोग = व्यापार।

परिणामी कारण से अन्य ऐसे निमित्त कारणों का अभाव होने से कार्य का भी अभाव हो जाता है। जैसे- परिणामी कारण मिट्टी हो, किंतु सहकारि कारण दंडादि न हो तो कार्य घट नहीं होता। इस प्रकार परिणामी कारण से अन्य सहकारि कारणों के अभाव से कार्य का भी अभाव होने से यह सिद्ध हो जाता है कि सामग्री ही कार्य का कारण है।

6 Sunday
MARCH

Week 9 066-300

इस तरह प्रस्तुत अनंत पुद्गलपरावर्त रूप कार्य (देखें Pg. 58) भी जीव का स्वभाव होने पर कालादि सहकारि कारण के व्यापार से होता है।

एतच्चान्यत्र महता प्रपञ्चेन निरूपितम्।
नेह प्रतन्यतेऽत्यन्तं त्वेशतस्तूक्तमेव हि ॥४३॥

यह 'सामग्री ही कार्य का हेतु है' ऐसा सामग्रीकारणवाद अन्यत्र शास्त्रवार्ता समुच्चयादि ग्रंथों में बहुत विस्तार से निरूपित किया गया है। अतः यहाँ उसका अत्यंत विस्तार नहीं किया, ~~च~~ संक्षेप में तो कह ही दिया है।

कृतमत्र प्रसङ्गेन प्रकृतं प्रस्तुमोऽधुना।
नाध्यात्मं योगभेदत्वादावर्तेष्वपरेष्वपि ॥४५॥

यहाँ ~~इस~~ यह प्रसंग पर्याप्त है। अब हम प्रारंभ की हुई बात प्रस्तुत करते हैं। अध्यात्म योग का भेद होने से अन्य आवर्तों में नहीं होता है।

श्लो. 68 (Pg. 56) में अध्यात्म की बात का प्रारंभ किया था। पुनः उसी बात को कहते हैं– अध्यात्म योग के पाँच भेदों में से एक भेद है (गा. 31 Pg. 35)। यह जीव को चरमावर्त में ही प्राप्त होता है (गा. 72 Pg. 57)। अतः चरमावर्त से पहले के आवर्तों में यह अध्यात्म जीव को प्राप्त नहीं होता।

अब. अचरमावर्त में जीव को अध्यात्म की प्राप्ति न होने का कारण–

तीव्रपापाभिभूतत्वाज्ज्ञानलोचनवर्जिताः।
सद्वर्त्मवितरन्त्येषु न सत्त्वा गहनान्धवत् ॥४५॥

इन अचरमावर्तों में तीव्र पाप से अभिभूत होने के कारण ज्ञान रूपी चक्षु से रहित जीव ~~ग~~ गाढ़ अंध की तरह सत्पथ पर नहीं आते हैं।

APRIL 2016
W M T W T F S S
13 1 2 3
14 4 5 6 7 8 9 10
15 11 12 13 14 15 16 17
16 18 19 20 21 22 23 24
17 25 26 27 28 29 30 -

→ तीव्रपापाभिभूत = अतिदारुण ऐसे मिथ्यात्व मोहनीयादि कर्म से परतंत्र होने के कारण।
→ ज्ञानलोचनवर्जित = युक्त-अयुक्त के विवेक में निपुण ऐसे संवेदन रूप नयन से रहित।
→ गहनान्धवत् = महा अटवी में पड़े हुए जन्मान्ध की तरह।

अव. ये जीव ऐसे क्यों होते हैं? —

भवाभिनन्दिनः प्रायस्त्रिसंज्ञा एव दुःखिताः।
क्वचिद्धर्मकृतोऽपि स्युर्लोकपङ्क्तिकृतादराः ॥86॥

ये जीव भवाभिनंदी, प्रायः त्रिसंज्ञा वाले, दुःखी होते हैं। कुछ जीव धर्म करने वाले भी होते हैं किंतु लोक पंक्ति में आदर वाले होते हैं।

→ भवाभिनंदी = जन्म-जरा-मरणादि उपद्रवों के रूप वायु से कंपते ऐसे संसार की इच्छा करने के स्वभाव वाले।
→ त्रिसंज्ञा = आहार-भय-परिग्रह संज्ञा वाले। मैथुनसंज्ञा अव्यक्त अवस्था में कभी किसी-किसी को ही होने से ऐसा कहा है।
→ दुःखी = दुःख को दूर करने वाला विवेक स्वप्न में भी न होने से लगातार दुःख भोगने वाले।
→ धर्मकृत् = लौकिक या लोकोत्तर प्रव्रज्यादि धर्म करने वाले।
→ लोकपंक्तिकृतादर = लोक के समान भाव का संपादन करना लोकपंक्ति। उसमें प्रयत्न करने वाले। (~~स्पष्टता~~ को स्पष्टता शलो. 88 में)

अचरमावर्त के जीव ऐसे होते हैं।

अव. भवाभिनंदी के स्वरूप को कहते हैं —

क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसङ्गतः ॥87॥

MARCH 2016
W M T W T F S S
9 1 2 3 4 5 6
10 7 8 9 10 11 12 13
11 14 15 16 17 18 19 20
12 21 22 23 24 25 26 27
13 28 29 30 31

क्षुद्र, लाभ में रति वाला, दीन, मत्सरी, भयवान्, शठ, अज्ञ और

8 Tuesday
MARCH

Week 10 068-298

निष्फल आरंभ से युक्त जीव भवाभिनंदी होता है।

→ क्षुद्र = कृपण।
→ लाभरति = माँगने के स्वभाव वाला।
→ दीन = कभी भी कल्याण प्राप्त नहीं किया है जिसने।
→ मत्सरी = दूसरे के कल्याण (सुख) से दुःखी, ईर्ष्यालु।
→ भयवान् = हमेशा डरा हुआ।
→ शठ = मायावी।
→ अज्ञ = मूर्ख।
→ निष्फलारम्भ = सभी जगह अतत्त्व के कदाग्रह से निष्फल क्रिया करने वाला।

ऐसा जीव संसार को ही चाहने के स्वभाव वाला होता है। कहा गया है कि - दही, दूध, पानी, तांबूल, पुष्प, वेश्या आदि से असार ऐसा संसार भी इस जीव के द्वारा सारभूत देखा जाता है।

अब लोकपंक्ति का स्वरूप -

लोकाराधनहेतोर्या मलिनेनान्तरात्मना।
क्रियते सत्क्रिया साऽत्र लोकपङ्क्तिरुदाहृता ॥88॥

मलिन ऐसे अन्तरात्मा द्वारा लोक की आराधना के हेतु से जो सत्क्रिया की जाती है, वह यहाँ लोकपंक्ति कही गई है।

कीर्ति की स्पृहा आदि मलिनता वाले चित्त रूप अन्तरात्मा द्वारा लोगों का चित्त आकर्षित करने के लिए जो सत्क्रिया की जाती है, वह क्रिया योगशास्त्रों द्वारा यहाँ लोकपंक्ति कही गई है।

अब इस लोकपंक्ति को दुष्ट बताते हुए कहते हैं -

APRIL 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
13					1	2	3
14	4	5	6	7	8	9	10
15	11	12	13	14	15	16	17
16	18	19	20	21	22	23	24
17	25	26	27	28	29	30	-

2016

भवाभिनन्दिनो लोकपङ्क्त्या धर्मक्रियापि।
महतो हीनदृष्ट्योच्चैर्दुरन्तां तद्विदो विदुः ॥७७॥

भवाभिनंदी की लोकपंक्ति से की गई महान् ऐसे धर्म की क्रिया को भी विद्वान् हीनदृष्टि से अत्यंत दुरन्त कहते हैं।

→ हीनदृष्टि = बुद्धिमानों के लिए अत्यंत अनादेय ऐसे कीर्ति आदि के हेतु से ~~किया~~ की गई धर्मक्रिया को विद्वान् हीन ही मानते हैं, देखते हैं।

→ दुरन्त = दारुण, भयंकर परिणाम वाली।

मात्र लोकपंक्ति के लिए की गई धर्म क्रिया को भी विद्वान् हीनदृष्टि से देखते हैं और अत्यंत दारुण परिणाम वाली कहते हैं। अतः लोकपंक्ति त्याज्य ही है।

अब. यह लोकपंक्ति भी विवेकी जीव के लिए सुंदर परिणाम वाली होती है, ऐसा कहने की इच्छा वाले ग्रंथकार कहते हैं:-

धर्मार्थं लोकपङ्क्तिः स्यात्कल्याणाङ्गं प्रशस्तधीः।
तदर्थं तु पुनर्धर्मः पापायाल्पधियामलम् ॥७०॥

प्रशस्तबुद्धि वाला जीव धर्म के लिए लोकपंक्ति का आदर करता है तो कल्याण का अंग है। अल्पबुद्धि वाले जीव लोकपंक्ति के लिए धर्म करता है तो वह अत्यंत पाप के लिए होता है।

सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के बीजाधान के लिए की जाने वाली दान-सम्मानादि लोकपंक्ति प्रशस्तबुद्धि वाले जीव को कल्याण का कारण ही बनती है। इसीलिए कहा गया है- धर्म की प्रशंसा आदि से बीजाधान आदि होने द्वारा सद्धर्म की सिद्धि रूप फल को देने वाला शुद्ध जनप्रियत्व योग्य है, उचित है। (षोडशक ५/७)

किंतु यदि लोकपंक्ति के लिए ही धर्म किया जाए तो वह तुच्छ बुद्धि वाले मूढ़ पुरुषों के लिए अत्यंत पापकर्म का

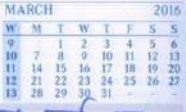

निमित्त है।

अव. इसमें कुछ विशेष कहते हैं-

लोकपङ्क्तिमतः प्राहुरनाभोगवतो वरम् ।
धर्मक्रियां न महतो हीनताऽत्र यतस्तथा ॥9॥

क लोकपंक्ति वाले जीव से अनाभोग से धर्म करने वाले की धर्मक्रिया को अच्छी कहते हैं क्योंकि इस धर्मक्रिया में महान् धर्म की उस प्रकार से हीनता नहीं होती।

→ अनाभोग वाला = संमूर्च्छन जैसे स्वभाव से ही विनय युक्त प्रकृति वाले जीव की।

लोकपंक्ति तीन प्रकार से होती है -
1. कीर्ति आदि की स्पृहा से लोक के चित्त को आकर्षित करने के लिए धर्मक्रिया करना। (गा. 88-9)
2. अन्य जीव को बीजाधानादि कराने के निमित्त से उन जीवों के साथ संभाषणादि करना। (गा. 90)
3. लोक जैसी धर्मक्रिया करता है, वैसी धर्मक्रिया करना। (गा. 91)

तीसरे प्रकार की लोकपंक्ति वाले जीव अनाभोग वाले होते हैं अर्थात् संमूर्च्छन जीव क जैसे कुछ विचार नहीं करते और स्वाभाविक रूप से ही ~~वि~~ विनय युक्त प्रकृति वाले होते हैं। इनका चित्त कीर्ति की स्पृहा आदि प्रतिबिंबित भी नहीं होता और अन्य को बीजाधानादि हो, ऐसी प्रशस्त बुद्धि भी नहीं होती। ये जीव मात्र लोक के अनुसरण से धर्मक्रिया करते जाते हैं। इनकी धर्मक्रिया को योगज्ञ विद्वान् पहले प्रकार की लोकपंक्ति वाले जीवों की क्रिया से अच्छी कहते हैं, क्योंकि इस क्रिया में महान् ऐसे धर्म की हीनता वैसी नहीं होती जैसी पहले प्रकार के जीवों की क्रिया से होती है।

2016

इस प्रकार संक्षेप में ऊपर लिखे हुए तीन प्रकार के लोकपंक्ति वाले

जीवों की क्रिया में श्रेष्ठ दूसरे प्रकार के जीवों की क्रिया है, फिर तीसरे प्रकार के जीवों की, फिर पहले प्रकार के जीवों की क्रिया हीन है।

★ मूल में 'लोकपंक्तिमतः' पद का अर्थ 'पहले प्रकार की लोकपंक्ति वाले जीव' करना, पंचमी विभक्ति। तीसरे प्रकार की लोकपंक्ति वाले जीवों को ग्रंथकार ने 'अनाभोग वाले' कहा है। लोकपंक्तिमतः और अनाभोगवतः पदों को विशेषण-विशेष्य नहीं लेना। अर्थ- लोकपंक्ति वाले जीव से अनाभोग वाले जीव की क्रिया को अच्छी कहते हैं।
यदि विशेष्य-विशेषण लेंगे तो लोकपंक्ति का अर्थ जो टीकाकार ने 'लोकचित्ताराधनप्रधानस्य' किया है, वह तीसरे प्रकार के जीवों में नहीं घटेगा।

तत्त्वेन तु पुनर्नैकाप्यत्र धर्मक्रिया मता।
तत्प्रवृत्त्यादिवैगुण्यात्क्षोभक्रोधक्रिया यथा ॥92॥

तात्त्विक रीति से तो यहाँ (भवाभिनंदीपन में) एक भी धर्मक्रिया नहीं मानी गई है क्योंकि धर्म की प्रवृत्ति आदि का यहाँ अभाव है। जैसे- लोभ और क्रोध की क्रिया।

→ अत्र = मलिनान्तरात्मा (गा. 88-9) और अनाभोग वाले पुरुष (गा. 91) में कही गई क्रिया में।
→ तत्प्रवृत्त्यादिवैगुण्यात् = धर्म की प्रवृत्ति-विघ्नजय-सिद्धि-विनियोग का अभाव होने से।

गा. 88-9 में कही गई मात्र लोकरंजन के लिए की जाने वाली क्रिया और गा. 91 में कही गई अनाभोग वाली क्रिया

MARCH 2016
W M T W T F S S
9 1 2 3 4 5 6
10 7 8 9 10 11 12 13
11 14 15 16 17 18 19 20
12 21 22 23 24 25 26 27
13 28 29 30 31

2016 इन दोनों क्रिया में से एक भी क्रिया तात्त्विक रीति से धर्म क्रिया नहीं कही गई है क्योंकि इन दोनों क्रियाओं में

12 Saturday
MARCH
Week 10 072-294

प्रवृत्ति - विघ्नजय - सिद्धि - विनियोग रूप योग की सफलता के चिह्न का अभाव है। अतः जैसे मिथ्यादृष्टि जीव की लोभ और क्रोध की क्रिया होती है, वैसे ही उस जीव की ये धार्मिक क्रियाएँ भी होती हैं। अर्थात् इनके परिणाम में कुछ अंतर नहीं होता, दोनों क्रियाओं से उसके संसार की वृद्धि ही होती है।

* टीकाकार ने यहाँ 'अत्र' पद से दो प्रकार की क्रियाएँ ही ली है किंतु वास्तव में सभी मिथ्यादृष्टि जीव की सभी क्रियाएँ तात्त्विक रीति से धर्मक्रिया नहीं है, ऐसा अभिप्राय लगता है क्योंकि ग्रंथकार भ. ने ही योगदृष्टिसमुच्चय में क प्रथम चार दृष्टि में द्रव्यक्रिया का ही स्वीकार किया है तथा भावक्रियाँ पाँचवीं दृष्टि से ही प्राप्त होती है। * Pg. No. 72 पर देखें।

अब. निगमन करते हुए कहते हैं—

तस्माच्चरमावर्तेष्वध्यात्मं नैव युज्यते।
कायस्थितितरोर्यद्वत्तज्जन्मस्वामरं सुखम् ॥९३॥

इस कारण से अचरमावर्तों में अध्यात्म घटित नहीं होता। जैसे कायस्थिति वाली वनस्पति को उस वनस्पति के जन्मों में ही देवसंबंधी सुख घटित नहीं होता।

→ तस्मात् = तात्त्विक ~~रीती~~ रीति से अचरमावर्त में एक भी धर्मक्रिया न होने से।
→ कायस्थितितरु = स्वयं की कायस्थिति (अनंत उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी) प्रमाण काय वनस्पति में काय में ही स्थिति करने वाले वनस्पतिकाय के जीव को।
→ तज्जन्मसु = वनस्पतिकाय के जन्मों में।

अचरमावर्त में / मिथ्यादृष्टि अवस्था में तात्त्विक रीति से एक भी धर्मक्रिया न होने से अचरमावर्तों में अध्यात्म

धारित नहीं होता है। जैसे - स्वयं की अनंत उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण कायस्थिति जितने काल तक वनस्पति काय में ही उत्पन्न होने वाले जीव को ~~उन~~ उन जन्मों में देवसंबंधी सुख धारित नहीं होता। ~~जैसे~~ ₹

★ यहाँ टीकाकार ने उपर्युक्त वनस्पति जीवों को दैवी सुख के अभाव का कारण अणुव्रत-महाव्रत का अभाव लिखा है किंतु दैवी सुख का कारण ~~शुभ~~ शुभराग या मंद कषाय है क्योंकि अणुव्रतादि तो युगलिक मनुष्य-तिर्यंचों को भी नहीं होते किंतु वे मात्र मंदकषाय से देवगति में जाते हैं।

★ टीकाकार ने ~~जो~~ जो दैवी अणुव्रतादि को दैवी सुख का कारण कहा ~~है~~ है, वह तो देवायुष्य का कारण है किंतु ग्रंथकार ने तो उसी जन्म में (तज्जन्मस्तु) दैवी सुख का अभाव बताया है तथा टीकाकार ने भी 'तज्जन्मस्तु' का अर्थ 'वनस्पति जन्मसु' ही किया है। अतः यह विरोधाभास भासित होता है।

★ (Pg. 71 पर गा. 92 के last में जोड़ना) यहाँ 'अत्र' पद से अचरमावर्त का भी ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि यह चर्चा मूल 'अचरमावर्त में अध्यात्म नहीं होता' (गा. 84 उत्तरार्ध Pg. 65) से चालू हुई थी तथा इस गा. 92 में भी ग्रंथकार का आशय यही लगता है तात्त्विक ही रीति से तो अचरमावर्त में एक भी धर्मक्रिया नहीं होती; लोकपंक्ति से ही धर्मक्रिया होती है। तथा गा. 94 में भी ग्रंथकार अचरमावर्त में ही योग की असंभवता दिखा रहे हैं।

तैजसानां च जीवानां भव्यानामपि नो तदा।
यथा चारित्रमित्येवं नान्यदा योगसम्भवः॥94॥

2016 जैसे अग्निकाय के भव्य जीवों को भी उसी भव में चारित्र संभव नहीं है, इसी तरह अन्य आवर्तों में योग का

14 Monday
MARCH

संभव नहीं है।

→ च शब्द से वायुकाय के जीव।

तृणादीनां च भावानां योग्यानामपि नो यथा।
तथा घृतादिभावः स्यात् तद्वद् योगोऽपि नान्यदा॥७५॥

जैसे योग्य भी तृणादि पदार्थों का उसी समय घृतादि भाव नहीं होता, वैसे अन्य आवर्तों में योग भी नहीं होता।

नवनीतादिकल्पस्तत्तद्भावेऽत्र निबन्धनम्।
पुद्गलानां परावर्तश्चरमो न्यायसङ्गतम्॥७६॥

यहाँ (योगमार्ग में) चरम पुद्गलपरावर्त उस-उस के होने में नवनीतादि की तरह कारण है, यह न्याय से संगत है।

जैसे तृण से घी बनने में बीच वाली दही, दूध, मक्खन वगैरह अवस्थाएँ कारण हैं, वैसे ही योगमार्ग में अध्यात्मादि की प्राप्ति में चरम पुद्गलपरावर्त कारण है।

★ तुलना - देवचंद्रजी कृत अरनाथ भ. के स्तवन में बताए गए चार कारण।

अत एवेह निर्दिष्टा पूर्वसेवापि या परैः।
साऽऽसन्नाऽन्यगता मन्ये भवाभिष्वङ्गभावतः॥७७॥

इसी कारण से यहाँ (योगविचार में) अन्य दर्शनियों द्वारा जो पूर्वसेवा निर्दिष्ट की गई है, वह पूर्वसेवा आसन्न ऐसे अन्य परावर्त में होती है क्योंकि उसमें संसार का राग होता है, ऐसा मैं मानता हूँ।

चरमावर्त में ही अध्यात्म की प्राप्ति होने से यहाँ योग मार्ग में जो पूर्वसेवा = यम-नियम की आराधनारूप कापिलादि

अन्य दर्शनियों द्वारा निर्दिष्ट की गई है, वह पूर्वसेवा चरमावर्त के नज़दीक वाले किसी अन्य परावर्त में होती है किंतु चरमावर्त में नहीं, ऐसा मैं (ग्रंथकार हरिभद्र सू.) मानता हूँ क्योंकि उस पूर्वसेवा में संसार संबंधी फल का अत्यंत दृढ़ ~~बन्ध~~ बंध होता है।

अत. इसी पूर्वसेवा के आश्रय से कहते हैं –

अपुनर्बन्धकादीनां भवाब्धौ चलितात्मनाम् ।
नासौ तथाविधा युक्ता वक्ष्यामो युक्तिमत्र तु ॥७४॥

संसारसमुद्र में विचलित आत्मा वाले अपुनर्बंधकादि जीवों को यह पूर्वसेवा उस प्रकार की (गा७१ में कहे प्रकार की) नहीं घटती है। इसमें युक्ति तो हम आगे कहेंगे।

संसार समुद्र में विचलित आत्मा वाले अर्थात् वापस पीछे हटते आत्मा वाले अपुनर्बंधकादि जीवों को अन्य दर्शनी द्वारा निर्दिष्ट पूर्वसेवा घटित नहीं होती।

अब. युक्ति कहते हैं –

मुक्तिमार्गपरं युक्त्या युज्यते विमलं मनः ।
सद्बुद्ध्यासन्नभावेन यदमीषां महात्मनाम् ॥७५॥

क्योंकि इन महात्माओं को सद्बुद्धि पास में होने से मुक्तिमार्ग में तत्पर ऐसा ~~मन~~ विमल मन युक्ति से घटित होता है।

→ सद्बुद्धि आसन्नभाव = सम्यक्त्वादि उत्तर-उत्तर वाले शुद्ध गुणस्थान समीप में होने से।
→ विमल = अतितीव्र मिथ्यात्वादि मल से रहित।
→ महात्मा = प्रशस्त भाव वाले।

2016 अपुनर्बंधकादि जीवों को अन्य दर्शनी द्वारा निर्दिष्ट पूर्वसेवा नहीं घटती है क्योंकि इन महात्माओं को सम्यक्त्वादि

MARCH 2016
W M T W T F S S
9 1 2 3 4 5 6
10 7 8 9 10 11 12 13
11 14 15 16 17 18 19 20
12 21 22 23 24 25 26 27
13 28 29 30 31

16 Wednesday
MARCH

Week 11 076-290

शुद्ध गुणस्थान समीप में होने से मोक्षमार्ग में तत्पर और गाढ़ मिथ्यात्व से रहित ऐसा विमल मन होता है। अन्य पुद्गलावर्तों में रहे जीवों को ऐसा विमल मन नहीं होता क्योंकि उन्हें यम-नियमादि अनुष्ठान में भी संसार का अति दृढ़ राग होता है।

अब. अन्य तीर्थ वाले भी ऐसा ही मानते हैं, ऐसा बताते हुए कहते हैं

तथा चान्यैरपि ह्येतद् योगमार्गकृतश्रमैः।
सद्गीतमुक्तिभेदेन यद्गोपेन्द्रमिदं वचः ॥१००॥

तथा यही बात योगमार्ग में श्रम करने वाले अन्य दर्शनियों द्वारा भी ~~कही~~ शब्दभेद से कही गई है। भगवान् गोपेन्द्र का भी यह वचन है (आगे की गाथा के साथ संबंध है)।

→ एतद् = चरमावर्त में ही विमल मन होने की बात।

अनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ सर्वथैव हि।
न पुंसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिञ्जिज्ञासापि प्रवर्तते ॥१०१॥

प्रकृति सर्वथा ही अनिवृत्त अधिकार वाली होने पर पुरुष को इस तत्त्व-मार्ग में जिज्ञासा भी नहीं होती।

→ जिज्ञासा = तत्त्वमार्ग को जानने की इच्छा।
→ अपि = जानने की इच्छा भी नहीं होती तो उसके अभ्यास की तो क्या बात?
→ अनिवृत्ताधिकार = पुरुष यानि आत्मा का आभिभव करना प्रकृति का अधिकार है। ऐसा प्रकृति का अधिकार सर्वथा अनिवृत्त होने पर जीव गाढ़ मिथ्यात्वी होता है। उस अवस्था में उसे योगमार्ग को जानने की जिज्ञासा भी नहीं होती।

APRIL 2016
W M T W T F S S
13 1 2 3
14 4 5 6 7 8 9 10
15 11 12 13 14 15 16 17
16 18 19 20 21 22 23 24
17 25 26 27 28 29 30

अब. इसी की विचारणा करते हैं-

क्षेत्ररोगाभिभूतस्य यथात्यन्तं विपर्ययः।
तद्वदेवास्य विज्ञेयस्तद्भावर्तनियोगतः ॥102॥

जैसे क्षेत्ररोग से अभिभूत पुरुष को अत्यंत विपर्यय होता है, वैसे इस पुरुष को उस (अनिवृत्त अधिकार वाली प्रकृति के आवर्त) के व्यापार से अत्यंत विपर्यय होता है।

→ क्षेत्ररोग = अन्य रोग के आधारभूत ऐसे कोढ़ वगैरह रोग।
→ विपर्यय = मति भ्रंश रूप। योगमार्ग नहीं स्वीकारने रूप।

अत. यह भी कैसे होता है? अर्थात् प्रकृति का अधिकार सर्वथा अनिवृत्त होने पर जिज्ञासा भी क्यों नहीं होती? उ. —

जिज्ञासायामपि ह्यत्र कश्चित्सर्गो निवर्तते।
नाक्षीणपाप एकान्तादाप्नोति कुशलां धियम् ॥103॥

यहाँ योग में जिज्ञासा होने में भी कुछ सर्ग निवृत्त होता है क्योंकि एकांत से अक्षीणपाप वाला कुशल बुद्धि को प्राप्त नहीं करता।

→ सर्ग = प्रकृति से पुरुष का अभिभव।
→ कुशल बुद्धि = मुक्ति पथ का अनुसरण करने वाली बुद्धि।

ततस्तदात्वे कल्याणमायत्यां तु विशेषतः।
मन्त्राद्यपि सदा चारु सर्वावस्थाहितं मतम् ॥104॥

इसके बाद कुशल बुद्धि के प्राप्ति-काल में कल्याण होता है। भविष्य में तो विशेष से कल्याण होता है। (सुंदर मंत्रादि भी हमेशा सर्व अवस्था में हितकर माने गए हैं।) जैसे—

कुशल बुद्धि की प्राप्ति से उस समय कल्याण होता है तथा कुशल बुद्धि से उपार्जित पुण्य के विपाक से विशेषतः कल्याण होता है। जैसे सुंदर स्वभाव वाले मंत्र —

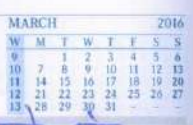

18 Friday
MARCH
Week 11 078-288

भणि - औषध आदि, उनका उपयोग करें या न करें, वे सभी अवस्था में हितकर कहे गए हैं; वैसे कुशल बुद्धि के प्राप्तिकाल में और उस बुद्धि के उपयोग से भविष्य काल में कल्याण होता है।

अव. इस प्रकार गोपेन्द्र का मत बताकर वास्तविक स्थिति का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं –

उभयोस्तत्स्वभावत्वात्तदावर्तनियोगतः।
युज्यते सर्वमेवैतन्नान्यथेति मनीषिणः॥105॥

प्रकृति और पुरुष, दोनों का वैसा स्वभाव होने से उस चरमावर्त के व्यापार से यह कुशल बुद्धि की प्राप्त्यादि सभी वस्तु घटित होती है। यदि दोनों का तथास्वभाव नहीं स्वीकारोगे तो यह घटित नहीं होगा, ऐसा बुद्धिमान् कहते हैं।

→ तत्स्वभाव = प्रकृति का निवृत्ति होने का स्वभाव और पुरुष का कुशल बुद्धि को पाने का स्वभाव होने से।

अत्राप्येतद्विचित्रायाः प्रकृतेर्युज्यते परम्।
इत्थमावर्तभेदेन यदि सम्यग्निरूप्यते॥106॥

यदि सम्यग् रीति से सोचा जाए तो प्रकृति-पुरुष दोनों का वैसा स्वभाव होने पर भी इस प्रकार आवर्त के भेद से यह अधिकार का निवृत्त होना केवल विचित्र प्रकृति को ही घटेगा।

अन्य दर्शनी प्रकृति को पूरे जगत् में एक ही मानते हैं, जैन दर्शन की तरह अलग-अलग कर्म पुद्गल नहीं मानते। एक ही प्रकृति सभी पुरुष का अभिभव करती है। किंतु सभी पुरुष योगमार्ग में एक ही स्तर पर नहीं होते, आगे-पीछे होते हैं। अतः प्रश्न होता है कि एक ही प्रकृति यदि सभी पुरुष का अभिभव करती है तो सभी पुरुष का स्तर योगमार्ग में एक जैसा क्यों नहीं

APRIL 2016

होता? इस प्रश्न के उत्तर में प्रस्तुत श्लोक है। पुरुष और प्रकृति का वैसा स्वभाव होने पर भी आवर्तभ के भेद से यह निवृत्ताधिकारत्व विचित्र प्रकृति का ही घटेगा अर्थात् सभी पुरुष में अलग-अलग आवर्त में प्रकृति निवृत्त होती है, यह बात प्रकृति का विचित्र स्वभाव मानने पर ही घटेगी।

अव. यदि प्रकृति को विचित्र न मानो तो क्या होगा? —

अन्यथैकस्वभावत्वादधिकारनिवृत्तितः।
एकस्य सर्वतद्भावो बलादापद्यते सदा ॥107॥

अन्यथा एक स्वभाव वाली प्रकृति होने से एक जीव को उसका अधिकार निवृत्त होने से सभी जीव को अधिकार निवृत्त होने की आपत्ति आएगी।
हमेशा जबरजस्ती

अन्यथा यदि प्रकृति को विचित्र स्वभाव वाली न मानो तो जब एक जीव को प्रकृति का अधिकार निवृत्त होगा, तब हमेशा के लिए सभी जीवों को जबरजस्ती प्रकृति का अधिकार निवृत्त होने की आपत्ति आएगी क्योंकि एक साथ अधिकार निवृत्ति माने बिना प्रकृति एकस्वभाव वाली नहीं घटेगी। अतः प्रकृति को विचित्र स्वभाववाली ही मानना चाहिए।

अव. अन्य दूषण कहते हैं —

तुल्य एव तथा सर्गः सर्वेषां सम्प्रसज्यते।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त एवं मुक्तिः ससाधना ॥108॥

सभी जीवों को समान ही सर्ग, ब्रह्म से लेकर स्तम्ब तक लोक और साधना से सहित मुक्ति प्राप्त होगी।

→ सर्ग = स्वर्गादि की सृष्टि रूप।
→ ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त = ब्रह्मलोक (स्वर्ग) से लेकर स्तम्ब यानि नरक तक लोक की प्राप्ति।
→ ससाधना मुक्ति = यम-नियमादि अनुष्ठान सहित मोक्ष।

2016

20 Sunday
MARCH
Week 11 080-286

यदि प्रकृति का विचित्र स्वभाव नहीं मानोगे तो सभी जीवों को एक जैसा ही सर्ग अर्थात् स्वर्ग से लेकर नरक तक के लोक की प्राप्ति होगी। इस प्रकार मोक्ष भी सबको एक जैसा ही प्राप्त होगा। सर्ग सांख्यदर्शन में प्रसिद्ध है। उनमें कहा है कि सर्ग ऊर्ध्व में सत्त्वविशाल है, मूल में तमविशाल है तथा मध्य रजविशाल है।

अब. इस योगमाहात्म्य और उस योग की दुर्लभता को कहकर पूर्वसेवा का क्रम कहते हैं – (गा. 36 में कहा था कि ~~पहले~~ योगमाहात्म्य और पूर्वसेवाक्रम कहेंगे। उसमें से योगमाहात्म्य पूर्ण हुआ। अब पूर्वसेवा का क्रम कहते हैं)

पूर्वसेवा तु तन्त्रज्ञैर्गुरुदेवादिपूजनम्।
सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेह प्रकीर्तिता॥109॥

शास्त्रकारों द्वारा गुरुदेवादिपूजन, सदाचार, तप और मुक्ति का अद्वेष यहाँ पूर्वसेवा कहा गया है।

→ पूर्वसेवा = योग रूपी महल की पहली भूमिका।

अब. गुरु ~~देवादि~~ पूजन का वर्णन –

माता पिता कलाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गः सतां मतः॥110॥

माता, पिता, कलाचार्य, इन माता वगैरह की ज्ञाति, वृद्ध और धर्म का उपदेश देने वाले सज्जनों को गुरुवर्ग के रूप में सम्मत है।

→ ज्ञातयः = माता-पिता और कलाचार्य के भाई-बहन आदि।
→ वृद्ध = श्रुत और वय से वृद्ध।

APRIL 2016
W M T W T F S S
13 1 2 3
14 4 5 6 7 8 9 10
15 11 12 13 14 15 16 17
16 18 19 20 21 22 23 24
17 25 26 27 28 29 30 -

पूजनं चास्य विज्ञेयं त्रिसन्ध्यं नमनक्रिया।
तस्याऽनवसरेऽप्युच्चैश्चेतस्यारोपितस्य तु॥111॥

2016

इस गुरुवर्ग को तीन संध्या प्रणाम करना ही पूजन है। यदि गुरुवर्ग

न हो तो चित्त में आरोपित ऐसे गुरुवर्ग का पूजन करना।

अभ्युत्थानादियोगश्च तदने निभृतासनम्।
नामग्राहश्च नाऽस्थाने नावर्णश्रवणं क्वचित्॥12॥

अभ्युत्थानादि का योग, गुरुवर्ग के पास नम्रता से बैठना, अस्थान में नाम ग्रहण नहीं करना और कहीं भी निंदा का श्रवण नहीं करना भी गुरुवर्ग का पूजन है।

→ अभ्युत्थानादियोग = खड़े होना, आसन देना आदि।

सारणं च यथाशक्ति वस्त्रादीनां निवेदनम्।
परलोकक्रियाणां च कारणं तेन सर्वदा॥13॥

सारभूत ऐसे वस्त्रादि का यथाशक्ति निवेदन करना और गुरुवर्ग द्वारा हमेशा परलोक की ~~क्रियाओं~~ क्रियाएँ करवाना ये भी गुरुवर्ग का पूजन है।

त्यागश्च तदनिष्टानां तदिष्टेषु प्रवर्तनम्।
औचित्येन त्विदं ज्ञेयं प्राहुर्धर्मार्थपीडया॥14॥

धर्मादि को पीड़ा न करने पूर्वक गुरुवर्ग को अनिष्ट व्यवहारों का ~~औचित्य पूर्वक~~ त्याग करना और उनके इष्ट व्यवहारों में प्रवर्तन करना, यह औचित्य पूर्वक करना ही गुरुवर्ग का पूजन है।

गुरुवर्ग को अनिष्ट व्यवहारों का त्याग और इष्ट व्यवहारों का प्रवर्तन औचित्य पूर्वक करना भी गुरुवर्ग का पूजन है। इस औचित्य को ही कहते हैं कि जिस तरह धर्मादि की पीड़ा न हो, उस तरह यह त्याग और प्रवर्तन करना चाहिए अर्थात् ॐ गुरुवर्ग के अनिष्ट के त्याग और इष्ट के प्रवर्तन में धर्मादि पुरुषार्थ को पीड़ा नहीं होना चाहिए। यदि धर्मादि पुरुषार्थ को पीड़ा, बाधा होती हो तो गुरुवर्ग के अनिष्ट का त्याग और इष्ट

2016

22 Tuesday
MARCH
Week 12 082-284

में प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए क्योंकि पुरुषार्थ की आराधना का काल अतिदुर्लभ है।

तदासनाद्यभोगश्च तीर्थे तद्वित्तयोजनम्।
तद्बिम्बन्याससंस्कार ऊर्ध्वदेहक्रिया परा ॥115॥

उनके आसनादि का अभोग, तीर्थ में उनके धन का नियोजन, उनके बिम्ब की स्थापना का संस्कार और आदर पूर्वक उनकी ऊर्ध्वदेहक्रिया करना भी गुरुवर्ग का पूजन है।

→ आसनादि का अभोग = गुरुवर्ग के आसन, शयन, भोजन, पात्र आदि का उपरिभोग करना।
→ तीर्थ में तद्वित्तयोजन = गुरुवर्ग के अलंकारादि जो धन है, उनका देवतायतन आदि रूप तीर्थ में नियोजन करना। यदि स्वयं उनके धन को ग्रहण करे तो उनके मरण की अनुमति की आपत्ति होती है, जैसे- वे मर गए तो मुझे यह मिला इत्यादि।
→ तद्बिम्बन्याससंस्कार = उन गुरुवर्ग की प्रतिमा की स्थापना का धूप-पुष्प- आदि से पूजा करने रूप संस्कार करना। अन्य आचार्य ऐसा कहते हैं- गुरुवर्ग ने जिस देवप्रतिमा आदि की प्रतिष्ठा की हो, उस देवप्रतिमा की पूजा करना।
→ ऊर्ध्वदेहक्रिया = उनका मृतकार्य करना।
→ परा = आदर सहित।

अत. ६ गुरुवर्ग की पूजा विधि कही (देखें गा. 109 Pg. 79)। अब देव पूजा—

पुष्पैश्च बलिना चैव वस्त्रैः स्तोत्रैश्च शोभनैः।
देवानां पूजनं ज्ञेयं शौचश्रद्धासमन्वितम् ॥116॥

पुष्पों से, बलि से, वस्त्रों से और शोभन स्तोत्रों से देवों का शौच-श्रद्धा से युक्त पूजन जानना।

2016

→ बलि = पक्वान्न, फल आदि उपहार रूप।

→ शौच = शरीर-वस्त्र-द्रव्य-व्यवहार की शुद्धि रूप ऐसी पवित्रता।
श्रद्धा = बहुमान। ऐसे शौच-श्रद्धा से युक्त।

अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा।
गृहिणां माननीया यत्सर्वे देवा महात्मनाम् ॥17॥

यह देवपूजन अविशेष से अथवा अधिमुक्ति के वश से सभी देवों का करना चाहिए। क्योंकि महात्मा ऐसे गृहस्थों को सभी देव माननीय होते हैं।

यहाँ प्रश्न है कि गृहस्थों को कौन-से देव का पूजन करना चाहिए, जिससे वह पूजन योग की पूर्वसेवा बने? इस प्रश्न के उत्तर में प्रस्तुत श्लोक है। गृहस्थों को सामान्यतया सभी देवों का पूजन का पूजन करना चाहिए अथवा अधिमुक्ति के वश से सभी देवों का पूजन करना चाहिए। अधिमुक्ति अर्थात् जिसे जिस देवविशेष में अतिशय श्रद्धा है, उसके वश से। सभी देवों से पारगत-बुद्ध-शिव=हर-हरि=कृष्ण-हिरण्यगर्भ आदि सबका ग्रहण करना।
सभी देवों के पूजन का कारण बताते हैं- परलोक की प्रधानता न होने से प्रशस्त आत्मा वाले और प्रतिमोह से अभी तक जिन्हें देवताविशेष का निर्णय नहीं हुआ है, ऐसे गृहस्थों को सभी देव माननीय हैं।

★ अधिमुक्ति के वश से सभी देवों का पूजन करना चाहिए। इसमें अधिमुक्ति का अर्थ टीकाकार ने 'किसी देवविशेष में अतिशय श्रद्धा' किया है। यहाँ प्रश्न होता है कि किसी देवविशेष में अतिशय श्रद्धा से सभी देवों का पूजन कैसे होगा? अतः 'अधिमुक्ति' का यह अर्थ उचित नहीं लगता। ग्रंथकार का आशय क्या है, वह पता नहीं चलता।

MARCH 2016
W M T W T F S S
9 1 2 3 4 5 6
10 7 8 9 10 11 12 13
11 14 15 16 17 18 19 20
12 21 22 23 24 25 26 27
13 28 29 30 31

अब. सभी देवों का पूजन कैसे करना चाहिए? उ.—

24 Thursday
MARCH

Week 12 084-282

सर्वान्देवान्नमस्यन्ति नैकं देवं समाश्रिताः।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥18॥

जो सभी देवों को नमस्कार करते हैं, एक देव का आश्रय नहीं करते हैं, इन्द्रिय और क्रोध को जीतने वाले हैं, वे दुर्गम संकटों का अतिक्रमण करते हैं।

→ दुर्ग= नरकपातादि संकट।

अर्थ. लोक में व्यवहार किए जाते सभी देव मुक्तिमार्ग में प्रस्थान करने वाले जीवों के अनुकूल आचरण वाले नहीं होते तो सभी को सामान्य से नमस्कार कैसे करें? उ.-

चारिसञ्जीवनीचारन्याय एष सतां मतः।
नान्यथात्रेष्टसिद्धिः स्याद्विशेषेणादिकर्मणाम् ॥19॥

यह चारिसंजीवनीचार न्याय सज्जनों को सम्मत है। अन्यथा आदि कर्म वाले जीवों को विशेष से यहाँ इष्टसिद्धि नहीं होगी।

→ चारिसंजीवनीचारन्याय = चरने में संजीवनी औषध को चरना, ऐसा दृष्टांत।
→ एष= सामान्य से सभी देवों की नमस्करणीयता का उपदेश।
→ अन्यथा= चारिसंजीवनीचार न्याय के बिना।
→ अत्र= प्रस्तुत देवप्रजन में।
→ इष्टसिद्धि= विशिष्ट मार्ग में पहुँचने रूप।
→ विशेष= सम्यग्दृष्टि आदि के उचित देशना के परिहार रूप विशेष से।
→ आदिकर्म= पहली बार ही स्थूल धर्म का आचरण शुरू करने वाले जीवों को।

APRIL 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
13					1	2	3
14	4	5	6	7	8	9	10
15	11	12	13	14	15	16	17
16	18	19	20	21	22	23	24
17	25	26	27	28	29	30	

नगर जनों से आकुल ऐसी स्वस्तिमति नामक नगरी है थी। उस नगरी में ब्राह्मण की कोई पुत्री थी। तथा अप्रार्थित 2016 प्रेम के उत्कृष्ट भाजन रूप उसकी ही सखी थी। उन दोनों के विवाह

के वश भिन्न स्थान में निवास हुआ। एक बार ब्राह्मण की पुत्री चिन्ता में तत्पर हुई। 'सखी कैसी है?' ऐसा सोचकर उसकी सखी महमान बनकर गई। सखी द्वारा वह विषाद रूपी समुद्र में डूबी हुई देखी गई। ~~उस्सने~~ इससे उसने पूछा- सखी तू अत्यंत म्लान मुख वाली क्यों है? ब्राह्मणपुत्री द्वारा कहा गया- मैं पापों का स्थान हूँ, पति की दुर्भगता को प्राप्त हूँ। सखी- तू खेद मत कर, हे सखी! तेरा यह विषाद विष से भी तुच्छ है। मैं तेरे पति को मूलिका के बल से बैल बना दूँगी। ब्राह्मणपुत्री को वह सखी मूलिका ~~दे~~ देकर स्वयं के घर गई। ~~वह~~ ब्राह्मणपुत्री ने पति को मूलिका दी। इससे वह तुरंत ही उद्धुर खुंध वाला बैल हो गया। वह हृदय में व्याकुल हुई कि सर्वकार्यों में असमर्थ यह पुनः पुरुष कैसे होगा? उसके द्वारा उस बैल को गायों के यूथ में बाहर चराने के लिए खेज प्रारंभ किया गया। एकदा वह वटवृक्ष के नीचे विश्राम के लिए गया। उस वृक्ष की शाखा पर कैसे भी करके थकान लेते हुए आकाश में उड़ने वाले युगल के बातचीत के क्रम में पति~~पुरुष~~ बोला- यहाँ यह बैल स्वभाव से नहीं किंतु वैगुण्य से उत्पन्न हुआ है। उस पत्नी ने प्रत्युत्तर दिया- यह पुनः पुरुष कैसे होगा? पति~~पुरुष~~- अन्य मूलिका के उपयोग से। पत्नी- कहाँ है? | पति- वह मूलिका इस वृक्ष के नीचे है। यह सुनकर पश्चात्ताप ~~वाले~~ युक्त मन वाली पशु की पत्नी अभेदज्ञान से उस बैल को सभी चारा चराने के लिए प्रवृत्त हुई। मूलिका के आभोग से वह जल्द ही पुरुष हो गया। मूलिका के भेद को नहीं जानती उस ब्राह्मणपुत्री के द्वारा पुनः मनुष्यत्व की प्राप्ति के लिए सभी ओर से चारा ~~उस का~~ देवपूजादि विधि में उस पशु को चराया; वैसे ही धर्मगुरु विशेष से प्रवृत्ति करने में असमर्थ शिष्य को पशु समान जानकर सामान्य देव की पूजा में प्रवृत्ति कराते हुए भी थोड़े भी दोषी नहीं है। → विशेष साध्य की सिद्धि के लिए

2016 यह चारिसंजीवनी चार का न्याय उपपत्ति दृष्टांत है। इस दृष्टांत से सामान्य से सभी देवों को नमस्कार करने का उपदेश

26 Saturday
MARCH
Week 12 086-280

शिष्ट पुरुषों को संमत है। विपक्ष में बाधा कहते हैं- चारिसंजीवनी चार न्याय के बिना प्रस्तुत देवपूजादि में विशिष्टमार्ग में पहुँचने रूप इष्टसिद्धि नहीं होगी।

यह उपदेश जिस प्रकार जिन्हें देना चाहिए वह कहते हैं- सम्यग्दृष्टि आदि उचित देशना के परिहार पूर्वक पहली बार ही स्थूल धर्माचार का प्रारंभ करने वाले जीवों को यह उपदेश देना चाहिए। क्योंकि अत्यंत मुग्ध होने से किसी भी देवता विशेष नहीं जानते हुए जीव विशेष प्रवृत्ति के लिए योग्य नहीं हैं, किंतु सामान्य प्रवृत्ति के लिए ही योग्य हैं।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि आदि ऊपर की कक्षा वाले जीवों के उचित उपदेश को छोड़कर पहली बार ही स्थूल धर्माचार का प्रारंभ करने वाले जीवों को यह सामान्य देवपूजा का उपदेश चारिसंजीवनीचार न्याय से देना चाहिए, यह शिष्ट पुरुषों को सम्मत है। अन्यथा यहाँ इष्टसिद्धि नहीं होगी।

★ 'एष' पद से टीकाकार ने उपदेश लिया है जबकि 'एष' पद को न्याय का विशेषण बना देना चाहिए। अथवा 'सामान्य नमस्कार'।
★ 'अन्यथा' का अर्थ टीकाकार ने चारिसंजीवनीचार न्याय के बिना किया जबकि दार्ष्टान्तिक में भी घटाना 'सामान्य से देवता के नमस्कार बिना'।
★ 'अत्र' का अर्थ टीकाकार ने प्रस्तुत देवपूजनादि किया जबकि 'योगमार्ग' भी कर सकते हैं।
★ 'विशेष' का अर्थ टीकाकार ने सम्यग्दृष्टि आदि के उचित उपदेश को परिहार रूप विशेष किया है जबकि 'विशेष से देव नमस्कार' करना चाहिए। (अथवा देव)

उपर्युक्त ~~xx~~ परिवर्तन करने पर श्लो. 119 का भावार्थ → सामान्य देवता के नमस्कार रूप यह चारिसंजीवनीचार न्याय सज्जनों को संमत है। अन्यथा यह चारिसंजीवनीचार न्याय (अथवा ~~xx~~ सामान्य नमस्कार) न मानो तो यहाँ योगमार्ग में

APRIL 2016
W M T W T F S S
13 1 2 3
14 4 5 6 7 8 9 10
15 11 12 13 14 15 16 17
16 18 19 20 21 22 23 24
17 25 26 27 28 29 30

पहली बार ही स्थूल धर्माचरण करने वाले जीवों को विशेष नमस्कार से इष्टसिद्धि नहीं होती।
(अथवा देव) ग्रंथकार भ. स्वयं श्लो. 120 में 'विशेष' पद को 'विशेष देव' अर्थ में योजित करते हैं।

अब. तो विशेष देव/नमस्कार में प्रवृत्ति कब अनुमत है? —

गुणाधिक्यपरिज्ञानाद् विशेषेऽप्येतदिष्यते।
अद्वेषेण तदन्येषां वृत्ताधिक्ये तथात्मनः ॥120॥

उस विशेष देव से अन्य देवों के अद्वेष पूर्वक तथा स्वयं का आचार अधिक होने पर गुणों की अधिकता के परिज्ञान से विशेष देव में भी यह पूजन इष्ट है।

विशेष देव ऐसे अरिहंतादि के अधिक गुणों का ज्ञान होने से तथा पूज्य के पूज्यमान देव से अन्य देवों के अद्वेष से, अमत्सर से विशेष देव में भी पूजन इष्ट है, योग्य है। कब?- स्वयं का आचार उन देवों से अधिक होने पर अर्थात् जब ऐसा निश्चय हो जाए कि स्वयं के आचार इस-इस देव से अधिक है, तब उस-उस देव की पूजा छूट जाती है।

अब. गा. 109 पृ. 79 में "गुरुदेवादिपूजन" कहा था। गुरु-पूजन और देवपूजन का वर्णन पूर्ण हुआ। अब यहाँ आदि शब्द से किसका ग्रहण करना, वह बताते हैं —

पात्रे दीनादिवर्गे च दानं विधिवदिष्यते।
पोष्यवर्गाऽविरोधेन न विरुद्धं स्वतश्च यत् ॥121॥

पात्र और दीनादिवर्ग में पोष्यवर्ग के अविरोध पूर्वक से विधिपूर्वक, जो दान स्वतः विरुद्ध न हो, वह दान इष्ट है।

2016 → पात्र= दायक लोगों की रक्षा करने वाले।
→ दान= स्वयं के वैभव का त्याग।

28 Monday
MARCH
Week 13 088-278

→ पोष्यवर्ग = माता-पिता आदि पोषण करने योग्य वर्ग।
अविरोध = उनकी वृत्ति का उच्छेद न हो, इस तरह।
→ स्वतः न विरुद्ध = जो दान स्वयं के स्वरूप से विरुद्ध न हो। जैसे - हल, शस्त्रादि का दान स्वतः विरुद्ध है।

दायक लोक की रक्षा करने वाले ~~और~~ ऐसे सुपात्र और दीनादि वर्ग में विधिपूर्वक दान इष्ट है, योग्य है। कैसे? - पोष्यवर्ग अर्थात् जिनकी वृत्ति दाता पर निर्भर हो ऐसे माता-पिता आदि पोषण करने योग्य वर्ग की वृत्ति का उच्छेद न हो, इस तरह दान करना चाहिए। यदि दान देने से पोष्यवर्ग की वृत्ति का उच्छेद हो तो दान नहीं देना चाहिए। तथा ऐसा दान देना चाहिए जो स्वतः विरुद्ध न हो अर्थात् दाता और ग्राहक, दोनों के धर्म की बाधा करने वाला न हो।

अब. पात्र और दीनादिवर्ग को दान देने का विधान किया। इसमें से पात्र का वर्णन —

व्रतस्था लिङ्गिनः पात्रमपचास्तु विशेषतः।
स्वसिद्धान्ताऽविरोधेन वर्तन्ते ये सदैव हि ॥122॥

व्रतस्थ, लिंगी, विशेष से अपच तथा जो सदा ही स्वयं के सिद्धान्त-शास्त्र से विरोध रहित रूप से वर्तते हैं, वे पात्र हैं।

→ व्रतस्था = हिंसा-अनृत आदि पापस्थान से विरति वाले।
→ लिंगी = व्रत का सूचन करने वाले उस प्रकार के वेश वाले।
→ ~~अ~~ अपच = जो स्वयं भोजन नहीं पकाते।

व्रतस्थ और लिंगी सामान्य से पात्र हैं। ~~अपच~~ जो स्वयं भोजन नहीं पकाते हैं, अन्य द्वारा नहीं पकवाते हैं, भोजन पकाने वाले की अनुमोदना नहीं करते हैं तथा जो हमेशा स्वयं के शास्त्र का उल्लंघन नहीं करते हैं, वे विशेष से

2016

पात्र हैं।

★ टीकाकार ने सामान्य से और विशेष से, दो प्रकार के पात्र बताएँ हैं। उनमें पहले सामान्य से व्रतस्थ और लिंगी प्रायः व्रतधारी श्रावक के लिए निर्देश होगा, जो साधर्मिक भक्ति का पात्र है। तथा विशेष से मुनि पात्र हैं।

दीनान्धकृपणा ये तु व्याधिग्रस्ता विशेषतः।
निःस्वाः क्रियान्तराऽशक्ता एतद्वर्गो हि मीलकः ॥123॥

जो दीन- अन्ध-कृपण हैं, विशेष से व्याधिग्रस्त हैं, धनरहित हैं और अन्य क्रिया करने में अशक्त हैं, इनका समूह ही दीनादि का समूह है।

→ दीन = सभी पुरुषार्थ की शक्ति क्षीण हो गई है जिनकी।
कृपण = स्वभाव से ही सज्जनों की कृपा के स्थान हैं।

अव. गा. 121 में कहे पात्र और दीनादि के वर्ग का वर्णन करने के बाद 'विधिवत्' का वर्णन—

दत्तं यदुपकाराय द्वयोरप्युपजायते।
नातुरापथ्यतुल्यं तु तद्दत्तविधिवन्मतम् ॥124॥

जो दी हुई जो वस्तु दाता-ग्राहक दोनों के उपकार के लिए होती है और रोगी के लिए अपथ्य समान नहीं होती, वह विधिवत् माना गया है।

★ 'दत्त' पद का अर्थ टीकाकार ने वितीर्ण, दी हुई अन्नादि वस्तु किया है किंतु भाव में 'क्त' प्रत्यय से 'दान' अर्थ भी ले सकते हैं।

अब. दान की ही स्तुति करते हुए कहते हैं—

धर्मस्यादिपदं दानं दानं दारिद्र्यनाशनम्।
जनप्रियकरं दानं दानं कीर्त्यादिवर्धनम् ॥125॥

MARCH 2016
W M T W T F S S
9 1 2 3 4 5 6
10 7 8 9 10 11 12 13
11 14 15 16 17 18 19 20
12 21 22 23 24 25 26 27
13 28 29 30 31

30 Wednesday
MARCH

धर्म का प्रथम स्थान दान है। दान दारिद्र्य का नाश करने वाला है। दान लोगों का प्रिय करने वाला है। दान कीर्ति आदि की वृद्धि करने वाला है।

→ दारिद्र्यनाशन = इहभव-परभव में लाभान्तराय कर्म के उपघातें द्वारा विशिष्ट लाभ कराने से दान दुर्गतिपन को दूर करने वाला है।
→ जनप्रियकर = दान लोगों को संतोष कराने वाला है।
→ कीर्ति आदि का वर्धन = स्वयं के चित्त में संतोष उत्पन्न करने वाले सौभाग्यादि की वृद्धि का कारण दान है।
→ श्लोक में दान शब्द का पुनः पुनः उच्चारण दान की अत्यन्त आदरणीयता बताने के लिए किया है।

अब (गा. 109 Pg. 79 पर) 'गुरुदेवादिपूजनं' पद में आदि पद से दान का वर्णन किया। अब सदाचार का वर्णन करते हैं—

लोकापवादभीरुत्वं१ दीनाभ्युद्धरणादरः २।
कृतज्ञता३ सुदाक्षिण्यं४ सदाचारः प्रकीर्तितः॥126॥

लोकापवाद से भीरुत्व, दीन के अभ्युद्धरण में आदर, कृतज्ञता और सुदाक्षिण्य को सदाचार कहा गया है।

→ लोकापवादभीरुत्व = जिस किसी भी लोकापवाद, लोकनिंदा से डरना।
→ दीनाभ्युद्धरणादर = दीन-अनाथ के उपकार का प्रयत्न।
→ कृतज्ञता = अन्य द्वारा किए गए उपकार का परिज्ञान।
→ सुदाक्षिण्य = गंभीर-धीर चित्त वाले और ईर्ष्यारहित जीव स्वभाव से ही दूसरे के कृत्य में तत्पर होते हैं।

सर्वत्र निन्दासन्त्यागो५ वर्णवादश्च साधुषु६
आपद्यदैन्यमत्यन्तं७ तद्वत्सम्पदि नम्रता८॥127॥

सभी लोगों के विषय में निंदा का त्याग, सज्जनों का वर्णवाद, आपत्ति में अत्यंत अदीनता और उसी तरह संपत्ति में नम्रता भी

APRIL 2016
W M T W T F S S
13 1 2 3
14 4 5 6 7 8 9 10
15 11 12 13 14 15 16 17
16 18 19 20 21 22 23 24
17 25 26 27 28 29 30

सदाचार है।

→ सर्वत्र निंदासंत्याग = जघन्य-मध्यम- उत्कृष्ट सभी लोगों के विषय में निंदा का त्याग।
→ साधु में वर्णवाद = सदाचारवाले लोगों की प्रशंसा।
→ आपदि अदैन्य = संकट में दीनता का अंत्य अत्यंत अभाव।
→ संपदि नम्रता = संपत्ति होने पर औचित्य पूर्वक नम्रता।

9 प्रस्तावे मितभाषित्वमविसंवादनं 10 तथा।
प्रतिपन्नक्रिया 11 चेति कुलधर्मानुपालनम् 12 ॥128॥

प्रस्ताव होने पर मितभाषित्व, अविसंवादन, प्रतिपन्न की क्रिया और कुलधर्म का अनुपालन सदाचार है।

→ प्रस्तावे मितभाषित्व = बोलने का अवसर होने पर परिमित और हितकारी बोलना।
→ अविसंवादन = स्वयं के बोले हुए वचन को पूर्ण करना। विसंवाद वाला स्वयं के वचन का पालन नहीं करता।
→ प्रतिपन्नक्रिया = प्रतिपन्न अर्थात् स्वीकारे हुए व्रत-नियमादि का पालन-निर्वाह करना। (*अथवा ली हुई जवाबदारी निभाना)
→ कुलधर्मानुपालन = स्वयं के कुलाचार के अविरुद्ध अनुवर्तन करना।

असद्व्ययपरित्यागः 13 स्थाने चैतत्क्रिया 14 सदा।
प्रधानकार्ये निर्बन्धः 15 प्रमादस्य विवर्जनम् ॥129॥

असद्व्यय का त्याग करना, सदा स्थान में ही व्यय करना, प्रधान कार्य में आग्रह रखना और प्रमाद का वर्जन करना भी सदाचार है।

→ असद्व्ययपरित्याग = पुरुषार्थ में अनुपयोगी होने से असुंदर ऐसे व्यय का त्याग करना।
→ स्थान में ही यह क्रिया करना = स्थान अर्थात् देवपूजादि उचित स्थान में

ही धन का व्यय करना।
→ प्रधानकार्य में निर्बन्ध = विशिष्ट फल देने वाले प्रयोजन में आग्रह रखना।
→ प्रमाद विवर्जन = मद्यपान आदि रूप प्रमाद का वर्जन करना।

लोकाचारानुवृत्तिश्च।7 सर्वत्रौचित्यपालनम्।8।
प्रवृत्तिर्गर्हिते नेति ~~→~~ प्राणैः कण्ठगतैरपि।9॥130॥
लोकाचार का अनुसरण करना, सभी जगह औचित्य का पालन करना, गर्हित विषय में ~~प्रवृत्ति न करना~~ प्राण कंठ में आने पर भी प्रवृत्ति नहीं करना ये भी सदाचार है।

→ लोकाचारानुवृत्ति = बहुत लोकों में रूढ और अविरोधी ऐसे लोकव्यवहार का पालन करना।
→ सर्वत्र औचित्यपालन = स्वपक्ष और परपक्ष, सभी जगह समुचित आचार का पालन करना।
→ गर्हिते प्रवृत्ति न = जिस कार्य से कुल को दूषण लगे ऐसा कुत्सित कार्य प्राण कंठ में आ जाने पर भी न करे।

अब. ~~सर~~ सदाचार का वर्णन पूर्ण हुआ (देखें श्लो. 109 Pg 79)। अब तप का वर्णन –

तपोऽपि च यथाशक्ति कर्तव्यं पापतापनम्।
तच्च चान्द्रायणं कृच्छ्रं मृत्युघ्नं पापसूदनम्॥131॥
पाप को तपाने वाला तप भी यथाशक्ति करना चाहिए। वह तप चार प्रकार का है – चान्द्रायण, कृच्छ्र, मृत्युघ्न, पापसूदन।

अब. चान्द्रायण तप –

एकैकं वर्धयेद् ग्रासं शुक्ले कृष्णे च हापयेत्।
भुञ्जीत नामावास्यायामेष चान्द्रायणे विधिः॥132॥
शुक्लपक्ष में एकैक ग्रास बढ़ाए और कृष्णपक्ष में न्यून करे। अमावास्या को भोजन न करे। यह चान्द्रायण तप की विधि

2 Saturday
APRIL

है।

शुक्ल पक्ष में एकम् के दिन एक कवल वापरे। फिर पूर्णिमा तक रोज़ एक-एक कवल बढ़ाए जिससे पूर्णिमा को पंद्रह कवल होंगे। फिर कृष्ण पक्ष में एकम् के दिन पंद्रह कवल वापरे। फिर एक-एक कवल न्यून करे जिससे अमावास्या के दिन सभी कवल क्षीण होने से न वापरे। यह चान्द्रायण तप की विधि है।
यह चान्द्रायण तप लौकिक शास्त्र में कहा गया है, अतः इसे प्रथम धार्मिक की योग्यता रूप में यहाँ (पूर्वसेवा) में कहा है। लोकोत्तर चान्द्रायण तप तो इससे अन्य प्रकार से होता है, वह अन्य शास्त्र से जानना चाहिए।

अब. कृच्छ्र तप –

सन्तापनादिभेदेन कृच्छ्रमुक्तमनेकधा।
अकृच्छ्रादतिकृच्छ्रेषु हन्त सन्तारणं परम् ॥133॥

संतापनादि के भेद से अनेक प्रकार का कहा हुआ कृच्छ्र तप अतिकृच्छ्र ऐसे नरकादि के विषय में अकृच्छ्र (अल्पकष्ट) से तिरने का प्रकृष्ट उपाय है।

कृच्छ्र तप अनेक प्रकार का कहा गया है - संतापनकृच्छ्र, पादकृच्छ्र, संपूर्णकृच्छ्र इत्यादि। संतापनकृच्छ्र यानि तीन दिन गर्म पानी पीना, तीन दिन गर्म घी, तीन दिन गर्म मूत्र और तीन दिन गर्म दूध पीना। पादकृच्छ्र यानि अयाचित ऐसे एक भक्त के भोजन से और एक उपवास से पादकृच्छ्र होता है। इसे ही चार बार करने पर संपूर्ण कृच्छ्र होता है। यह कृच्छ्र तप कैसा है? वह बताते हैं– अतिकृच्छ्र अर्थात् अतिकष्टमय ऐसे नरकादि रूप फल वाले अपराधों में अल्पकष्ट से छूटने का हेतु है।

अब. मृत्युघ्न तप –

मासोपवासमित्याहुर्मृत्युघ्नं तु तपोधनाः।
मृत्युञ्जयजपोपेतं परिशुद्धं विधानतः ॥134॥ युक्त और
मुनु मृत्युंजय मंत्र के जाप से युक्त ~~[illegible]~~, विधान से परिशुद्ध ऐसे एक मास के उपवास को तपोधन मुनि मृत्युघ्न तप कहते हैं।

→ तपोधन = तप है धन जिन्हें ऐसे मुनि।
→ मृत्युंजय = पंचपरमेष्ठिनमस्कार मंत्र आदि रूप मृत्युंजय नामक मंत्र।
→ परिशुद्ध = इहलोक-परलोक की आशंसा आदि के परिहार पूर्वक।
→ विधानतः = कषायजय-ब्रह्मचर्य-देवपूजादि रूप विधान से युक्त।

अब. पापसूदन तप –

पापसूदनमप्येवं तत्तत्पापाद्यपेक्षया।
चित्रमन्त्रजपप्रायं प्रत्यापत्तिविशोधितम् ॥135॥

पापसूदन तप भी इस प्रकार उस-उस पापादि की अपेक्षा से अनेक मंत्र जाप की बहुलता वाला और प्रश्चात्ताप से शुद्ध होता है।

→ एवं = परिशुद्ध और विधान से।
→ प्रत्यापत्ति = उस-उस अपराध स्थान से बहुत संवेग द्वारा पीछे हटना, ~~ऐसे~~
विशोधित = ऐसी प्रत्यापत्ति से शुद्ध।

पापसूदन तप भी इस प्रकार विधान से युक्त और परिशुद्ध होता है। तथा यह तप उस-उस पाप की अपेक्षा से होता है। जैसे- आवश्यक निर्युक्ति में कहे गए दृष्टांत में – डंडु अनगार की हत्या करने वाले यमुनराज ने उस पाप की शुद्धि के लिए दीक्षा स्वीकार की और 'जिस साधु के वध का स्मरण हो, उस दिन भोजन नहीं करना' ऐसा अभोजन का अभिग्रह ग्रहण किया। उन मुनि ने सम्यक् रूप से आराधना करते हुए ६ मास का दीक्षा पर्याय होने तक किसी भी दिन भोजन नहीं किया। अतः यह तप पापसूदन तप था।

4 Monday
APRIL

Week 14 095-271

कर्मसूदन तप प्रत्येक कर्म के अनुसार इस प्रकार आचरित देखा जाता है - उपवास, एकासना, एकलिक्ष्य यानि एक दाने से एकासना, एगात्थाण, एकदत्ति, निवि, आयंबिल और आठ कवल।
यह तप अनेकप्रकार के मंत्रजाप से युक्त है। जैसे - ॐ ह्रीं असिआउसा नमः इत्यादि। तथा यह तप अत्यंत संवेग से उस पाप के पश्चात्ताप से विशुद्ध है।

अब. गा. 13। Pg. 91 पर बताए हुए तप के चार प्रकारों का वर्णन पूर्ण हुआ। इस प्रकार गा. 109 (Pg. 79) में बताया गया तप का वर्णन पूर्ण हुआ। अब मुक्ति के अद्वेष को कहते हैं -

कृत्स्नकर्मक्षयान्मुक्तिर्भोगसंक्लेशवर्जिता।
भवाभिनन्दिनामस्यां द्वेषोऽज्ञाननिबन्धनः ॥136॥

संपूर्ण कर्मों के क्षय से भोग के संक्लेश से रहित मुक्ति होती है। भवाभिनंदी जीवों को इस मुक्ति में अज्ञान के कारण द्वेष होता है।

→ भोगसंक्लेशवर्जित = इन्द्रिय के अर्थों में आसक्ति-राग रूप दुःख से रहित ऐसी मुक्ति।
→ अज्ञाननिबन्धन = भवाभिनंदी जीवों को मुक्ति के स्वरूप का संपूर्ण ज्ञान न होने से द्वेष होता है, क्योंकि स्वभाव से सुंदर वस्तु में ज्ञात होने पर कोई विद्वान द्वेष नहीं करते।

अत. 'यह मुक्तिद्वेष असंभव है' ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि -

श्रूयन्ते चैतदालापा लोके तावदशोभनाः।
शास्त्रेष्वपि हि मूढानामश्रोतव्याः सदा सताम् ॥137॥

लोक में और शास्त्रों में भी मूढ जीवों के असुंदर और सज्जनों को न सुनने योग्य ये आलाप सुनाई देते हैं।

MAY 2016
W M T W T F S S
17 30 31 1
18 2 3 4 5 6 7 8
19 9 10 11 12 13 14 15
20 16 17 18 19 20 21 22
21 23 24 25 26 27 28 29

लोक में सुनाई देते आलाप का दृष्टान्त - यदि मोक्ष में मनोहर प्रियंगु वर्ण वाली स्त्रियाँ नहीं है तो हे सैद्धान्तिक! वह मोक्ष

2016

मोक्ष नहीं, बंधन है।

अत. शास्त्र में सुनाई देते आलाप का दृष्टांत –

वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छितम्।
न त्वेवाऽविषयो मोक्षः कदाचिदपि गौतम! ॥138॥

हे गौतम! रम्य वृंदावन में शृगालपन की इच्छा करना अच्छा है, किंतु विषयरहित मोक्ष की इच्छा ~~करना~~ कभी नहीं करना।

महामोहाभिभूतानामेवं द्वेषोऽत्र जायते।
अकल्याणवतां पुंसां तथा संसारवर्धनः ॥139॥

अकल्याण वाले मोह से अभिभूत पुरुषों को इस प्रकार मोक्ष में संसार को बढ़ाने वाला द्वेष होता है।

अत. द्वेष न होने पर होने वाले लाभ कहते हैं –

नास्ति येषामयं तत्र तेऽपि धन्याः प्रकीर्तिताः।
भवबीजपरित्यागात् तथा कल्याणभागिनः ॥140॥

जिन्हें मोक्ष में यह द्वेष नहीं है, वे भी धन्य कहे गए हैं तथा संसार के बीज के परित्याग से वे कल्याण के भागी से होने वाले हैं।

भवबीज का परित्याग अर्थात् ~~संसार~~ स्वयं में रही संसार की योग्यता की परिहानि से चरमावर्त आदि क्रम से कल्याण अर्थात् तीर्थंकर आदि पद की प्राप्ति द्वारा मोक्षसुख को प्राप्त करेंगे।

सज्ज्ञानादिश्च यो मुक्तेरुपायः समुदाहृतः।
प्रलनायैव तत्रापि न चेष्टैषां प्रवर्तते ॥141॥

सद्ज्ञानादि जो मुक्ति का उपाय कहा गया है, वह भी मलन के लिए ही होता है, उसमें भी इन मुक्ति-अद्वेष वालों की प्रवृत्ति नहीं होती है।

6 Wednesday
APRIL

सद्ज्ञान आदि जो मुक्ति के उपाय कहे गए हैं, वे उपाय भी मलिनता के लिए ही होते हैं अर्थात् इन मुक्ति-अद्वेष वाले जीवों को वे उपाय भी मलिनता के निमित्त ही होते हैं। अतः इन उपायों में इन मुक्ति-अद्वेष वाले जीवों की चेष्टा अर्थात् प्रवृत्ति नहीं होती है।

(इस श्लोक का अर्थ बराबर नहीं लगता है। ऊपर वाले श्लोक में मुक्ति-अद्वेष वाले जीवों की प्रशंसा थी, फिर यहाँ उनकी मोक्ष मार्ग में अप्रवृत्ति क्यों दिखाई? यह पता नहीं चलता है।)

★ ऐसा अर्थ भासित होता है – जो सद्ज्ञानादि मुक्ति के उपाय कहे गए हैं, वे ही जीव की मलिनता के भी निमित्त हो सकते हैं (आशातनादि द्वारा) किंतु उनमें (आशातनादि में) इन मुक्त्यद्वेष वाले जीवों की प्रवृत्ति नहीं होती।

अब. मुक्ति के उपाय की अमलना के दृष्टान्त से मलना का फल कहते हैं –

स्वाराधनाद् यथैतस्य फलमुक्तमनुत्तरम्।
मलनात्तस्त्वनर्थोऽपि महानेव तथैव हि ॥१५२॥

सुंदर आराधना से जैसे इस मुक्त्युपाय का अनुत्तर फल कहा गया है, वैसे ही उनकी मलिनता से अनर्थ भी महान्, बड़ा ही होता है।

→ स्वाराधना = (सु + आराधना) विधि पूर्वक अनुवर्तन से।
→ अनुत्तर = सभी फल से अतिशायी।
→ महान् = नरकादिपात रूप।

अब. इसी बात की विचारणा करते हैं –

उत्तुङ्गारोहणात्पातो विषान्नात्तृप्तिरेव च।
अनर्थाय यथात्यन्तं मलनापि तथेष्यताम् ॥१५३॥ 2016

जैसे उत्तुंग आरोहण वाले शिखर से गिरना और विषान्न से तृप्ति

करना भी अत्यंत अनर्थ के लिए होती है, वैसे ही प्रतिनता भी देखो (& जानो)।

अत एव च शस्त्राग्निव्यालदुर्ग्रहसन्निभः।
श्रामण्यदुर्ग्रहोऽस्वन्तः शास्त्र उक्तो महात्मभिः ॥१५५॥

इसलिए ही शास्त्र में महात्माओं द्वारा श्रामण्य का दुर्ग्रह शस्त्र-अग्नि-व्याल के दुर्ग्रह समान कहा गया है।

जिस वस्तु का फल जितना उत्कृष्ट होता है, उस वस्तु की मलना से उतना ही बड़ा अनर्थ होता है। अतः जैसे ज्ञानादि की आराधना से अनुत्तर ऐसा मोक्षसुख रूपी फल मिलता है, वैसे ही उसकी विराधना से नरकादि रूप बड़ा अनर्थ होता है। जैसे साधुता की आराधना से फल मिलता है, वैसे ही उसकी विराधना से अनर्थ होता है।
इसीलिए साधुता को महात्माओं ने शास्त्र में शस्त्र-अग्नि और जंगली पशु समान कहा है। जैसे शस्त्र के दुष्प्रयोग से स्वयं को नुकसान होता है, अग्नि का गलत रीति से ग्रहण करने पर स्वयं जल सकते हैं तथा जंगली पशु को गलत रीति से पकड़ने वह स्वयं के प्राण का घात कर सकता है; वैसे ही साधुता की विराधना भी, दुष्प्रयोग भी सुंदर अंत (फल) वाला नहीं होता।
कहा भी गया है- जैसे जिनेश्वरों की आज्ञा की आराधना होने पर मोक्षफल वाली है, वैसे ही विराधित होने वह आज्ञा संसार के दुःख रूप फल वाली है। (पंचवस्तु ३।७)

अव. प. दुर्गृहीत (विराधित) ऐसे श्रामण्य से भी देवलोक की प्राप्ति तो होती ही है। अतः वह असुंदर फल वाला कैसे है? उ.-

ग्रैवेयकाप्तिरप्येवं नातः श्लाघ्या सुनीतितः।
यथाऽन्यायार्जिता सम्पद् विपाकविरसत्वतः ॥१५६॥

8 Friday
APRIL

Week 14 099-267

~~इस कारण से~~ विराधित श्रामण्य से होने वाली ग्रैवेयक की प्राप्ति भी सुनीति से श्लाघ्य नहीं है। जैसे- अन्याय से अर्जित संपत्ति विपाक के विरस न होने से श्लाघ्य नहीं है।

→ एवं = ~~इस~~ विराधित श्रामण्य के सुंदर परिणाम से रहित होने द्वारा।
→ अतः = विराधित श्रामण्य से।
→ विपाकविरसत्वतः = परिणति विरस होने से।
→ सुनीति = परिणाम का विमर्श करने वाले विचार से।

इस प्रकार विराधित श्रामण्य से होने वाली ग्रैवेयक की ~~प्राप्ति~~ प्राप्ति भी परिणाम का विमर्श-विचार करने पर प्रशंसनीय नहीं है। शुद्धसामाचारी वाले साधुओं को चक्रवर्ती आदि अन्य पुरुषों द्वारा पूजित देखने पर ~~उनके~~ उनसे पूजा की स्पृहा वाले तथा इस प्रकार के अन्य कारण वाले ~~कुछ~~ सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट ऐसे कुछ जीवों को द्रव्य साधुता से जो नौवें ग्रैवेयक की प्राप्ति होती है, वह प्रशंसनीय नहीं कहा है क्योंकि उसका परिणाम विरस रूप ही होता है। जैसे चोरी, जूआ, स्वामी का द्रोह आदि अन्याय से प्राप्त संपत्ति का परिणाम में दुःखदायी होने से प्रशंसनीय नहीं है। इस प्रकार से नौवें ग्रैवेयक को भी प्राप्त जीव वहाँ से च्युत होकर निर्वाणबीज एकांत से नहीं होने के कारण, जिनका निवारण दुःशक्य है, ऐसे मिथ्यात्वमोहादि कर्मों की उदीरणा करते हैं। इससे सभी अकार्यों में अस्खलित रीति से प्रवृत्ति करने वाले ये जीव नरकादि के कारण रूप ऐसे पापसमूह को प्राप्त कर बाद में नरकादि के भागी होते हैं। इस प्रकार परिणाम असुंदर होता है।

अत. सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीवों को द्रव्य-चारित्र के पालन से ग्रैवेयक की जो प्राप्ति होती है, उसमें भी मुक्त्यद्वेष ही कारण है, ऐसा बताते हैं—

MAY 2016
W M T W T F S S
17 30 31 1
18 2 3 4 5 6 7 8
19 9 10 11 12 13 14 15
20 16 17 18 19 20 21 22
21 23 24 25 26 27 28 29

अनेनापि प्रकारेण द्वेषाभावोऽत्र तत्त्वतः।
हितस्तु यत्तदेतेऽपि तथा कल्याणभागिनः॥१५६॥

इस प्रकार से भी तत्त्व से यहाँ द्वेषाभाव हितकारी है क्योंकि ये (द्रव्यचारित्र वाले) भी कल्याण के भागी होते हैं।

→ इस प्रकार = पूजादि की स्पृहा से भी।
→ अत्र = द्रव्यचारित्र में।
→ ये = द्रव्यचारित्र वाले भी।

इस प्रकार पूजादि की स्पृहा से भी द्रव्यचारित्र में परमार्थ से द्वेष का अभाव हितकारी है क्योंकि द्रव्यचारित्र से नौवें ग्रैवेयक को प्राप्त जीव भी कल्याण के भागी होते हैं। अतः सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव को ग्रैवेयक प्राप्त होने में मुक्त्यद्वेष कारण है और अभव्य जीवों को ग्रैवेयक प्राप्ति में द्रव्यक्रिया कारण है।

★ टीकाकार भ. ने पहले व्यापन्नदर्शन वाले जीवों (सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीवों) को द्रव्यचारित्र से ग्रैवेयक की प्राप्ति दिखाई (गा.१५५), फिर यहाँ (श्लो. १५६) में उसका कारण अद्वेष बताते हैं।
यदि ग्रैवेयक प्राप्ति में अद्वेष कारण है तो अभव्य जीवों में भी मुक्ति का अद्वेष होना चाहिए। किसी जीव में कारण मुक्त्यद्वेष और किसी में द्रव्यचारित्र, ऐसा नहीं हो सकता। कोई एक अनुगत कारण मानना चाहिए।
[इसलिए यहाँ ग्रंथकार का आशय स्पष्ट नहीं लग रहा है। श्लो.१५१ और श्लो.१५६ में क्रमशः 'एषां' और 'एते' पद से किन जीवों को लेना है, (मुक्त्यद्वेष वाले या मुक्तिद्वेष वाले) यह स्पष्ट नहीं लगता है।]

अब. अब प्रस्तुत मुक्त्यद्वेष के आश्रय से कहते हैं—

10 Sunday
APRIL
Week 14 101-265

येषामेवं न मुक्त्यादौ द्वेषो गुर्वादिपूजनम् ।
त एव चारु कुर्वन्ति नान्ये तद्गुरुदोषतः ॥५७॥

इस प्रकार जिन जीवों को मुक्ति आदि में द्वेष नहीं है, वे जीव ही गुरुपूजनादि सुंदर करते हैं। अन्य जीव बड़े दोष से विद्यमान होने के कारण वैसा सुंदर पूजन नहीं करते।

→ गुर्वादिपूजन = पू योग की पूर्वसेवा रूप।

→ जिन भव्य जीवों को चरमावर्त में होने से मुक्ति में, मुक्ति के उपाय में और मुक्ति के मार्ग में रहे जीवों के प्रति द्वेष नहीं है, वे जीव ही विधिपूर्वक गुरुपूजनादि योग की पूर्वसेवा करते हैं। अन्य जीव, जिन्हें मुक्ति आदि द्वेष है, मुक्तिद्वेष आदि बड़े दोष विद्यमान होने से गुरुपूजनादि सुंदर रीति से नहीं करते।

अब. इसी बात की विचारणा करते हैं -

सच्चेष्टितमपि स्तोकं गुरुदोषवतो न तत् ।
भौतहन्तुर्यथाऽन्यत्र पादस्पर्शनिषेधनम् ॥५८॥

गुरु दोष वाले को स्तोक सच्चेष्टित भी नहीं होता है। जैसे - अन्य सच्चेष्टित होने पर भौत साधु के घातक द्वारा पादस्पर्श का निषेध करना।

गुरु दोष अर्थात् बड़े अपराध वाले को थोड़ा सच्चेष्टित अर्थात् सुंदर अनुष्ठान होता है किंतु गुरु दोष होने से वह थोड़ी सच्चेष्टा नहीं होने के बराबर ही है इसलिए गुरुदोषवाले को थोड़ी भी सच्चेष्टा नहीं होती, ऐसा कहा। जैसे - भस्म लगाने वाले साधु को मारने वाला उनके पैर के स्पर्श का निषेध करता है।

किसी शबर को, किसी भी कारण से कभी एक बार मोरपिच्छ से कुछ प्रयोजन उत्पन्न हुआ। उस शबर ने पहले ऐसा धर्मशास्त्र सुन रखा था कि तपोधन साधुओं को पैर से स्पर्श

MAY 2016
W M T W T F S S
17 30 31 1
18 2 3 4 5 6 7 8
19 9 10 11 12 13 14 15
20 16 17 18 19 20 21 22
21 23 24 25 26 27 28 29
2016

करना महान् अनर्थ के लिए होता है। जब उसे निपुणतया ढूँढने पर भी अन्य जगह मोरपिच्छ नहीं मिली, तब उसने सुना कि भौतसाधु के पास मोरपिच्छ होती है। उसने उन साधु से मोरपिच्छ माँगी। किंतु कुछ मिला नहीं। तब उसने शस्त्र व्यापार से उन साधुओं को मारकर मोरपिच्छ ग्रहण की। किंतु उन्हें पैर से स्पर्श नहीं किया।

जिस प्रकार इस शबर का पादस्पर्श के परिहार रूप गुण भी शस्त्रव्यापार से नष्ट होने के कारण गुण नहीं है किंतु दोष है, उसी प्रकार मुक्ति के द्वेषी जीवों का गुर्वादिपूजन है अर्थात् वह गुर्वादिपूजन का गुण है किंतु मुक्तिद्वेष रूपी बड़ा दोष विद्यमान होने से वह गुण गुण नहीं है किंतु दोष है।

गुर्वादिपूजनान्नेह तथा गुण उदाहृतः।
मुक्त्यद्वेषाद् यथात्यन्तं महापायनिवृत्तितः॥१५१॥

मुक्ति के अद्वेष से महा अपाय की निवृत्ति होने से जैसा अत्यन्त गुण (लाभ) होता है, वैसा लाभ/गुण यहाँ गुरु आदि के पूजन से भी नहीं कहा गया है।

→ महापायनिवृत्ति = संसार नामक महा अपाय दूर होने से।

मुक्ति के अद्वेष से अपार ऐसा संसार नामक महा अपाय दूर होता है। अतः मुक्ति-अद्वेष से ~~जैसी~~ जैसा अत्यन्त गुण/लाभ होता (गुर्वादिपूजन के बिना भी), वैसा लाभ यहाँ पूर्वसेवा में गुर्वादि के पूजन से भी नहीं होता।

भवाभिष्वङ्गभावेन तथाऽनाभोगयोगतः।
साध्वनुष्ठानभेदानु नैतान् भेदान् विपश्चितः॥१५०॥

भवाभिष्वंग होने से और अनाभोग का योग होने से अनुष्ठान के इन भेदों को विद्वान् लोग सुंदर अनुष्ठान

ही नहीं कहते।

दो अनुष्ठान में संसार की आसक्ति होने से तथा एक अनुष्ठान में संमूर्च्छिम जीव की प्रवृत्ति के समान प्रवृत्ति होने द्वारा आभोग (उपयोग) का अभाव होने से विद्वान् लोग अनुष्ठान के इन तीन भेदों क (विष, गर, अननुष्ठान) को सुंदर अनुष्ठान ही नहीं कहते क्योंकि ये तीनों अनुष्ठान एकांत से द्रव्यानुष्ठान हैं।

* मूल श्लोक में ग्रंथकार ने अनुष्ठान के किन भेदों को सुंदर अनुष्ठान नहीं कहते, यह नहीं कहा है। यह बात पाँच अनुष्ठानों के वर्णन से ही समझ जाना है।

अव. इसी अर्थ की विचारणा करते हुए कहते हैं- (* भवाभिष्वंग और अनाभोग किसे कहते हैं? वह बताते हैं-)

इहामुत्र-फलापेक्षा भवाभिष्वङ्ग उच्यते।
तथाऽनध्यवसायस्तु स्यादनाभोग इत्यपि ॥151॥

इह-परलोक संबंधी फल की अपेक्षा भवाभिष्वंग कही जाती है। तथा अनध्यवसाय (अनुपयोग) अनाभोग होता है।

→ इहामुत्रफल = इहलोक में कीर्ति आदि और परलोक में देव का ऐश्वर्य आदि।
→ अनध्यवसाय = किए जाते अनुष्ठान के उचित अध्यवसाय का अभाव।

अव. इससे क्या होता है? वह कहते हैं- (* भवाभिष्वंग और अनाभोग सहित और रहित अनुष्ठान कहाँ होते हैं? वह बताते हैं-)

एतदुक्तमनुष्ठानमन्यावर्तेषु तद्ध्रुवम्।
चरमे त्वन्यथा ज्ञेयं सहजात्यप्रतत्वतः ॥152॥

अन्य आवर्तों में अनुष्ठान निश्चित रूप से भवाभिष्वंग और अनाभोग

से युक्त ही होता है। चरम आवर्त में सहज मल्य मल होने से अन्य प्रकार के अनुष्ठान जानना।

चरमावर्त से अन्य आवर्तों में गुरुदेवादि पूजन रूप अनुष्ठान भवाभिष्वंग अर्थात् इहपरलोक संबंधी फल की अपेक्षा और अनुपयोग रूप अनाभोग से युक्त ही होता है। चरमावर्त में सहज मल अल्प होने से शुद्ध अनुष्ठान होता है।
मल को सहज अर्थात् स्वाभाविक कहा क्योंकि वह अनादि काल से जीव में है।

अब इससे क्या होता है? वह कहते हैं- (चरमावर्त में यदि सभी को शुद्ध अनुष्ठान होता है तो सभी को एक जैसा फल क्यों नहीं मिलता? उ.-)

एकमेव त्वनुष्ठानं कर्तृभेदेन भिद्यते।
सरुजेतरभेदेन भोजनादिगतं यथा ॥153॥

एक ही अनुष्ठान कर्ता के भेद से भिन्न होता है। जैसे - सरोगी और नीरोगी के भेद से भोजनादि ~~में~~ में (फल) भिन्न होता है।

एक ही अनुष्ठान कर्ता के भेद से भिन्न होता है अर्थात् देवपूजनादि अनुष्ठान में बाह्य क्रिया समान होती है किंतु चरमावर्त के जीव को वह शुद्ध अनुष्ठान है और अचरमावर्त के जीव को अशुद्ध अनुष्ठान है। जैसे सरोगी और नीरोगी जीव को भोजन-पान-शयनासनादि बाह्य क्रिया समान होती है किंतु सरोगी के लिए वह रोग की वृद्धि का हेतु और नीरोगी के लिए वह बल के उपचय का हेतु हो सकता है।

★ यहाँ 'अनुष्ठान' से कार्य में कारण के उपचार से 'अनुष्ठान का फल' ग्रहण करना है अर्थात् अनुष्ठान कारण है, फल कार्य है। यहाँ कार्य में कारण के उपचार से

14 Thursday
APRIL
Week 15 105-261

फल को ही अनुष्ठान कहा है। कर्ता के भेद से अनुष्ठान में भेद नहीं होता किंतु अनुष्ठान के फल में भेद होता है। फल भी दो प्रकार से समझना - (1) तत्कालीन फल (2) भविष्यत्फल। जैसे - मिथ्यात्वी और सम्यग्दृष्टि, दोनों जीव मुनिधर्म का पालन करते हैं। यहाँ दोनों का अनुष्ठान समान है - मुनिधर्म का पालन। किंतु उसके फल में भेद है। मिथ्यात्वी जीव को इस अनुष्ठान का तत्कालीन फल मात्र कायक्लेश रूप प्राप्त होता है जबकि सम्यग्दृष्टि को तत्कालीन फल रूप में कर्मनिर्जरा - निर्विकल्पदशा - आनंद आदि प्राप्त होते हैं। इसी तरह मिथ्यात्वी को भविष्यत् कालीन फल रूप में मात्र स्वर्ग मिलता है जबकि सम्यक्त्वी को मोक्ष मिलता है। अतः कर्ता के भेद से अनुष्ठान के फल में भेद होता है।

मूलश्लोक में दृष्टांत में भी ग्रंथकार ने 'भोजनादिगतं' लिखा है। उसका आशय भी 'भोजनादिगतं फलं' अर्थात् 'भोजनादि क्रिया के फल' ही प्रतीत होता है। टीकाकार ने भी दृष्टांत में फल का भेद ही दर्शाया है - रोगवृद्धि और बलोपचय।

अब इसी बात को दृढ करते हुए कहते हैं - (★ कर्ता के भेद से होने वाले अनुष्ठान के भेद को दिखाते हैं। यहाँ तत्कालीन फल को अनुष्ठान समझना)

इत्थं चैतद् यतः प्रोक्तं सामान्येनैव पञ्चधा।
विषादिकमनुष्ठानं विचारेऽत्रैव योगिभिः ॥154॥

इसलिए योगियों द्वारा यहाँ इस विचार में ही सामान्य से यह विषादि अनुष्ठान पाँच प्रकार का कहा गया है।

→ योगियों द्वारा = पतंजलि आदि।

MAY 2016
W M T W T F S S
17 30 31 1
18 2 3 4 5 6 7 8
19 9 10 11 12 13 14 15
20 16 17 18 19 20 21 22
21 23 24 25 26 27 28 29

★ निश्चय नय के मत से क्रियाकाल - निष्ठाकाल अर्थात् कारण और कार्य में अभेद होता है। इसी अपेक्षा से यहाँ 'अनुष्ठान' 2016

पद का अर्थ लेना है। बाह्य क्रिया कारण नहीं है किंतु बाह्य क्रिया करते समय विद्यमान आत्मा के परिणाम फल के कारण है। आत्मा के परिणाम जिस समय शुद्ध होते हैं, उसी समय जीव को आनंद की अनुभूति होती है। अतः तत्कालीन फल से अभिन्न ऐसे आत्मा के परिणाम को यहाँ अनुष्ठान समझना। आत्मा के परिणाम से ही अनुष्ठान के विषादि भेद होते हैं। जैसे - कोई जीव देवपूजा करता है। पूजा करते हुए यदि उसे इह-पर लोक संबंधी फल की अपेक्षा तो उसका वह विष या गर अनुष्ठान हो सकता है, यदि अनुपयोग है तो अननुष्ठान हो सकता है। इस प्रकार बाह्य क्रिया समान होने पर भी परिणति से अनुष्ठान का भेद है।

विषं गरोऽननुष्ठानं तद्धेतुरमृतं परम्।
गुर्वादिपूजानुष्ठानमपेक्षादिविधानतः॥155॥

अपेक्षादि के भेद से गुरू आदि की पूजा रूप अनुष्ठान ही विषानुष्ठान है, गरानुष्ठान है, अननुष्ठान है, तद्धेतु अनुष्ठान है और श्रेष्ठ ऐसा अमृत अनुष्ठान है।

→ विष = विष की तरह ही विष जैसा अनुष्ठान।
→ गर = कुद्रव्यों के संयोग से उत्पन्न विषविशेष। उसके जैसा अनुष्ठान।
→ अननुष्ठान = वास्तव में अनुष्ठान नहीं है किंतु अनुष्ठान जैसा भासित होता है, अनुष्ठानाभास है।
→ तद्धेतु = अनुष्ठान का हेतु अर्थात् अमृत अनुष्ठान का हेतुरूप अनुष्ठान।
→ अमृत = अमर होने का हेतु होने से अमृत जैसा अनुष्ठान।
→ अपेक्षादिविधानतः = इहलोक-परलोक के फल की स्पृहा रूप अपेक्षा, अनाभोग आदि के विधान यानि भेद से।

16 Saturday
APRIL
Week 15 107-259

अब विष आदि का स्वरूप बताते हुए कहते हैं-

विषं लब्ध्याद्यपेक्षात इदं सच्चित्तमारणात्।
महतोऽल्पार्थनाज्ञेयं लघुत्वापादनात्तथा ॥१६॥

यह अनुष्ठान लब्धि आदि की अपेक्षा से, सत् ऐसे चित्त को मारने वाला होने से, महान् ऐसे अनुष्ठान का अल्प अर्थ (फल/प्रयोजन) देने से तथा लघुत्व का आपादन करने से विष है।

→ लब्धि आदि अपेक्षा = लब्धि, कीर्ति आदि की स्पृहा से।
→ सच्चित्तमारण = सत् यानि परिशुद्ध, चित्त यानि मन का परिणाम। मन के परिशुद्ध ऐसे परिणाम का विनाश करने से।
→ महान् का अल्प अर्थ = महान् ऐसे अनुष्ठान का अत्यंत तुच्छ फल देने वाला होने से।
→ लघुत्वापादन = महान् ऐसे अनुष्ठान को भी अत्यंत अल्प फल देने वाला बनाने से अनुष्ठान भी छोटा/तुच्छ/लघु कहलाता है।

जो अनुष्ठान कीर्ति, लब्धि आदि की स्पृहा से किया जाता है अर्थात् इहलोक संबंधी फल की अपेक्षा से किया जाता है, वह अनुष्ठान विष समान होता है। इस अनुष्ठान से आत्मा के शुद्ध शुभ परिणाम का नाश होता है। तथा जिस अनुष्ठान का बहुत फल मिल सकता था, उसका अत्यंत तुच्छ फल ही प्राप्त होता है। अत्यंत तुच्छ फल देने से वह बड़ा अनुष्ठान (= बाह्य क्रिया) भी लघु हो जाता है।

दिव्यभोगाभिलाषेण गरमाहुर्मनीषिणः।
एतद्धितनीत्यैव कालान्तरनिपातनात् ॥१७॥

इस अनुष्ठान को ही दिव्य भोगों के अभिलाष से उक्त नीति से ही कुछ काल बाद मारने वाला होने से मनीषी गर कहते हैं।

MAY 2016
W M T W T F S S
17 30 31 1
18 2 3 4 5 6 7 8
19 9 10 11 12 13 14 15
20 16 17 18 19 20 21 22
21 23 24 25 26 27 28 29

→ यह = यही देवपूजादि अनुष्ठान।
→ विहितनीति = सत् चित्त मारणादि रूप युक्ति से ही।
→ कालान्तरनिपातनात् = कुछ काल बाद अनर्थ का संपादन करने से।

जो अनुष्ठान इहलोक संबंधी फल की स्पृहा से रहित जीव स्वर्ग के भोगों की आसक्ति से करता है ~~से~~ अर्थात् परलोक संबंधी फल की अपेक्षा से अनुष्ठान करता है, उस अनुष्ठान को मनीषी अर्थात् बुद्धिमान् गर अनुष्ठान कहते हैं। यह अनुष्ठान भी आत्मा की परिणति का नाशक है, महान् ऐसे अनुष्ठान का अत्यंत तुच्छ फल देने वाला है तथा महान् अनुष्ठान की लघुता करने वाला है।

प्र. यह गर अनुष्ठान भी यदि ~~सच्च~~ सत् चित्त का नाशक है, अति तुच्छ फल देने वाला है तथा लघुता का आपादक है तो गर अनुष्ठान और विष अनुष्ठान में क्या भेद है?

I. कालान्तरनिपातनात् ⇒ विष जीवन का जल्दी ही विनाश करता है जबकि गर कुछ काल बाद जीवन का नाश करता है। ऐसे ही विषानुष्ठान जीव के परिणाम का जल्द ही नाश करता है, गरानुष्ठान कुछ काल बाद (इस भव में या परभव में) अनर्थ का संपादन करता है।

अनाभोगवतश्चैतदननुष्ठानमुच्यते।
संप्रमुग्धं मनोऽस्येति ततश्चैतद् यथोदितम् ॥158॥

अनाभोग वाले जीव के इस अनुष्ठान को अननुष्ठान कहा जाता है। संप्रमुग्ध मन है जिसका, उसे अनाभोग वाला जीव कहते हैं। इसलिए यह अनुष्ठान ऊपर कहे गए स्वरूप वाला है।

→ अनाभोगवत् = इहलोक-परलोक में संमूर्च्छन जीव तुल्य प्रवृत्ति वाला होने से कहीं भी एकाग्र मन वाला नहीं है।

2016
APRIL 2016
W M T W T F S S
13 1 2 3
14 4 5 6 7 8 9 10
15 11 12 13 14 15 16 17
16 18 19 20 21 22 23 24
17 25 26 27 28 29 30

18 Monday
APRIL

→ एतद् = यह गुरुदेवादि पूजन अनुष्ठान।
→ अननुष्ठान = अनुष्ठान ही नहीं है, अनुष्ठानाभास है।
→ संप्रमुग्ध = सं यानि सभी ओर से, प्र यानि प्रकर्ष से, मुग्ध यानि संनिपात रोग से उपहत पुरुष की तरह अनध्यवसाय रूप मोह को प्राप्त। अर्थात् मन मोहित, मुंझा हुआ, confused है।

जो पुरुष बाह्यक्रिया करता है किंतु उसमें उसके मन का उपयोग नहीं है, उसका मन ~~की~~ कहीं भी स्थिर नहीं है, इहलोक और परलोक में वह संमूर्च्छिम जीव की प्रवृत्ति के समान है अर्थात् इहलोक-परलोक संबंधी कोई विचार वह नहीं करता है; उस प्रकार के कर्मोदय के वश से उस जीव द्वारा किया जाता भी अनुष्ठान अनुष्ठान ही नहीं है, ~~इसलिए~~ अनुष्ठानाभास है इसलिए उसे अननुष्ठान कहा जाता है। इस जीव का मन संमोहित होता है, संशयित होता है, निर्णय नहीं कर पाता है।

* विष और गर अनुष्ठान में जीव का उपयोग एकाग्र हो सकता है किंतु सांसारिक सुख की इच्छा से वे अनुष्ठान दूषित होते हैं। (होता?) इस अननुष्ठान में जीव का उपयोग ही न होने से उसे इसका कुछ खास फल नहीं मिलता।

एतद्रागादिदं हेतुः श्रेष्ठो योगविदो विदुः।
सदनुष्ठानभावस्य शुभभावांशयोगतः ॥159॥

सद् अनुष्ठान का राग होने से इस अनुष्ठान को योगज्ञ पुरुष सदनुष्ठान के परिणाम (भाव) का श्रेष्ठ हेतु कहते हैं; क्योंकि इस अनुष्ठान में शुभ भाव के अंश का योग है।

→ एतद्राग = सदनुष्ठान का राग।
→ श्रेष्ठ = अवन्ध्य।
→ सदनुष्ठानभाव = तात्त्विक देवपूजादि आचार के परिणाम।

2016

जो अनुष्ठान सदनुष्ठान के राग से होता है, बहुमान से होता है, जो अनुष्ठान सदनुष्ठान की प्राप्ति के लक्ष्य से होता है, उसे योगज्ञ महापुरुष सदनुष्ठान का हेतु 'तद्हेतु' अनुष्ठान कहते हैं। यह अनुष्ठान धर्म की शुरुआत में होता है, तथा अमृत अनुष्ठान की प्राप्ति अवश्य कराने वाला होने से यह अवन्ध्य है, श्रेष्ठ है। यह अनुष्ठान सदनुष्ठान का हेतु इसलिए है क्योंकि इसमें शुभ भाव का अंश होता है, मुक्त्यद्वेष होता है अथवा मुक्तिराग होता है।

जिनोदितमिति त्वाहुर्भावसारमदः पुनः।
संवेगगर्भमत्यन्तममृतं मुनिपुङ्गवाः ॥६०॥

'जिनोक्त है' ऐसे अभिप्राय से किया जाता, भाव प्रधान, अत्यंत संवेग गर्भित ऐसे इस अनुष्ठान को मुनिपुंगव अमृत अनुष्ठान कहते हैं।

→ भावसार = शुद्ध श्रद्धा से प्रधान अथवा शुद्ध श्रद्धा है प्रधान जिसमें
→ संवेगगर्भ = निर्वाण की अभिलाषा है गर्भ में, मूल में जिस अनुष्ठान के।
→ मुनिपुंगव = गौतमादि मुख्य महामुनि।

'यह अनुष्ठान जिन द्वारा कहा गया है' इस अभिप्राय से किया जाता, शुद्ध श्रद्धा की प्रधानता वाला और निर्वाण के अभिलाष, संवेग से युक्त ऐसे अनुष्ठान को गौतमादि मुनि अमृत अनुष्ठान कहते हैं।

अब. अब प्रस्तुत बात को ही कहते हैं - (प्रस्तुत बात यह है कि पूर्वसेवा के क्रम में मुक्त्यद्वेष से कौन-सा अनुष्ठान होता है? -)

एवं च कर्तृभेदेन चरमेऽन्यादृशं स्थितम्।
पुद्गलानां परावर्ते गुरुदेवादिपूजनम् ॥६१॥

इस प्रकार कर्ता के भेद से चरम पुद्गल परावर्त में अन्य प्रकार का

गुरुदेवादि पूजन होता है।

→ अन्यादृश = पूर्व परावर्तों में होने वाले देवादि पूजन से अलग।

अब (चरम पुद्गलावर्त में ऐसा अलग अनुष्ठान क्यों होता है? उ.-) इसी बात का समर्थन करते हैं-

यतो विशिष्टः कर्ताऽयं तदन्येभ्यो नियोगतः।
तद्योगयोग्यताभेदादिति सम्यग्विचिन्त्यताम् ॥162॥

क्योंकि यह जीव इन अन्य जीवों से अवश्य विशिष्ट है क्योंकि इस जीव के योग की योग्यता भिन्न है, इस प्रकार सम्यक् विचार करो।

→ तदन्य = पूर्व परावर्तों में वर्तते जीवों से।
→ तद्योगयोग्यताभेद = उस जीव के योग की योग्यता का भेद होने से।

चरम पुद्गलावर्त में पूर्व के पुद्गलावर्तों से कुछ विलक्षण अनुष्ठान होता है क्योंकि अनुष्ठान का कर्ता, चरमपुद्गलावर्त में वर्तता यह जीव उससे अन्य अर्थात् पूर्व परावर्तों में वर्तते अन्य जीवों से अवश्य ही विशिष्ट है।

प्र. विशिष्ट कैसे है? उ. यह जीव विशिष्ट है क्योंकि इस जीव के योग की योग्यता भिन्न है अर्थात् पूर्व परावर्तों में वर्तते जीवों के योग की योग्यता से इस जीव की योग्यता विशेष है। पहले एकान्त से योग के अयोग्य जीव का ही देवपूजनादि था जबकि चरमावर्त में योग के योग्य भाव जिस जीव के उल्लसित हैं, ऐसे जीव का देवादि पूजन है। इसलिए चरमावर्त में वर्तता जीव विशिष्ट है और विशिष्ट होने से ही उसके द्वारा किया जाता अनुष्ठान भी विशिष्ट है।

अब इन पाँच अनुष्ठानों में से चरमावर्त में जो अनुष्ठान होता है, वह कहते हैं-

MAY 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
17	30	31					1
18	2	3	4	5	6	7	8
19	9	10	11	12	13	14	15
20	16	17	18	19	20	21	22
21	23	24	25	26	27	28	29

2016

इस विशिष्ट जीव को पाँच में से कौन-सा अनुष्ठान होता है, वह

कहते हैं-)

चतुर्थमेतत्प्रायेण ज्ञेयमस्य महात्मनः।
सहजात्यमलत्वं तु युक्तिरत्र पुरोदिता ॥163॥

इस महात्मा को प्रायः यह चौथा अनुष्ठान जानना। यहाँ युक्ति तो पूर्व में कहा हुआ ~~च~~ सहज अल्पमलत्व ही है।

~~इस~~ चरमावर्त में वर्तते, धर्म की शुरूआत करने वाले, प्रशस्तभाव वाले इस महात्मा जीव को प्रायः चौथा तद्हेतु अनुष्ठान जानना चाहिए। अनाभोगादि से कभी अन्य प्रकार का अनुष्ठान भी होसकता है इसलिए प्रायः का ग्रहण किया है।

प्र. यह चौथा अनुष्ठान कैसे होता है? उ. क्योंकि इस जीव का सहज मल अल्प हो जाता है। यह सहज मल का अल्प होना ही इस अनुष्ठान के होने में युक्ति है और यह युक्ति हम पहले ही श्लो. 152 (पृ. 102 पर) कह चुके हैं।

यह मल जीव के समान काल में होने वाला है अर्थात् जैसे जीव अनादि से है, वैसे ही यह मल भी अनादि से होने के कारण इसे सहज कहा है।

अतः इस मल के ही आश्रय से कहते हैं:-

सहजं तु मलं विद्यात् कर्मसम्बन्धयोग्यताम्।
आत्मनोऽनादिमत्त्वेऽपि नायमेनां विना यतः ॥165॥

सहज मल आत्मा की कर्मसंबंध की योग्यता को जानना क्योंकि अनादिमान् होने पर भी यह बंध इस योग्यता के बिना नहीं होता।

~~सहज मल~~ आत्मा में जो कर्म का बंध करने की योग्यता है, उस योग्यता को सहज मल जानना चाहिए क्योंकि बंध भले ही अनादि काल से हो रहा है किंतु वह बंध जीव की योग्यता के बिना नहीं होता इसलिए जीव की

2016

22 Friday
APRIL

Week 16 113-253

योग्यता कर्मबंध का हेतु है।

*(पृ.113 से यहाँ जोड़ें)

★ यहाँ 'अयं' पद का अर्थ टीकाकार ने 'बंध' किया है लेकिन उसका अर्थ 'सहज मल' भी कर सकते हैं। श्लोक का अर्थ → कर्मबंध की योग्यता ही सहज मल है क्योंकि सहज मल अनादि होने पर भी योग्यता के बिना नहीं होता।

★ यहाँ 'सहजमल' दिदृक्षा आदि समझना है (गा.169), जैन परिभाषा में राग-द्वेष रूप भाव कर्म समझना।

~~भाव~~ भाव कर्म मात्र औदयिक भाव होते हैं जबकि यथाप्रवृत्त करण में सत्तागत सभी कर्मों की स्थिति हीन होती है। अतः यहाँ सहज मल की अल्पता मात्र औदयिक भाव से लेना है या सभी कर्मों की अपेक्षा से?

★ ~~आने वाली जितनी अशुभ वर्गणाएँ हैं, उनके समूह को ही सहज मल कह सकते हैं~~

अब बंध अनादिमान होने पर भी जीव की योग्यता के बिना नहीं होता है, यही बात दिखाते हैं:—

अनादिमानपि ह्येष बन्धत्वं नातिवर्तते।
योग्यतामन्तरेणापि भावेऽस्यातिप्रसङ्गता ॥165॥

अनादिमान् ऐसा बंध भी बंधत्व का उल्लंघन नहीं करता है। योग्यता के बिना भी बंध होने पर इस बंध की अतिव्याप्ति होगी।

बंध प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है, व्यक्ति की अपेक्षा से वह भी आदिमान् है। प्रवाह की अपेक्षा से अनादि ऐसा यह बंध बंधत्व का अर्थात् ग्रहण किए जाते पुद्गलों से कृतकत्व का उल्लंघन नहीं करता। इसलिए जो जो भी बंध है, उसे बध्यमान पदार्थों (कर्म और आत्मा) की सापेक्षता है। जैसे- ~~वस्त्र~~ कंबलादि के मंजिष्ठा, लाख आदि राग ~~की अपेक्षा~~ है को वस्त्र कंबलादि की योग्यता की अपेक्षा है।

MAY 2016
W M T W T F S S
17 30 31 1
18 2 3 4 5 6 7 8
19 9 10 11 12 13 14 15
20 16 17 18 19 20 21 22
21 23 24 25 26 27 28 29
2016

यदि योग्यता के बिना ही आत्मा को बंध होता है, ऐसा मानोगे तो बंध की अतिव्याप्ति होगी अर्थात् जहाँ बंध नहीं होता, वहाँ भी बंध घटित हो जाएगा।

* इस श्लोक में भी 'एष' पद का अर्थ 'सहज मल' करने पर अर्थ→ अनादिमान् ऐसा सहज मल भी बंधत्व का उल्लंघन नहीं करता अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से वह भी कृतक है।

* (Pg.112 पर) प्र. जो अनादिमान् पदार्थ होता है, उसे स्वयं के स्वभाव की प्राप्ति में किसी भी हेतु की अपेक्षा नहीं होती। जैसे- गगनादि को किसी हेतु की अपेक्षा नहीं होती। बंध भी (सहज मल) अनादि है तो उसे भी हेतु की अपेक्षा नहीं होना चाहिए। तो उसे 'योग्यता' रूप हेतु की अपेक्षा क्यों है? योग्यता के बिना ही बंध घटित हो जाना चाहिए।
उ. बंध प्रवाह की अपेक्षा से ही अनादि है, व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं इसलिए उसे जीव की योग्यता रूप हेतु की अपेक्षा है। योग्यता बिना बंध घटित नहीं होगा। यदि योग्यता बिना ही बंध मानोगे तो अनेक दोष होंगे। यही बात श्लो-१६५ में कही है।

* श्लो. 165 में दो बात कही- ① अनादि ऐसा मल भी बंधत्व अर्थात् कृतकत्व को नहीं लांघता। इसलिए योग्यता के सापेक्ष है।
② योग्यता बिना भी यदि बंध मानोगे तो अतिव्याप्ति होगी।

अब. अतिव्याप्ति को ही बताते हैं-

एवं चानादिमान्मुक्तो योग्यताविकलोऽपि हि।
बध्येत कर्मणा न्यायात् तदन्याऽमुक्तवृन्दवत्॥166॥

ऐसा होने पर योग्यता से रहित अनादिमान् मुक्त ईश्वर भी उससे अन्य अमुक्त जीवों के वृन्द की तरह युक्ति

से कर्म द्वारा बंध जाता।

यदि योग्यता के बिना भी आत्मा कर्म से बंध जाता है, ऐसा मानोगे तो अन्य दर्शनी द्वारा माना जाता ~~का~~ अनादि मुक्त ऐसा ईश्वर भी योग्यता से रहित होने से कर्म द्वारा बंध जाएगा। जैसे- उस ईश्वर से अन्य अमुक्त= संसारी जीवों का समूह कर्म से बंधता है वैसे।
ऐसी अतिव्याप्ति होने से योग्यता बिना बंध नहीं मान सकते।
~~अतः (श्लो. 166 में उपस्थापित) सच्च सत्व योग्यता है, यह सिद्ध हुआ।~~

तदन्यकर्मविरहाद् न चेत्तद्बन्ध इष्यते।
~~अब~~ तुल्ये तद्योग्यताऽभावे ननु किं तेन चिन्त्यताम् ॥167॥

यदि उससे अन्य कर्म के विरह से उस (ईश्वर) को बंध नहीं होता, ऐसा मानो तो योग्यता ~~का~~ का अभाव समान होने पर अन्य कर्म के विरह से क्या प्रयोजन है? ऐसा विचारो।

योग्यता बिना भी आत्मा कर्म से बंध जाता है तो ईश्वर को कर्मबंध क्यों नहीं होता? ऐसा पूछने पर यदि आप कहोगे कि ईश्वर को अन्य कर्म का विरह होने से कर्मबंध नहीं होता। तो हमारा उत्तर है कि अमुक्त और मुक्त जीव में कर्मबंध की योग्यता समान होने पर पूर्वकृत कर्म से क्या प्रयोजन है? अर्थात् उनसे क्या फर्क पड़ेगा? ऐसा आप विचारो।
यदि योग्यता बिना शेष संसारी जीवों को बंध होता तो ईश्वर को भी बंध होना चाहिए क्योंकि योग्यता का अभाव तो दोनों में समान है।

MAY 2016
M T W T F S S
17 30 31 1
18 2 3 4 5 6 7 8
19 9 10 11 12 13 14 15
20 16 17 18 19 20 21 22
21 23 24 25 26 27 28 29

अब अब योग्यता बिना जीव को कर्मबंध नहीं होता, ~~ऐसा~~ इस चर्चा का उपसंहार करते हुए कहते हैं- 2016

तस्मादवश्यमेष्टव्या स्वाभाविक्येव योग्यता।
तस्यानादिप्रतीं सा च प्रत्यनान्मल उच्यते॥168॥

इसलिए उस जीव की अनादि और स्वाभाविक योग्यता ही अवश्य मानना चाहिए। वही योग्यता जीव को प्रत्यिन करने से मल कही जाती है।

योग्यता बिना बंध मानने पर अनादि मुक्त ईश्वर को भी बंध की होने की आपत्ति होने से जीव की योग्यता से ही बंध मानना चाहिए। इसलिए बंध को घटित करने के लिए जीव की स्वाभाविक योग्यता ही अनादिकालीन मानना चाहिए। यह योग्यता ही सहज मल है (देखें गा. 163-5 Pg. 111)

अब. इस अन्य दर्शनों के मत को प्रगट करने द्वारा इस योग्यता का ही समर्थन करते हुए कहते हैं-

दिदृक्षाभवबीजादिशब्दवाच्या तथा तथा।
इष्टा चान्यैरपि ह्येषा मुक्तिमार्गावलम्बिभिः॥169॥

मुक्तिमार्ग का अवलंबन करने वाले अन्य दर्शनकारों द्वारा भी यह योग्यता दिदृक्षा भवबीज आदि शब्दों से वाच्य उस-उस प्रकार से मानी गई है।

→ दिदृक्षा = पुरुष की प्रकृति के विकारों को देखने की इच्छा, सांख्य)
→ भवबीज = शैवों को मान्य।
→ आदि से = वेदान्ती की अविद्या, बौद्धों की वासना।

जो योग्यता उस-उस दर्शन के भेद से दिदृक्षा, भवबीजादि शब्दों से कही जाती है, वह ~~अन्य~~ मुक्तिमार्ग का अवलंबन करने वाले अन्य दर्शनकारों को भी इष्ट है।

2016

अब. ऐसा होने पर जो सिद्ध होता है, वह कहते हैं-

26 Tuesday
APRIL
Week 17 117-249

एवं चापगमोऽप्यस्याः प्रत्यावर्त्तं सुनीतितः।
स्थित एव तदल्पत्वे भावशुद्धिरपि ध्रुवा ॥170॥

इस प्रकार इस योग्यता का अपगम भी प्रत्येक आवर्त्त में होता ही है। वह अल्प होने पर भावशुद्धि भी निश्चित है।

→ सुनीति = दोषों का क्रमशः ह्रास होने रूप नीति।

इस प्रकार कर्मबंध की योग्यता सिद्ध होने पर उसका अपगम अर्थात् न्यून होना भी क्रमशः ह्रास होने की नीति से प्रत्येक पुद्गलावर्त में सिद्ध है। योग्यता रूप मल अल्प होने पर जीव की भावशुद्धि अर्थात् परिणति की निर्मलता निश्चित है।

ततः शुभमनुष्ठानं सर्वमेव हि देहिनाम्।
विनिवृत्ताग्रहत्वेन तथाबन्धेऽपि तत्त्वतः ॥171॥

उस भावशुद्धि से आग्रह निवृत्त होने से उस प्रकार का अल्प बन्ध होने पर भी जीवों को तत्त्व से सभी अनुष्ठान शुभ होते हैं।

→ शुभ = श्रेयस्कारि, कल्याणकारि।
→ विनिवृत्ताग्रह० = अत्यन्त वितथ अभिनिवेश दूर होने से।
→ तथाबन्ध = उस प्रकार का अल्प-अल्पतर बंध होने पर भी।

उस भावशुद्धि अर्थात् परिणति की निर्मलता से जीव के अत्यंत विपरीत अभिनिवेश निवृत्त होने से उसके सभी अनुष्ठान शुभ होते हैं। (तद्हेतु अनुष्ठान होते हैं', ऐसा श्लो. 163 से संबंध)

नात एवाणवस्तस्य प्राग्वत्संक्लेशहेतवः।
तथान्तस्तत्त्वसंशुद्धेरुदग्रशुभभावतः ॥172॥

इस कारण से ही तथा अन्तःकरण की शुद्धि और उत्कट शुभभाव से उसे कर्म के अणु पूर्व की तरह संक्लेश के

MAY 2016
W M T W T F S S
17 30 31 1
18 2 3 4 5 6 7 8
19 9 10 11 12 13 14 15
20 16 17 18 19 20 21 22
21 23 24 25 26 27 28 29

हेतु नहीं होते।

→ अत एव = आग्रह निवृत्त होने से ही।
→ प्राग्वत् = पूर्व के आवर्तों की तरह।
→ अंततत्त्व = आत्मा

इन जीवों को आग्रह निवृत्त होने से, आत्मा की शुद्धि होने से तथा उत्कट शुभ भाव से इन चरमावर्ती जीवों को ज्ञानावरणादि कर्म के अणु संक्लेश के हेतु अर्थात् मलिनता के हेतु नहीं होते। जैसे पूर्व आवर्तों में उसे अणु संक्लेश के हेतु थे, वैसे चरमावर्ती जीवों को नहीं होते।

अब. इस जीव को उस प्रकार का अल्प कर्मबंध होता हुआ भी उस प्रकार के भय के लिए नहीं होता, ऐसा बताते हुए कहते हैं—

सत्साधकस्य चरमा समयाऽपि विभीषिका।
न खेदाय यथात्यन्तं तद्वदेतद्विभाव्यताम् ॥७।१३॥

सत्साधक को अंतिम समय की विभीषिका भी अत्यंत खेद के लिए नहीं होती, वैसे ही यह भी विचारो।

→ सत्साधक = विद्या को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त पुरुष।
→ चरमा समया = एकदम नज़दीक में होने वाली।
→ विभीषिका = वेतालादि के दर्शन रूप कोई डरावना कृत्य।
→ खेद = श्रम के लिए।
→ एतद् = चरमावर्त का कर्म बंध।

विद्या को सम्यक् सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त पुरुष को अत्यंत नज़दीक में होने वाले वेतालदर्शनादि अत्यंत डरावने कृत्य भी खेद = श्रम के लिए नहीं होते

28 Thursday
APRIL
Week 17 119-247

अर्थात् थका देने वाले नहीं होते, उसी तरह चरमावर्ती जीवों को यह कर्मबंध भी खेद के लिए नहीं होता; क्योंकि विवेक वाले जीवों का चित्त प्रधान ऐसी अनागत वस्तु में प्रतिबंध वाला होता है। अर्थात् भविष्य में प्राप्त होने वाले मोक्ष प्रधान है, उसमें उन जीवों का चित्त राग वाला होता है।

~~अब दृष्टान्त से के आश्रय से कहते हैं~~ -

* यहाँ एतद् से 'अनुष्ठान' भी ले सकते हैं। श्लोक का अर्थ → जैसे सत्साधक को चरम समय में होने वाली बिभीषिका भी थका देने वाली नहीं होती, वैसे इन चरमावर्ती जीवों को यह तद्हेतु अनुष्ठान खेद के लिए नहीं होता है।

अब. इस सत्साधक के दृष्टान्त के आश्रय से कहते हैं -

सिद्धेरासन्नभावेन यः प्रमोदो विजृम्भते।
चेतस्यस्य कुतस्तेन खेदोऽपि लभतेऽन्तरम् ॥174॥

विद्यासिद्धि पास में होने से इस सत्साधक के चित्त में जो प्रमोद विस्तृत होता है, उस प्रमोद से के विस्तार से खेद कैसे अवकाश प्राप्त करता है?

अब. अब दार्ष्टान्तिक के आश्रय से विशेष कहते हैं -

न चेयं महतोऽर्थस्य सिद्धिरात्यन्तिकी न च।
मुक्तिः पुनर्द्वयोपेता सत्प्रमोदास्पदं ततः ॥175॥

यह विद्या महान् अर्थ की सिद्धि नहीं है और आत्यंतिक भी नहीं है। मुक्ति इन दोनों धर्मों से युक्त है इसलिए सत्प्रमोद का स्थान है।

इस विद्या की सिद्धि होना कोई बहुत बड़े अर्थ की सिद्धि नहीं है और विद्यासिद्धि का पुनः नाश होने से यह सिद्धि आत्यंतिक भी नहीं है। मुक्ति इन दोनों धर्मों से युक्त है ~~मुक्ति~~ 2016
अर्थात् मुक्ति एक महान् अर्थ की प्राप्ति है और उसका कभी

नाश न होने से वह आत्यंतिक है। इसीलिए मुक्ति सबसे अतिशय ऐसे प्रमोद का स्थान है।

अव. पू. मुक्ति अत्यंत पास में होने पर ऐसा अतिशय प्रमोद होता है किंतु यह चरमावर्ती जीव को मोक्ष नज़दीक नहीं है।

उ.—

आसन्ना चेयमस्योच्चैश्चरमावर्तिनो यतः।
भूयांसोऽमी व्यतिक्रान्तास्तदेकोऽत्र न किञ्चन ॥176॥

यह मुक्ति इस चरमावर्ती को अत्यंत आसन्न है क्योंकि बहुत सारे आवर्त व्यतीत हुए, उनमें एक तो कुछ भी नहीं है।

बहुत सारे आवर्त व्यतीत हुए इसलिए यह चरमावर्त कोई भय का स्थान नहीं है।

अत एव च योगज्ञैरपुनर्बन्धकादयः।
भावसारा विनिर्दिष्टास्तथापेक्षादिवर्जिताः ॥177॥

इसलिए ही योगज्ञों द्वारा अपुनर्बंधकादि जीव भाव की प्रधानता वाले और अपेक्षादि से रहित ~~कहे गए~~ ~~जीव~~ ~~अपुनर्बंधकादि~~ कहे गए हैं।

मुक्ति के अत्यंत आसन्न होने से ही योगज्ञ शास्त्रकारों द्वारा भाव अर्थात् तत्त्व की परिणति की प्रधानता वाले और अपेक्षादि अर्थात् विषानुष्ठान और गरानुष्ठान में कही गई इहलोक-परलोक संबंधी फल की अपेक्षा और आदिशब्द से अननुष्ठान में कहे गये अनाभोग (देखें श्लो. 156-7-8 Pg. 106-7) से रहित जीवों ~~को~~ ~~अपुनर्बंधकादि~~ रूप में अपुनर्बंधकादि जीवों का निर्देश किया है।

अव. धर्माधिकारी जीवों में अपुनर्बंधक जीव आदि में होने से उन्हें ही पहले कहते हैं—

30 Saturday
APRIL

Week 17 121-245

भवाभिनन्दिदोषाणां प्रतिपक्षगुणैर्युतः।
वर्धमानगुणप्रायो ह्यपुनर्बन्धको मतः ॥178॥

भवाभिनंदी जीवों के दोषों के प्रतिपक्ष गुणों से युक्त और प्रायः वर्धमान गुण वाला जीव अपुनर्बन्धक माना गया है।

भवाभिनंदी जीव के दोष 'क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो...' (श्लो. 87 पृ. 66) इत्यादि कहे गए। इन दोषों के प्रतिपक्ष गुण अक्षुद्रता, निर्लोभता आदि से युक्त और शुक्लपक्ष के चन्द्र की तरह प्रतिक्षण बढ़ते हुए औदार्य-दाक्षिण्य आदि गुण वाले जीव को अपुनर्बंधक माना गया है।

अब पूर्वसेवा से इस विषय को जोड़ते हुए कहते हैं-

अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात् पूर्वसेवा यथोदिता।
कल्याणाशययोगेन शेषस्याप्युपचारतः ॥179॥

कल्याणाशय ~~योग~~ के योग से इस अपुनर्बंधक जीव को मुख्य रूप से यथोक्त पूर्वसेवा होती है। शेष जीवों को भी उपचार से होती है।

शेष जीवों में सकृद्बन्धकादि जीव समझना। इन जीवों को पूर्वसेवा तात्त्विक रूप से नहीं होती, औपचारिक होती है।

कुछ आचार्य शेष शब्द से मार्गपतित और मार्गाभिमुख को भी कहते हैं। यह योग्य नहीं है क्योंकि ये दोनों अपुनर्बंधक जीव की ही विशेष अवस्था है इसलिए अपुनर्बंधक के ग्रहण से ही उन दोनों का ग्रहण हो ही जाता है।

प्र. ये दोनों अपुनर्बंधक की ही विशेष अवस्था कैसे है?

उ. तात्त्वितविस्तरा में मार्ग का लक्षण इस प्रकार कहा गया है-

MAY 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
17	30	31					1
18	2	3	4	5	6	7	8
19	9	10	11	12	13	14	15
20	16	17	18	19	20	21	22
21	23	24	25	26	27	28	29

साँप की नली में गमन समान चित्त का अवक्रगमन, विशिष्ट गुणस्थान की प्राप्ति में समर्थ स्वरस का वहन करने वाला क्षयोपशम विशेष मार्ग है। उस मार्ग में प्रविष्ट जीव

2016

Notes

मार्गपतित है। मार्ग में प्रवेश की योग्यता को प्राप्त जीव मार्गाभिमुख है। इस प्रकार ये दोनों अपुनर्बंधक अवस्था ~~की~~ से दूर-दूरतर अवस्था वाले कहे जाने के योग्य नहीं है क्योंकि भगवान् की आज्ञा को जानने की योग्यता इन दोनों में है, ऐसा पंचसूत्रक की वृत्ति में कहा गया है। वहाँ पंचसूत्रक की वृत्ति में कहा गया है — यह पूरी भगवान् की सदाज्ञा अपुनर्बंधक आदि जीव ही जान सकते हैं। जो जीव उत्कृष्ट कर्मस्थिति को पुनः न बांधने रूप से क्षीण करते हैं, वे जीव अपुनर्बंधक हैं। आदि शब्द से मार्गपतित-मार्गाभिमुखादि जीवों का ग्रहण करना। ये जीव दृढ़प्रतिज्ञादि चिह्नों से गम्य हैं।

भगवान् की आज्ञा ये अपुनर्बंधकादि जीव ही जान/समझ सकते हैं, संसाराभिनंदी जीव नहीं क्योंकि संसाराभिनंदी जीव अपुनर्बंधक से पूर्व की अवस्था वाले जीव हैं।

अब, उपचरित वस्तु ही नहीं होती तो शेष जीवों को उपचार से पूर्वसेवा कैसे कही? उ.

कृतश्चास्या उपन्यासः शेषापेक्षोऽपि कार्यतः।
नासन्नोऽप्यस्य बाहुल्यादन्यथैतत्प्रदर्शकः॥180॥

इस पूर्वसेवा का शेष जीवों की अपेक्षा से उपन्यास कार्यरूप से किया है ~~क्यों~~ और वह उपन्यास 'इस अपुनर्बंधक के समीपवर्ती जीव ~~को~~ भी ~~बाहुल्य~~ बहुलता से अन्यथा नहीं होता' इस अर्थ का ~~प्रत~~ प्रदर्शक है।

श्लो. 179 में अपुनर्बंधक से पूर्व की अवस्था वाले जीवों को भी उपचार से ~~जीव~~ पूर्वसेवा कही है। पूर्वसेवा का यह उपन्यास कार्य से अर्थात् कार्य की अपेक्षा से किया गया है। इन जीवों में तात्त्विक/वास्तविक पूर्वसेवा कुछ काल बाद होगी। अतः ~~कार्य~~ कारण में कार्य के उपचार से इन्हें पूर्वसेवा कही है।

क्योंकि अपुनर्बंधक के समीपवर्ती जीव भी प्रायः अपुनर्बंधक से अन्य प्रकार के नहीं होते, विलक्षण नहीं होते। यह उपचार से किया गया उपन्यास इसी अर्थ का प्रदर्शक है कि ये शेष जीव भी अपुनर्बंधक के सदृश ही होते हैं। जैसे - घर बनने के अत्यंत समीप में रही मिट्टी प्रायः घर से विलक्षण नहीं होती किंतु तुल्य होती है।

अव. इसी बात के आश्रय से कहते हैं -

शुद्ध्यत्यलोके यथा रत्नं जात्यं काञ्चनमेव वा।
गुणैः संयुज्यते चित्रैस्तद्वदात्मापि दृश्यताम् ॥181॥

जैसे लोक में शुद्ध होता हुआ रत्न अथवा जात्य सुवर्ण अनेक गुणों से संयुक्त होता है, वैसे ही आत्मा को भी देखो।

→ रत्न = पद्मरागादि।
→ गुण = कांति आदि।

अव. इसमें मतान्तर कहते हैं -

तत्प्रकृत्यैव शेषस्य केचिदेनां प्रचक्षते।
आलोचनाद्यभावेन तथानाभोगसङ्गताम् ॥182॥

कुछ शास्त्रकार शेष जीव को आलोचन आदि के अभाव से स्वभाव से ही अनाभोग से युक्त पूर्वसेवा कहते हैं।

कुछ शास्त्रकार शेष सकृद्बंधकादि जीवों को ऊहापोह न होने से मार्गविषयक निर्णय का अभाव होने द्वारा अनाभोग (अनुपयोग) से युक्त पूर्वसेवा स्वभाव से ही होने का प्रतिपादन करते हैं।

प्र. पूर्व के मत में और इस मतान्तर में क्या अंतर है?

उ. पहले कारण में कार्य के उपचार से पूर्वसेवा कही थी, यहाँ अनाभोग अर्थात् अनुपयोग वाली पूर्वसेवा

2 Monday
MAY

Week 18 123-243

कही।

अव. इसी बात का समर्थन करते हुए कहते हैं-

युज्यते चैतदप्येवं तीव्रे मत्सविषे न यत्।
तदावेगो भवासङ्गस्तस्योच्चैर्विनिवर्तते ॥183॥

यह भी इस प्रकार घटित होता है कि मत्सविष तीव्र होने पर उसके आवेग रूप भवासंग उस जीव का अत्यंत निवृत्त नहीं होता है।

→ एतद् = उपर्युक्त मतान्तर।
→ तदावेग = मत्स रूप विष का आवेग।
→ भवासंग = संसार का प्रतिबंध/राग।
→ तस्य = शेष जीव का।
→ उच्चैः = अत्यंत रूप से थोड़ा भी निवृत्त नहीं होता।

कुछ अन्य आचार्य सकृद्बंधकादि शेष जीवों को ऊहापोह न होने से अनुपयोग युक्त पूर्वसेवा कहते हैं। यह बात घटित हो सकती है — कर्मबंध की योग्यता रूप मत्स रूपी विष तीव्र/उत्कट होने पर उस जीव का मत्स का आवेग रूप भवासंग अर्थात् संसार का प्रतिबंध/राग थोड़ा भी निवृत्त नहीं होता, न्यून नहीं होता। यदि उसका भवराग थोड़ा भी निवृत्त होता तो वह अपुनर्बंधक ही हो जाता। किंतु वह अपुनर्बंधक नहीं है इसलिए इसे पूर्वसेवा औपचारिक ही है।

अव. जिस प्रकृति (स्वभाव) से पूर्वसेवा होती है, उस प्रकृति और उसके विपर्यय को कहते हैं-

JUNE 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
22			1	2	3	4	5
23	6	7	8	9	10	11	12
24	13	14	15	16	17	18	19
25	20	21	22	23	24	25	26
26	27	28	29	30			

संक्लेशायोगतो भूयः कल्याणाङ्गतया च यत्।
तात्त्विकी प्रकृतिर्ज्ञेया तदन्या त्वौपचारतः ॥184॥

2016

पुनः संक्लेश का अयोग होने से और कल्याण का अंग होने से

तात्त्विक प्रकृति जानना। उससे अन्य प्रकृति उपचार से होती है।

पुनः संक्लेश न होने से और उत्तर-उत्तर वैराग्य आदि कल्याण का अंग होने से धर्म के योग्य जीवों की ऐसी प्रकृति/स्वभाव जानना चाहिए।

एनां चाश्रित्य शास्त्रेषु व्यवहारः प्रवर्तते।
ततश्चाधिकृतं वस्तु नान्यथेति स्थितं ह्यदः॥१७५॥

इस स्वभाव का आश्रय करके शास्त्रों में व्यवहार होता है। इसलिए अधिकृत वस्तु अन्यथा नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ।

→ एनां = इस प्रकृति/स्वभाव को।
→ व्यवहार = पूर्वसेवादि।
→ अधिकृत = पूर्वसेवा/(प्रकृति)
→ वस्तु = तात्त्विक
→ अन्यथा = अपुनर्बंधकादि को छोड़कर।
→ अदः = यही बात।

इस प्रकृति/स्वभाव के आश्रय से ही शास्त्रों में पूर्वसेवादि व्यवहार कहा जाता है। इसलिए यह तात्त्विक पूर्वसेवा अन्य प्रकार से अर्थात् अपुनर्बंधकादि जीवों को छोड़कर नहीं होती, यह सिद्ध हुआ। (श्लो. 179 पृ. 120 में कही बात)

★ 'अधिकृत' पद का अर्थ टीकाकार ने 'पूर्वसेवा' किया है। उसका अर्थ 'प्रकृति/स्वभाव' भी कर सकते हैं। श्लोकार्थ → शास्त्रों में इस प्रकृति के आश्रय से ही पूर्वसेवादि व्यवहार होता है इसलिए यह तात्त्विक स्वभाव अपुनर्बंधकादि के अलावा नहीं होता।

2016

★ ~~'अधिकृत' पद का 'प्रकृति' अर्थ करके 'अदः' पद का 'तात्त्विक~~

4 Wednesday
MAY

Week 18 125-241

~~प्रकृति वाले अपुनर्बंधकादि जीवों को ही पूर्वसेवा होती है' ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं। इत्थंकार्य → शास्त्रों में इस प्रकृति के आश्रय से ही पूर्वसेवादि व्यवहार होता है इसलिए यह प्रकृति अपुनर्बंधकादि जीवों के अलावा नहीं होती~~

शान्तोदात्तत्वमत्रैव शुद्धानुष्ठानसाधनम्।
सूक्ष्मभावोहसंयुक्तं तत्त्वसंवेदनानुगम् ॥१४६॥

सूक्ष्म भाव ऊह से संयुक्त और तत्त्वसंवेदन का अनुसरण करने वाला ऐसा शान्त-उदात्त पन शुद्ध अनुष्ठान का साधन है।

→ शान्त = इन्द्रिय और कषाय के तथाविध विकार से रहित।
उदात्त = ऊपर-ऊपर के आचरण और स्थिति में बद्ध चित्त वाला।
शान्तोदात्तत्व = विकार से रहित होना और ऊपर के आचरण में बद्ध चित्त वाला होना।
→ शुद्धानुष्ठानसाधन = निरवद्य आचरण का कारण।
→ सूक्ष्मभावोहसंयुक्त = बंध-मोक्षादि निपुण भावों की विचारणा से युक्त।
→ तत्त्वसंवेदनानुग = तत्त्वसंवेदन नामक ज्ञान-विशेष ~~से युक्त~~ का अनुसरण करने वाला।

सूक्ष्म भावों की विचारणा से युक्त और तत्त्व संवेदन रूप ज्ञानविशेष का अनुसरण करने वाला ऐसा शान्तपन और उदात्तपन ही शुद्ध अनुष्ठान का साधन है। ~~अर्थात्~~
कैसी प्रकृति वाले जीव धर्म के योग्य हैं? वह बताते हुए कहते हैं- जीव की प्रकृति में शान्तपन अर्थात् इन्द्रिय और कषाय के तथाविध अति उत्कट विकार नहीं होना चाहिए। प्रकृति उदात्त अर्थात् वह जीव आगे-आगे वाले जीवों जैसी स्थिरता और आचरण में बंधे हुए चित्त वाली होना चाहिए।

यह शान्त-उदात्तपन ही शुद्ध अनुष्ठान का साधन है। यह शान्त-

उदात्तपन सूक्ष्म भावों, सूक्ष्म पदार्थों की विचारणा से युक्त होना चाहिए और तत्त्वसंवेदन नामक ज्ञानविशेष का अनुसरण करने वाला होना चाहिए।
(तीन प्रकार के ज्ञान हैं - विषयप्रतिभासादि अष्टक प्रकरण में) इनमें तीसरे प्रकार का ज्ञान तत्त्वसंवेदन नामक ज्ञान है, जो भावमुनि को होता है। ऐसे ज्ञान का अनुसरण करने वाला शान्त-उदात्त-पन होना चाहिए।

शान्तोदात्तः प्रकृत्येह शुभभावाश्रयो मतः।
धन्यो भोगसुखस्येव वित्तादयो रूपवान् युवा ॥167॥

यहाँ शान्त-उदात्त व्यक्ति स्वभाव से ही शुभ भाव का आश्रय माना गया है। जैसे - धनवान्, रूपवान् और धन्य ऐसा युवा भोगसुख का आश्रय माना जाता है।

→ धन्य = सौभाग्य, आदेयता आदि से धन के योग्य जीव।
→ रूपवान् = शरीर का शुभ संस्थान।

जैसे सौभाग्य-आदेयता आदि से धन्य, धनवान्, रूपवान् और युवा पुरुष भोगसुख के योग्य माना जाता है वैसे यहाँ शान्त-उदात्त पुरुष स्वभाव से ही शुभ भाव का आश्रय अर्थात् परिशुद्ध ऐसे चित्त के परिणाम का स्थान माना जाता है।

अब इसी बात को व्यतिरेक से कहते हैं -

अनीदृशस्य च यथा न भोगसुखमुत्तमम्।
अशान्तादेस्तथा शुद्धं नाऽनुष्ठानं कदाचन ॥168॥

जैसे जो पुरुष ऐसा नहीं है, उसे उत्तम भोगसुख नहीं होते वैसे ही अशान्त-अनुदात्त जीव को कभी शुद्ध अनुष्ठान नहीं होता।

6 Friday
MAY

Week 18 127-239

अब. तो इससे क्या हो सकता है, वह कहते हैं—

मिथ्याविकल्परूपं तु द्वयोर्द्वयमपि स्थितम्।
स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पिनिर्मितं न तु तत्त्वतः॥189॥

स्वबुद्धि की कल्पना रूप शिल्पी से निर्मित मिथ्याविकल्परूप दोनों ही (भोग और शुद्धानुष्ठान) दोनों में है किंतु तत्त्व/परमार्थ से नहीं है।

→ द्वयोः = भोगी ~~चुक्त~~ और अशान्त-अनुदात्त पुरुष, दोनों में।
→ द्वय = भोग और शुद्ध अनुष्ठान, दोनों।

(★ श्लो. 188 में कहा कि दरिद्र-वृद्ध पुरुष को भोगसुख नहीं होता, वैसे ही अशान्त-अनुदात्त जीव को शुद्ध अनुष्ठान नहीं होता। इसी बात की विचारणा विस्तार से करते हैं —) इन दोनों जीवों को परमार्थ से भोग और शुद्धानुष्ठान नहीं होता किंतु उनकी स्वयं की बुद्धि की कल्पना रूपी शिल्पी से निर्मित मिथ्या विकल्प रूप भोग और शुद्धानुष्ठान हो सकते हैं अर्थात् इन जीवों को वास्तविक रूप में ये दोनों नहीं होते किंतु वे मन में ऐसा मानते हैं कि मेरे पास भोग ~~और~~ शुद्ध हैं और मैं शुद्ध अनुष्ठान करता हूँ।

भोगाङ्गशक्तिवैकल्यात् दरिद्राऽयौवनस्थयोः।
सुरूपरागाशङ्के च कुरूपस्य स्वयोषिति॥190॥

दरिद्र में भोगाङ्ग और अयौवनस्थ में शक्ति की विकलता होने से कुरूप पुरुष को स्वयं की पत्नी के सुरूप में राग और उसके अनुराग में आशंका होती है।

वात्स्यायन द्वारा कहे गए रूप आदि भोग के अंग हैं। वात्स्यायन ने कहा है — रूप, वय, विचक्षणता, सौभाग्य, माधुर्य, ऐश्वर्य भोग के साधन हैं। उनमें भी रूप, वय और धन प्रधान हैं। दरिद्र को भोगांग का अभाव होता है और अयौवनस्थ वृद्ध

JUNE 2016
M M T W T F S S
22 1 2 3 4 5
23 6 7 8 9 10 11 12
24 13 14 15 16 17 18 19
25 20 21 22 23 24 25 26
26 27 28 29 30
2016

को शक्ति का अभाव होता है। इसलिए ऐसे पुरुष को भोगसुख नहीं होता। दरिद्र और वृद्ध कुरूप पुरुष को भोगांग और शक्ति का अभाव होने से स्वयं की पत्नी के रूप में राग होता है तथा 'पत्नी को मुझ पर अनुराग है या नहीं?' ऐसी आशंका होती है।

अभिमानसुखाभावे तथा क्लिष्टान्तरात्मनः।
अपायशक्तियोगाच्च न हीत्थं भोगिनः सुखम् ॥191॥

अभिमान सुख का अभाव होने पर तथा अपाय और शक्ति का योग होने से क्लिष्ट अन्तरात्मा वाले भोगी को इस प्रकार सुख नहीं होता।

→ अभिमान सुख = 'मैं सुखी हूँ' ऐसा चित्त की प्रतिपत्ति रूप सुख।
→ क्लिष्टान्तरात्मा = इच्छा पूर्ण न होने से आबाधा सहित चित्त वाले।
→ अपाय = निर्वाह और शरीर के व्यवच्छेद रूप।
शक्ति = अरुचि वाली स्त्री में उच्चाटनादि ~~करने, इसका~~ करने की शक्ति।

दरिद्र और वृद्ध जीव इच्छा पूर्ण न होने से क्लिष्ट आत्मा वाला होता है। उसे 'मैं सुखी हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती। तथा ~~इस~~ दरिद्र होने से निर्वाह का व्यवच्छेद न हो, ऐसे अपाय का योग होता है तथा पत्नी यदि अनुराग वाली न हो तो उसके द्वारा भी उच्चाटनादि किए जाने का भय रहता है। इसलिए ऐसे भोगी ~~के~~ जीव को सुख नहीं होता।

★ अभिमान-सुख अर्थात् अभिमान का सुख। 'मैं भी कुछ हूँ' ऐसे अभिमान का भी एक सुख होता है। ऐसा सुख दरिद्र को नहीं होता। ऐसा अर्थ भी हो सकता है।

अब इस प्रकार दृष्टान्त का व्यतिरेक कहकर अब दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक की योजना दर्शाते हैं:-

8 Sunday
MAY

Week 18 129-237

अतोऽन्यस्य तु धन्यादेरिदमत्यन्तमुत्तमम् ।
यथा तथैव शान्तादेः शुद्धानुष्ठानमित्यपि ॥192॥

इस ~~अति~~ दरिद्र-वृद्ध से अन्य धन्यादि को यह भोगसुख अत्यंत उत्तम होता है, वैसे ही शान्तादि को शुद्धानुष्ठान भी होता है।

अब. शान्तादि पुरुष कैसे होते हैं ?—

क्रोधाद्यबाधितः शान्तो उदात्तस्तु महाशयः ।
शुभानुबन्धिपुण्याच्च विशिष्टमतिसङ्गतः ॥193॥

क्रोधादि से अबाधित पुरुष शान्त होता है। महान् आशय वाला उदात्त होता है। तथा शुभानुबंधी पुण्य से विशिष्ट मति से युक्त होता है।

→ विशिष्टमतिसंगत= मार्गानुसारी प्रौढ़ प्रज्ञा से युक्त।

अब. (~~अ~~ यह जीव ऐसा क्या करता है, जिससे शुद्धानुष्ठान तक पहुँचता है ?—)

ऊहतेऽयमतः प्रायो भवबीजादिगोचरम् ।
कान्तादिगतगेयादि तथा भोगीव सुन्दरम् ॥194॥

जैसे स्त्री आदि विषयक सुंदर गीत आदि की ऊहा भोगी करता है वैसे यह जीव प्रायः संसारबीजादि विषय में विचारणा करता है।

→ अयं = अपुनर्बंधक आदि जीव।
→ अतः = विशिष्ट मति से युक्त होने के कारण।
→ भवबीजादि = भव का कारण, स्वरूप।

JUNE 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
22			1	2	3	4	5
23	6	7	8	9	10	11	12
24	13	14	15	16	17	18	19
25	20	21	22	23	24	25	26
26	27	28	29	30			

विशिष्ट मति से युक्त होने के कारण ही ये अपुनर्बंधकादि जीव संसार के स्वरूप, कारण, फल आदि की विचारणा करते हैं। जैसे- यह जीव अनादि से है, जीव का संसार अनादि है,

2016

यह संसार अनादि काल के कर्मसंयोग से निर्वर्तित (रचित) है, दुःख रूप है, दुःख फल वाला है, दुःख का अनुबंध कराने वाला है। यहाँ दृष्टान्त है - जैसे भोगी जीव स्त्री, गाथकादि संबंधी गीत और सुंदर आदि शब्द से रूप, रस आदि का चिंतन करता है।

अब. जिस प्रकार वह विचार करता है, उसी प्रकार कहते हैं -

प्रकृतेर्भेदयोगेन नासमो नाम आत्मनः।
हेत्वभेदादिदं चारु न्यायमुद्रानुसारतः ॥१७५॥

प्रकृति से एकान्त भिन्न होने से आत्मा के परिणाम असम नहीं होंगे क्योंकि हेतु का अभेद है। यह न्याय मुद्रा के अनुसार योग्य है।

→ प्रकृति = सत्त्व, रजस् तमस् । जैन दर्शन की प्रक्रिया से कर्म रूप।
→ भेदयोग = एकान्त भेद से।
→ नाम = परिणाम, & चैतन्यश्रद्धान का उन्मीलकादि प्रत्यक्ष से उपलब्ध परिणाम।
→ हेत्वभेद = हेतु यानी प्रकृति का अभेद होने से।
→ न्यायमुद्रा = न्याय (तर्क) की मुद्रा अथवा न्याय रूप मुद्रा। प्रयत्न करने पर भी परदर्शनी द्वारा तर्क & राजमुद्रा की तरह अनुल्लंघनीय होने से इसे मुद्रा कहा है।

सांख्य दर्शन प्रकृति-पुरुष को एकांत भिन्न मानते हैं। उसका खंडन यहाँ करते हैं। सभी संसारी जीवों के परिणाम समान नहीं है, यह प्रत्यक्ष ~~नहीं~~ है। यदि आत्मा को प्रकृति से सर्वथा भिन्न मानेंगे तो आत्मा का परिणाम असम नहीं होगा अर्थात् सम होगा क्योंकि हेतु का अभेद है अर्थात् प्रकृति रूप हेतु दोनों (संसारी और मुक्त) में समान ही है। जैसे मुक्त जीवों से प्रकृति सर्वथा भिन्न होने से उनका परिणाम सम है, वैसे ही संसारी जीवों में भी प्रकृति से एकांत भेद होने पर उनका परिणाम भी सम होगा क्योंकि हेतु समान होने पर कभी

* ~~*~~ प्रकृति का 'कर्म' अर्थ भी ले सकते हैं। कर्म के भेद से आत्मा में भेद नहीं होता, पर्याय में भेद होता है।

10 Tuesday
MAY
Week 19 131-235

भी फल में भेद नहीं होता। ~~अतः~~ किंतु संसारी जीवों का परिणाम सम नहीं होने से ही सिद्ध होता है कि प्रकृति पुरुष से एकांत भिन्न नहीं है।

यह उपर्युक्त बात ठीक है क्योंकि इसमें न्याय का अनुसरण है। यदि प्रकृति से भिन्न होने पर भी परिणाम की भिन्नता मानते हो तो मुक्त जीवों के ~~*~~ परिणाम भी ~~किस~~ विषम मानने पड़ेंगे क्योंकि संसारी और मुक्त जीवों में प्रकृति का भेद तो समान ही है।

★ 'हेतु-अभेद' में 'हेतु' का अर्थ टीकाकार ने 'प्रकृति' किया है किंतु 'प्रकृतिभेद' होना चाहिए। संसारी और मुक्त जीवों में 'प्रकृतिभेद' रूप हेतु समान होने से ~~ब~~ आत्मा का परिणाम सम होने की आपत्ति होगी।

★ इस श्लोक का अर्थ अलग प्रकार से भी किया जा सकता है— प्रकृति यानी पर्याय के भेद से आत्मा का परिणाम असम नहीं होता अर्थात् सम ही रहता है क्योंकि द्रव्यतया सभी आत्मा समान हैं। पर्याय भिन्न-भिन्न होने पर भी आत्म द्रव्य समान ही है। यह बात न्याय से भी ठीक है क्योंकि यदि पर्याय के भेद से आत्म द्रव्य में भेद मानेंगे तो मुक्त जीवों में भी भिन्नता होने की आपत्ति होगी क्योंकि उनके आत्म द्रव्य भी भिन्न परिणाम वाले हो जाएँगे। *

एवं च सर्वस्तद्योगादयमात्मा तथा तथा।
भवे भवेदतः सर्वप्राप्तिरस्याऽविरोधिनी ॥196॥

इस प्रकार प्रकृति के योग से यह सब आत्मा संसार में उस-उस प्रकार से होता है। अतः इस आत्मा की सभी प्राप्ति अविरोधी होती है।

JUNE 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
22			1	2	3	4	5
23	6	7	8	9	10	11	12
24	13	14	15	16	17	18	19
25	20	21	22	23	24	25	26
26	27	28	29	30			

→ तद्योग = प्रकृति के योग से।

→ तथा तथा = नर-नारकादि पर्याय रूप।

2016

* कर्म के योग से यह आत्मा भव में तथारूप होता है, इसलिए सर्वप्राप्ति अविरोधी होगी। ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं।

→ सर्वप्राप्ति = संसार - मोक्ष रूप अवस्था की प्राप्ति।

इस प्रकार प्रकृति से आत्मा का कथंचिद् ऐक्य सिद्ध होने पर उस प्रकृति के योग से ~~यह~~ सभी (संसारी) आत्मा संसार में मनुष्य, नारकादि पर्यायों को प्राप्त करते हैं। अतः इस आत्मा की सभी अवस्था की प्राप्ति अविरोधी होगी। जैसे - प्रकृति के योग से संसारी अवस्था और वियोग से मुक्तावस्था।

★ अलग प्रकार से अर्थ → इस प्रकार पर्याय से आत्म द्रव्य में भेद नहीं होने से यह आत्मा संसार में मनुष्य आदि प्रकार से पर्याय में (प्रकृति के योग से)** होता है। इन पर्यायों से द्रव्यांश में कुछ भेद नहीं होता। इस प्रकार इस आत्मा की सर्वप्राप्ति अविरोधी हो जाएगी अर्थात् पर्याय से द्रव्य में भेद न होने के कारण द्रव्यस्वभाव नित्य रहने से ही मोक्षप्राप्ति घटित होगी, अन्यथा यदि पर्याय से द्रव्य में भेद मानते तो संसारी अवस्था में द्रव्यस्वभाव नष्ट हो जाने से जीव को कभी मोक्ष प्राप्त नहीं होता। Δ पृ.134 से।

सांसिद्धिकमत्वाद् यद्वा न हेतोरस्ति सिद्धता।
तद्भिन्नं यदभेदेऽपि तत्कालादिविभेदतः ॥197॥

अथवा सांसिद्धिक मत्व से अन्य हेतु की सिद्धता नहीं है क्योंकि वह मत्व अभिन्न होने पर भी उस काल कालादि के भेद से वह मत्व भिन्न है।

→ तद् = सांसिद्धिक मत्व।
→ यद् = क्योंकि।
→ अभेद = मत्व रूप में सभी जीवों के लिए समान होने पर भी।

2016

MAY 2016
W M T W T F S S
17 30 31 1
18 2 3 4 5 6 7 8
19 9 10 11 12 13 14 15
20 16 17 18 19 20 21 22
21 23 24 25 26 27 28 29

12 Thursday
MAY

अथवा वह जीव इस प्रकार से भी सोचता है कि संसारी जीवों की के विचित्र परिणामों की सिद्धता सांसिद्धिक मल से अन्य हेतु से नहीं हो सकती अर्थात् जीवों के परिणाम की विचित्रता ईश्वर अनुग्रह आदि अन्य हेतु से नहीं हो सकती। क्योंकि- ईश्वर अप्रतिस्खलित वैराग्य वाला है। कहा भी है- जगत्पति का प्रतिघात न होने वाला ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म सहसिद्ध चतुष्टय है अर्थात् ये चार गुण ईश्वर को सहज रूप से एकसाथ सिद्ध हैं। वह ईश्वर वैरागी होने से किसी को अनुग्रह अथवा निग्रह क्यों करेगा? यदि मान भी लो कि वह अनुग्रह-निग्रह करता है तो वह जीव की योग्यता की अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होता है या अपेक्षा बिना? इस प्रकार दो ही गति हैं। यदि 'अपेक्षा रखकर प्रवृत्ति' ऐसा पहला पक्ष मानोगे तो वह योग्यता ही हेतु हो जाएगा, ईश्वर के अनुग्रह-निग्रह से क्या? क्योंकि वे तो जीव की योग्यता का अनुसरण करेंगे। यदि 'योग्यता से निरपेक्ष प्रवृत्ति' ऐसा दूसरा पक्ष मानोगे तो अनुग्रह-निग्रह सदाकालीन हो जाएँगे, कहीं भी विभाग से नहीं होंगे क्योंकि उनका कोई निमित्त ही नहीं है। कहा गया है- अन्य हेतु की अनपेक्षा से सत्त्व या असत्त्व नित्य हो जाएगा क्योंकि अपेक्षा से ही भावों के कथंचित्कत्व का संभव है। इस तरह यह सिद्ध किया कि ईश्वर के अनुग्रह-निग्रह परिणाम की विचित्रता के हेतु नहीं हैं।

संसारी जीवों के विचित्र परिणामों में सांसिद्धिक मल से अन्य किसी भी हेतु की सिद्धता नहीं है। अतः सांसिद्धिक मल ही परिणाम की विचित्रता का हेतु है। इसमें कारण यह है कि सांसिद्धिक मल कथंचित् सामान्य रूप से ~~एक समान~~ सभी जीवों के लिए अभिन्न होने पर भी उन जीवों के (अतत्काल में तत् पद से वे जीव लेना) काल-स्वभाव-नियति-कर्म-पुरुषार्थ की विसदृशता से वह मल भिन्न होता है।

JUNE 2016
W M T W T F S S
22 1 2 3 4 5
23 6 7 8 9 10 11 12
24 13 14 15 16 17 18 19
25 20 21 22 23 24 25 26
26 27 28 29 30

2016

भावार्थ यह है कि कालादि के भेद से सांसिद्धिक मल आत्मा के साथ

कथंचित् भेदाभेद वृत्ति वाला जल्दी से अनेक रूप में वर्तन करता है। इसलिए उस भव्य के वश से ही जीवों के परिणाम की विचित्रता अनुपचरित/वास्तविक घट सकती है, ईश्वर के अनुग्रह से नहीं।

★ 'भव्य' शब्द पुंल्लिंग है किंतु यहाँ इत्तरार्थ में 'तद्भिन्नं' में तद् से भव्य नपुंसकलिंग लिया है।(?)

★ टीकाकार ने 'सांसिद्धिक भव्य से अन्य हेतु की सिद्धता नहीं है' ऐसा अर्थ किया किंतु मूल में 'अन्य' वाचक कोई पद नहीं है।

★ अन्य प्रकार से अर्थ → पूर्व के दोनों श्लोक में 'प्रकृति' शब्द के दो अर्थ किए - पर्याय और कर्म। आत्म द्रव्य नित्य होने पर भी पर्याय और कर्म के योग से जीव की संसार-मुक्तावस्था घटित होगी। कर्म से द्रव्य कर्म समझना, क्योंकि भावकर्म का पर्याय में ही अन्तर्भाव हो जाएगा।

यहाँ 'सांसिद्धिक भव्य' से पर्याय (भाव कर्म) और कर्म दोनों ले सकते हैं। 'हेतोः' पद पंचमी वि., भव्य का विशेषण। [वह जीव मुख्यतया मोक्षप्राप्ति के लिए द्रव्यस्वभाव का चिंतन कर रहा है, अतः श्लो. 196 में भी ~~स्व~~ 'सर्वप्राप्ति' का गर्भित अर्थ 'मोक्षप्राप्ति' ही समझना है। द्रव्य स्वभाव नित्य होने से उसे मोक्ष की प्राप्ति अविरोधी होती है।] ~~अन्यथा~~ इससे आगे वह जीव सोचता है -

अथवा कर्म/पर्याय रूप हेतु से सिद्धता अर्थात् मोक्ष नहीं होता क्योंकि वह तो ~~अभ~~ कथंचित् अभिन्न होने पर कालादि के भेद से भिन्न ही है अर्थात् कर्म/पर्याय आत्मा के साथ कथंचित् अभेद है किंतु कालान्तर में तो वह आत्मा से सर्वथा भिन्न होने वाला है, अतः वह आत्मा से भिन्न ही है (तद् भिन्नं) और भिन्न होने से उस पर दृष्टि करने से सिद्धत्व प्राप्त नहीं होगा किंतु नित्य द्रव्य पर दृष्टि करने से ही सिद्धत्व होगा।

अथवा इस प्रकार से भी अर्थ कर सकते हैं → पूर्व के दो श्लोक में भावकर्म नहीं, द्रव्यकर्म ही समझना।

द्रव्य कर्म (प्रकृति) के योग से जीव की सर्व प्राप्ति अविरोधी होती

MAY 2016
W M T W T F S S
17 30 31 1
18 2 3 4 5 6 7 8
19 9 10 11 12 13 14 15
20 16 17 18 19 20 21 22
21 23 24 25 26 27 28 29
2016

14 Saturday
MAY
Week 19 135-231

है। अथवा कर्म रूप हेतु से भी जीव की सर्वप्राप्ति की सिद्धता नहीं है क्योंकि वह कथंचित् अभिन्न होने पर भी कार्यादि के भेद से तो आत्मा से भिन्न ही है। भिन्न होने से परद्रव्य की असर आत्मा पर नहीं होगी; क्योंकि सभी द्रव्य स्वतंत्र हैं। अतः जीव की पर्याय स्वतंत्र रूप से स्वयं की योग्यता से ही प्रगट होगी।

अब इसी बात का समर्थन करते हैं-

विरोधिन्यपि चैवं स्यात् तथा लोकेऽपि दृश्यते।
स्वरूपेतरहेतुभ्यां भेदादेः फलचित्रता ॥198॥

विरोधिन सर्वप्राप्ति भी ऐसे होगी। तथा लोक में भी स्वरूप और इतर हेतु से भेदादि से फल की विचित्रता देखी जाती है।

→ एवं = सांसिद्धिक मत्व से अन्य हेतु मानने पर।
→ स्वरूप हेतु = परिणामी/उपादान कारण।
इतर हेतु = निमित्त/सहकारी कारण।

इस प्रकार यदि सांसिद्धिक मत्व से अन्य हेतु स्वीकारोगे तो सर्व अर्थ की प्राप्ति विरोधी ही होगी। जैसे - ईश्वर अनुग्रह को हेतु मानने पर होने वाली आपत्ति पूर्व में दिखा ही दी है।
लोक में भी ऐसा देखा जाता है कि परिणामी कारण और सहकारी कारण, दोनों से कार्य/फल में वदत्वाव आता है। परिणामी कारण से कार्य अभिन्न होता है और निमित्त कारण से कार्य भिन्न होता है। यदि मात्र परिणामी कारण से ही कार्य मानो तो घर मात्र मिट्टी रूप हेतु से ही निर्मित होने के कारण सभी घरों मृण्मय रूप से समान होने के कारण एक ही आकार वाले होते। किंतु ऐसा नहीं होता, अतः सिद्ध होता है कि निमित्त कारण से भी कार्य में भेद होता है।

यदि मात्र निमित्त कारण से ही कार्य मानो तो सभी

JUNE 2016
W M T W T F S S
22 1 2 3 4 5
23 6 7 8 9 10 11 12
24 13 14 15 16 17 18 19
25 20 21 22 23 24 25 26
26 27 28 29 30
2016

बाह्य निमित्त कारण उपस्थित होने पर भी परिणामी कारण न होने से कूर्म के रोम की तरह किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी। अतः सिद्ध हुआ कि परिणामी कारण बिना भी कार्य नहीं होता। अतः स्वरूप/परिणामी/उपादान कारण और इतर/सहकारी/निमित्त कारण, दोनों कारणों से कार्य/फल में विचित्रता होती है। इस प्रकार सांसिद्धिक मल ही सभी जीवों का परिणामी कारण है एवं कालनियति आदि बाह्य निमित्त कारण हैं। सांसिद्धिक मल होने पर ही कालादि बाह्य कारणों के सापेक्षतयाजीवों को विचित्र परिणाम की प्राप्ति होने से नरनारकादि अवस्था घटित होगी। उस मल के ह्रास से अपुनर्बंधकत्व से लेकर मुक्ति तक की अवस्थाएँ अनुपचरित/वास्तविक रीति से घटित होगी।
इस प्रकार वह अपुनर्बंधक जीव विचार करता है।

★ 'विरोधी' पद को 'फलचित्रता' का विशेषण बना सकते हैं। ~~श्लोकार्थ~~ 'भेदादि' यानी मनुष्यादि पर्यायों में भेद। श्लोकार्थ → इस प्रकार सांसिद्धिक मल को हेतु स्वीकारने पर (एवं) ~~मनुष्य~~ जीवों के मनुष्यादि भेद वगैरह (भेदादेः) फल की विरोधी ऐसी विचित्रता भी (विरोधिनी अपि फलचित्रता) स्वरूप और इतर हेतु से (स्वरूपेतरहेतुभ्यां) लोक में भी (लोकेऽपि) देखी जाती है (दृश्यते)।
भेदादि फल का विशेषण है। ऐसे प्रयोग अन्य ग्रंथ में भी कहीं पर देखे जाते हैं (गौण पद का विशेषण)।
मनुष्यादि पर्यायों की विचित्रता को विरोधी इसलिए कहा क्योंकि आत्मा के स्वभाव से ये पर्याय विरोधी हैं।
स्वरूप हेतु = आत्मा। इतर हेतु = सांसिद्धिक मल। इनका कथंचित् भेदाभेद है।

एवमूहप्रधानस्य प्रायो मार्गानुसारिणः।
एतद्वियोगविषयोऽप्येष सम्यक् प्रवर्तते ॥199॥

इस प्रकार ऊह की प्रधानता वाले मार्गानुसारी को प्रायः इस सांसिद्धिक मल के विषय में भी ऊह सम्यक् रीति से

16 Monday
MAY

प्रवर्तता है।

अव. ऐसा होने पर जो सिद्ध होता है, वह कहते हैं-

एवंलक्षणयुक्तस्य प्रारम्भादेव चापरैः।
योग उक्तोऽस्य विद्वद्भिर्गोपेन्द्रेण यथोदितम् ॥२००॥

इस प्रकार के लक्षण से युक्त जीव को प्रारंभ से ही अन्य विद्वानों द्वारा योग कहा गया है। गोपेन्द्र के द्वारा भी कहा गया है (श्लो. २०१-२)।

→ एवंलक्षण = ऊह रूप लक्षण।

अव. गोपेन्द्र के द्वारा कहा हुआ ही दर्शाते हैं-

योजनाद् योग इत्युक्तो मोक्षेण मुनिसत्तमैः।
स निवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ त्वेशतो ध्रुवः ॥२०१॥

मोक्ष के साथ जोड़ने से मुनियों द्वारा योग कहा गया है। वह योग प्रकृति का (कुछ लेश से) अधिकार निवृत्त होने पर निश्चित है।

जो अनुष्ठान जीव को मोक्ष के साथ जोड़ दे, उसे योग कहा गया है। जीव पर प्रकृति (कर्म) का अधिकार पूर्णतया होता है, तब तक यह योग जीव को नहीं होता। प्रकृति का अधिकार कुछ कम होने पर ही यह योग होता है।

अव. यह योग कैसा है? वह कहते हैं-

वेलावत्तनवन्नद्यास्तदापूरोपसंहृतेः।
प्रतिस्रोतोनुगत्वेन प्रत्यहं वृद्धिसंयुतः ॥२०२॥

समुद्र के आपूर के उपसंहार से प्रतिस्रोत का अनुसरण करने द्वारा नदी के वेला वत्तन की तरह रोज वृद्धि से युक्त यह ~~है~~ है योग है।

→ वेला = समुद्र में जल की वृद्धि।
वलन = पीछे हटना, वापस जाना।

समुद्र में अमावस्या के दिन सबसे कम पानी होता है। शुक्ल पक्ष में रोज़ पानी बढ़ता ~~जाता~~ जाता है। एक दिन जितना आगे पानी आया था, पुनः पीछे जाकर दूसरे दिन उससे भी अधिक पानी आता है। इस तरह पूर्णिमा को सबसे अधिक पानी होता है। द्वारा
ऐसे समुद्र में पानी बढ़ने से गंगा आदि नदियों में पानी विपरीत प्रवाह का अनुसरण करने से नदी में पूर आ जाता है।
इसी प्रकार प्रकृति का अधिकार ~~लेशतः~~ ~~निवृत्त~~ होने पर पुरुष की प्रवृत्ति इन्द्रिय-कषाय के अनुकूल होने से संसार रूपी समुद्र के अनुस्रोत प्रवृत्ति होती है। किंतु प्रकृति का अधिकार लेशतः निवृत्त होने पुरुष द्वारा संसार समुद्र के प्रतिकूल प्रवृत्ति की जाती होने से इस योग की प्रतिदिन वृद्धि होती रहती है।

अत. अपुनर्बंधक जीव में यह जो योग है, वह द्रव्य से ही है, ऐसा दिखाते हुए कहते हैं—

भिन्नग्रन्थेस्तु यत्प्रायो मोक्षे चित्तं भवे तनुः।
तस्य तत्सर्व एवेह योगो योगो हि भावतः॥२०३॥

ग्रंथि भेद करने वाले जीव का चित्त प्रायः मोक्ष में होता है, मात्र शरीर संसार में होता है इसलिए उस जीव का सभी व्यापार भाव से योग ही है।

→ सर्व योग = सभी व्यापार। ~~सर्व~~

जिस जीव ने अ राग-द्वेष की निबिड़ ग्रंथि का भेद कर दिया है अर्थात् जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है, ऐसे जीव का चित्त मोक्ष में ही होता है अर्थात् उसका चित्त मोक्ष में ही बद्धलक्ष्य वाला होता है, मात्र उसका

18 Wednesday
MAY
Week 20 139-227

शरीर ही संसार में होता है। इसलिए उस जीव का सभी व्यापार अर्थात् अविरत होने से वह जीव जो भी मन-वचन-काया की प्रवृत्ति करता है, वह व्यापार भाव से/निश्चय से योग ही है क्योंकि सभी व्यापारों का फल चित्त के अनुरूप ही होता है और इस जीव के चित्त में हमेशा मोक्ष की ही आकांक्षा रहती है। अतः सम्यग्दृष्टि की जो भी चेष्टा है, वह मोक्ष रूप फल को ही देने वाली है। अतः सांसारिक कार्य करते हुए भी इसे भाव से योग घटित होता है।

★ श्लोक में प्रायः शब्द का ग्रहण सम्यग्दर्शन से पतित जीवों के लिए किया है। जिन जीवों ने एकबार ग्रंथिभेद कर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया व पुनः पतित होकर मिथ्यात्व गुणस्थान में पहुँच गए हैं, उन जीवों को ग्रंथि का बंध पुनः नहीं होता। अतः वे जीव भिन्नग्रंथि तो हैं किंतु सम्यक्त्व न होने से उनका चित्त मोक्ष में नहीं है, सांसारिक भावों में भी उनकी रुचि रहती है। जिन्हें वर्तमान में सम्यक्त्व है, ~~उन्हें~~ उनका चित्त तो मोक्ष में ही रहता है।

★ 'मोक्ष में चित्त है' इसके दो अर्थ हो सकते हैं-
(1) ऊपर्युक्त अर्थ- मोक्ष में एकत्वलक्ष्य, सांसारिक भावों में कोई रुचि नहीं।
(2) निज नित्य आत्म द्रव्य की श्रद्धा, अनुभूति होने से यहीं पर वर्तमान में ही प्रत्येक क्षण अतीन्द्रिय आनंद का वेदन करते हैं।

★ सम्यग्दृष्टि जीव सांसारिक भोग करते समय भी अंदर सम्यक्त्व होने से उसे निर्जरा ~~ब~~ चालू ही होती है, ऐसा इस श्लोक से स्पष्ट है।

अब, इसी बात को दृष्टान्त से कहते हैं-

नार्या यथान्तसक्तायास्तत्र भावे सदा स्थिते।
तद्योगः पापबन्धश्च तथा मोक्षेऽस्य दृश्यताम् ॥२०५॥

JUNE 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
22			1	2	3	4	5
23	6	7	8	9	10	11	12
24	13	14	15	16	17	18	19
25	20	21	22	23	24	25	26
26	27	28	29	30	-	-	-

जैसे अन्य पुरुष में आसक्त नारी को सदा उस भाव में ही स्थित होने पर उसका योग और पापबंध चालू रहता है, वैसे

2016

ही इस सम्यग्दृष्टि जीव को मोक्ष विषयक योग भी जानना।

→ तद्योग = उस परपुरुष का योग/व्यापार।

जैसे स्वयं के पति से अन्य पुरुष में आसक्त स्त्री को उसी पुरुष संबंधी भाव में स्थित होने पर स्वयं के पति की शुश्रूषादि करते हुए भी उस परपुरुष को मिलने का व्यापार और भाव से परपुरुष के भोग से जन्य कर्मबंध चालू ही रहता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन वाले जीव का चित्त मोक्ष में ही होने से उसे कुटुंब की चिंता आदि करते हुए भी मोक्ष का व्यापार/योग और निर्जरा चालू ही रहती है।

न चेह ग्रन्थिभेदेन पश्यतो भावमुत्तमम्।
इतरेणाकुलत्वस्यापि तत्र चित्तं न जायते॥205॥

ग्रंथिभेद से उत्तम भाव को देखते और अन्य से आकुल ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव का चित्त भी उस उत्तम भाव में नहीं होता है, ऐसा नहीं है।

→ उत्तम भाव = मोक्ष।
→ इतर = पुत्र-पत्नी की आसक्ति आदि।

ग्रंथिभेद होने के से मोक्ष जैसे उत्तम भाव को देखते और पुत्र-पत्नी की आसक्ति आदि अन्य भावों से व्याकुल ऐसे सम्यग्दृष्टि का चित्त उस उत्तम भाव में नहीं होता है, ऐसा नहीं है अर्थात् होता ही है।

★ सम्यग्दृष्टि जीव का चित्त मोक्ष में होता है, ऐसा तो श्लो. 203 में ही कह चुके हैं। अतः यहाँ 'तत्र' का अर्थ 'संसार' करना (श्लो. 203 में 'भवे' पद)। 'उत्तम भाव' का

2016
MAY 2016
W M T W T F S S
17 30 31 1
18 2 3 4 5 6 7 8
19 9 10 11 12 13 14 15
20 16 17 18 19 20 21 22
21 23 24 25 26 27 28 29

20 Friday
MAY

अर्थ 'आत्मा की ~~[illegible]~~ परम पारिणामिक भाव' करना है क्योंकि परम पारिणामिक भाव ही पाँचों भावों में उत्तम है। श्लोकार्थ→ ग्रंथिभेद से स्वयं के परमपारिणामिक भाव को देखते हुए और अन्य परभावों से व्याकुल ऐसे सम्यग्दृष्टि का भी चित्त इस संसार में नहीं होता है, ऐसा नहीं है अर्थात् उसका चित्त संसार में होता ही है। प्रारब्ध के उदय से सम्यग्दृष्टि जीव को भी संसार में आसक्ति होती है।

प्रश्न. 9. जिस चित्त से सम्यग्दृष्टि जीव को योग कहा जाता है, ऐसे इस मोक्ष के चित्त से भी क्या? क्योंकि क्रिया ही फल देने में समर्थ है, कहा भी गया है- ~~[illegible]~~ क्रिया ही पुरुषों को फल देने वाली कही गई है, ज्ञान नहीं क्योंकि स्त्री-भक्ष्य के भोग को जानने वाला भी मात्र ज्ञान से सुखी नहीं होता है। अतः मात्र ज्ञान से क्या? उ.—

(★ संसार में भी चित्त होने से उसे निर्जरा कैसे होती है? उ.-)

चारु चैतद् यतो ह्यस्य तथोहः सम्प्रवर्तते।
एतद्वियोगविषयः शुद्धानुष्ठानभाक् स यत्॥206॥

इस जीव का यह मोक्ष विषयक चित्त भी सुंदर है क्योंकि संसार के वियोग विषयक ऊह उसे होता है, जिससे वह शुद्धानुष्ठान का भागी होता है।

→ एतद् = मोक्ष विषयक चित्त।
→ एतद् वियोग = संसार का वियोग।
→ सम्प्रवर्तते = वह ऊह सम् = स्वयमेव ही होता है।

★ यहाँ एक 'एतद्' का अर्थ मोक्ष विषयक चित्त और दूसरे 'एतद्' का अर्थ संसार किया। इससे भी ~~[illegible]~~ यहाँ ~~[illegible]~~ श्लो. २०५ में अलग प्रकार से किया गया अर्थ ही अधिक उचित लगता है।

★ पहले 'एतद्' का अर्थ संसार विषयक चित्त करना। श्लोकार्थ → इस सम्यग्दृष्टि जीव का यह संसार विषयक चित्त भी सुंदर है क्योंकि उसे संसार के वियोग विषयक ऊह/चिंतन स्वयंमेव चलता रहता है। इस ऊह से वह शुद्धानुष्ठान (धर्मरागादि) का भागी होता है।

अव. ऊपर जो अर्थ कहा, उसी का समुच्चय/संक्षेप कहते हैं-

प्रकृतेरा यतश्चैव नाप्रवृत्त्यादिधर्मताम्।
तथा विहाय धरत ऊहोऽस्य विमलं मनः ॥२०७॥

पहलेप्रकृति के अप्रवृत्ति आदि धर्मता को वि॰ छोड़कर इसे ऊह नहीं धरता इसलिए इसे (~~सम्पुनर्बंधक~~ सम्यग्दृष्टि) को विमल मन रूप ऊह होता है।

सम्यग्दर्शन के पहले प्रकृति जब तक अप्रवृत्ति रूप धर्म को स्वीकार नहीं करती अर्थात् जब तक प्रकृति कुछ निवृत्त-अधिकार वाली नहीं होती तब तक जीव को ऊह नहीं होता। इसलिए इस सम्यग्दृष्टि को ही प्रकृति निवृत्त अधिकार वाली होने से विमल/निर्मल मन रूप ऊह होता है।

अव. इससे क्या होता है? वह कहते हैं-

सति चास्मिन्स्फुरद्रत्नकल्पे सत्त्वोल्वणत्वतः।
भावस्तैमित्यतः शुद्धमनुष्ठानं सदैव हि ॥२०८॥

स्फुरायमान ऐसे रत्न समान यह ऊह होने पर सत्त्व की उल्वणता से भाव की स्थिरता से सदा ही शुद्ध अनुष्ठान होता है।

→ सत्त्व = वीर्य।
→ भाव = मन।
2016 स्तैमित्य = ~~क्षुद्रत्व आदि~~ भवाभिनंदी जीव के चित्त के क्षुद्रता आदि दोषों से क्षुभित नहीं होने से।

22 Sunday
MAY

Week 20 143-223

→ शुद्ध = अनवद्य।
अनुष्ठान = धर्मशास्त्र की शुश्रूषा आदि।

परिशुद्ध ऐसे ऊहापोह का योग ही सम्यग् अनुष्ठान का अवन्ध्य कारण है इसलिए सद् ऊह वाला ही शुद्धानुष्ठान का भागी होता है।

अव. इस शुद्धानुष्ठान के आश्रय से कहते हैं—

एतच्च योगहेतुत्वाद् योग इत्युचितं वचः।
मुख्यायां पूर्वसेवायामवतारोऽस्य केवलम् ॥२०९॥

यह शुद्ध अनुष्ठान योग का हेतु होने से योग है, ऐसा वचन उचित है। मुख्य पूर्वसेवा में केवल इसका ही अवतार है।

सम्यग्दृष्टि जीव का यह शुद्ध अनुष्ठान योग का हेतु होने से योग है, अपुनर्बंधकादि जीवों का नहीं। यह वचन उचित है क्योंकि यह सार्थक है। मुख्य पूर्वसेवा में केवल इस शुद्ध अनुष्ठान का ही अवतार। अवकाश है क्योंकि इससे पूर्व तो किया जाता अनुष्ठान भी तदाभास ही है।

* श्लो. १७१ (पृ. १२०) में मुख्य पूर्वसेवा अपुनर्बंधक जीव को कही थी और यहाँ मुख्य पूर्वसेवा में सम्यग्दृष्टि का शुद्ध अनुष्ठान का अवतार कर रहे हैं तथा अपुनर्बंधक के अनुष्ठान का निषेध है।

त्रिधा शुद्धमनुष्ठानं सच्छास्त्रपरतन्त्रता।
सम्यक्प्रत्ययप्रवृत्तिश्च तथात्रैव प्रचक्षते ॥२१०॥

तीन प्रकार से शुद्ध अनुष्ठान, सत् शास्त्र की परतन्त्रता और सम्यक्प्रत्यय की प्रवृत्ति यहीं पर कहते हैं।

JUNE 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
22			1	2	3	4	5
23	6	7	8	9	10	11	12
24	13	14	15	16	17	18	19
25	20	21	22	23	24	25	26
26	27	28	29	30			

2016

अव. तीन प्रकार के अनुष्ठान—

विषयात्मानुबन्धैस्तु त्रिधा शुद्धमुदाहृतम् ।
अनुष्ठानं प्रधानत्वं ज्ञेयमस्य यथोत्तरम् ॥2॥

विषय, आत्मा और अनुबंध, इन तीन प्रकारों से शुद्ध अनुष्ठान कहा गया है। इसका प्रधानत्व क्रमशः उत्तर-उत्तर में जानना।

→ ~~विषय~~ आत्मा = स्वरूप, अनुबंध = आगे अनुवृत्ति चलना।

अब. इसी को क्रम से दिखाते हैं –

आद्यं यदेव मुक्त्यर्थं क्रियते पतनादिषु ।
तदेव मुक्त्युपादेयत्वेशभावाच्छुभं मतम् ॥2॥

मुक्ति के लिए जो पतनादि किए जाते हैं, मुक्ति के ग्रहण का त्वेश भाव होने से वही पहला ~~शुभ~~ अनुष्ठान शुभ माना गया है।

- अनुष्ठान की शुद्धि तीन प्रकार से होती है – ① उसका विषय अर्थात् लक्ष्य, उद्देश्य शुद्ध हो ② उसका स्वरूप शुद्ध हो ③ अनुबंध शुद्ध। यहाँ जिस अनुष्ठान में मात्र विषय शुद्ध है, स्वरूप और अनुबंध शुद्ध नहीं है ऐसे अनुष्ठान का दृष्टान्त बताते हैं। अन्यदर्शनों में ऐसी बात आती है कि ‡ अमुक पर्वत के शिखर से गिरकर मृत्यु पाने वाले को मोक्ष मिलता है। इसी तरह शस्त्र से फटना, गीध को स्वयं की पीठ का अर्पण करना आदि भी समझना। कोई व्यक्ति मुक्ति के लक्ष्य से भृगुपात आदि करके मृत्यु प्राप्त करे तो उसका यह अनुष्ठान मात्र विषय से शुद्ध है क्योंकि उसमें लक्ष्य मोक्ष का है किंतु उसका स्वरूप और अनुबंध ~~शुद्ध~~ शुद्ध नहीं क्योंकि वह अत्यंत सावद्य स्वरूप वाला है।

अब. स्वरूप से शुद्ध अनुष्ठान –

द्वितीयं तु यमादेव लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम् ।
न यथाशास्त्रमेवेह सम्यग्ज्ञानाद्ययोगतः ॥3॥

लोकदृष्टि से उसी ऐसे यमादि ही स्वरूपशुद्ध रूप दूसरा अनुष्ठान

है। यह अनुष्ठान शास्त्रानुसारी नहीं होता क्योंकि सम्यग्ज्ञान आदि का योग नहीं है।

लोक दृष्टि अर्थात् स्थूल व्यवहारी की दृष्टि से जो यम-नियमादि प्रसिद्ध हैं, वे दूसरे स्वरूप से शुद्ध अनुष्ठान हैं क्योंकि इनमें भी कुछ जीवदया आदि का पालन होता है। यह अनुष्ठान शास्त्र का अनुसरण करने वाला नहीं होता क्योंकि ~~शास्त्र~~ जो ग्रंथ अनुशासन और रक्षण करने में समर्थ हैं, वे ही शास्त्र कहे जाते हैं। कहा भी गया है - जो शासन के सामर्थ्य से, रक्षण के बल से और अनवद्य अनुष्ठान से युक्त है, वही शास्त्र है और शास्त्र सर्वज्ञ का वचन ही है। (प्रशमरति -188)। अतः जैन आगम ही शास्त्र हैं और यहाँ इस अनुष्ठान में सम्यग्ज्ञान का अभाव होने से वह जीव शास्त्रानुसारी अनुष्ठान नहीं करता।
भावार्थ यह है कि ये जो पूरण तापस आदि प्रथम गुणस्थान वाले हैं, वे भी तथाविध वैराग्य से लोकदृष्टि में प्रसिद्ध यम-नियमादि रूप अनुष्ठान करते हैं किंतु जीवादि तत्त्व को नहीं जानते हैं, इनका अनुष्ठान स्वरूप से शुद्ध अनुष्ठान है।

अब अनुबंध से शुद्ध अनुष्ठान -

तृतीयमप्येवः किन्तु तत्त्वसंवेदनानुगम्।
प्रशान्तवृत्त्या सर्वत्र दृढमौत्सुक्यवर्जितम् ॥2.14॥

तृतीय अनुबंध से शुद्ध अनुष्ठान भी यही यमादि होते हैं किंतु वह तत्त्वसंवेदन का अनुसरण करने वाला होता है। सभी कार्यों में प्रशान्तवृत्ति होने से यह अनुष्ठान अत्यंत उत्सुकता रहित होता है।

तीसरे प्रकार से शुद्ध अनुष्ठान भी यमादि ही होते हैं किंतु वे तत्त्व-संवेदन अर्थात् जीवादि तत्त्व के सम्यक् परिज्ञान का अनुसरण करने वाले होते हैं तथा इस अनुष्ठान को करने वाला जीव सभी कार्यों में प्रशान्त वृत्ति वाला होने से अर्थात्

JUNE 2016
W M T W T F S S
22 1 2 3 4 5
23 6 7 8 9 10 11 12
24 13 14 15 16 17 18 19
25 20 21 22 23 24 25 26
26 27 28 29 30
2016

कषायादि के विकार से रहित होने से यह अनुष्ठान उत्सुकता से रहित होता है अर्थात् त्वरा से रहित होता है।

* सम्यग्दृष्टि जीव को निरंतर शरीर भिन्न आत्मा का बोध होता है इसलिए यह अनुष्ठान तत्त्व संवेदन का ~~अनुसारिण~~ अनुसरण करने वाला होता है। तथा सम्यग्दृष्टि जीव को एकमात्र अनित्य आत्मा की ही रुचि होने से शेष पुण्य-पाप की सभी क्रियाओं में उत्सुकता नहीं होती, कर्म के उदय से वह सभी क्रियाएँ करता है।

अव. इन तीनों अनुष्ठानों का फल क्रमशः कहते हैं—

आद्यान्न दोषविगमस्तन्मोहाधिक्ल्ययोगतः।
तद्योग्यजन्मसन्धानमत एके प्रचक्षते ॥२।५॥

प्रथम विषय शुद्ध अनुष्ठान से अज्ञान रूप अंधकार की बहुलता का योग होने से दोष का क्षय नहीं होता। इस अनुष्ठान से दोष के क्षय के उचित जन्म का संधान होता है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं।

मात्र विषय से शुद्ध अनुष्ठान में अज्ञान रूपी अंधकार की बहुलता है, इसलिए इस अनुष्ठान से दोषों का क्षय नहीं होता। इस अनुष्ठान से भवांतर में दोषों का क्षय हो, उसके योग्य जन्म की प्राप्ति होती है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं।

अव. कुछ आचार्यों द्वारा ऐसा कहने के पीछे क्या कारण है, वह कहते हैं—

मुक्ताविच्छापि पर्यन्ते प्राधान्या तमःक्षयकरी मता।
तस्याः समन्तभद्रत्वादनिदर्शनमित्यपः ॥२।६॥

क्योंकि मुक्ति विषयक इच्छा भी प्रशस्य और मोह का क्षय करने वाली मानी गई है। क्योंकि मुक्ति सभी तरह से

2016

26 Thursday
MAY
Week 21 147-219

कल्याण रूप ही है इसलिए यह अनुष्ठान उसके अनुरूप नहीं है।

→ अनिदर्शनि = अननुरूप।

मुक्ति के विषय में इच्छा भी श्लाघनीय / प्रशस्त है और मोह का नाश करने वाली मानी गई है।

प्र. मुक्ति विषयक इच्छा प्रशस्त क्यों मानी गई है? उ. क्योंकि मुक्ति सभी तरह से कल्याण रूप ही है इसलिए तद् विषयक इच्छा भी कल्याण रूप ही है।
अतः मुक्ति विषयक इच्छा भी प्रशंसनीय होने से और विषयशुद्ध अनुष्ठान में मुक्ति विषयक इच्छा होने से, इस अनुष्ठान से मोह के क्षय के उचित जन्म प्राप्त होता है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। (इस तरह श्लो. 215 के साथ संबंध है।)
इस प्रकार यह विषयशुद्ध अनुष्ठान मुक्ति का अनिदर्शन है अर्थात् अनुरूप नहीं है क्योंकि यह अनुष्ठान अत्यंत सावद्य प्रकृति वाला होने से मुक्ति से अत्यंत विसदृश है। समान पदार्थ ही समान पदार्थ का हेतु बनता है। जैसे - मिट्टी घट का हेतु है। किंतु विषयशुद्ध अनुष्ठान तो अत्यंत सावद्य होने से एकांत निरवद्य मुक्ति का हेतु कैसे बनेगा? अतः वह मुक्ति का हेतु नहीं है किंतु उस अनुष्ठान में रही मुक्ति की इच्छा ही हेतु है।

द्वितीयाद् दोषविगमो न त्वेकान्तानुबन्धनात्।
गुरुलाघवचिन्तादि न यत्तत्र नियोगतः ॥217॥

दूसरे अनुष्ठान से दोष का विगम होता है किंतु एकान्त अनुबंध से नहीं होता क्योंकि उस अनुष्ठान में गुरुलाघव की चिंता आदि अवश्य नहीं होती है।

JUNE 2016
W M T W T F S S
22 1 2 3 4 5
23 6 7 8 9 10 11 12
24 13 14 15 16 17 18 19
25 20 21 22 23 24 25 26
26 27 28 29 30

2016

दूसरे स्वरूप से शुद्ध अनुष्ठान से कषायादि का निरोध रूप दोष का विगम होता है किंतु यह विगम एकान्त अनुबंध से नहीं होता अर्थात् जला दिए गए मेंढक के चूर्ण समान आगे भी अनुवृत्ति वाला विगम नहीं होता क्योंकि गुण और दोष विषयक गुरु-लाघव की विचारणा इस अनुष्ठान में नहीं होती। अतः यहाँ दोष का विगम तो होता है किंतु उस प्रकार के विवेक से रहित होने वाले मात्र कायक्रिया की प्रधानता होने से वह दोष का विगम आत्यन्तिक नहीं होता है। वे दोष पुनः उग्र होने की संभावना रहती है। कहा भी गया है - कायक्रिया से क्षीण किए गए दोष मेंढक के चूर्ण समान है, यदि विचारणा (सद्भावना) से वे दूर किए गए हैं तो मेंढक के चूर्ण की राख समान है। (योगशतक-86)

अत एवैदमार्याणां बाह्यमन्तर्मलीमसम्।
कुराजपुरसच्छात्ययत्नकल्पं व्यवस्थितम्॥ 218॥

इसलिए यह अनुष्ठान आर्यों के मत में बाह्य है और अंदर मलीमस है इसलिए कुराजा के नगर के सुंदर किले के यत्न समान है।

स्वरूप शुद्ध अनुष्ठान से दोषों का ऐकान्तिक विगम नहीं होने से आर्य पुरुष इस अनुष्ठान को बाह्य क्रिया रूप मानते हैं किंतु अंदर उनका चित्त तो मलिन ही होता है। ऐसे जीव मात्र बाह्य अनुष्ठानों को ही धर्म मानते हैं किंतु अंतर की मलिनता को दूर करने पर ध्यान नहीं देते।

अतः यह अनुष्ठान दुष्ट राजा के नगर के सुंदर किले के यत्न समान है अर्थात् किसी नगर में शत्रु प्रवेश न कर सके ऐसा सुंदर किला बना हो किंतु यदि उस नगर का राजा दुष्ट हो तो वह नगर वृद्धि को प्राप्त नहीं होता क्योंकि लोगों को लूटना आदि उपद्रवों से वह राजा ही रोज़ नगर की स्थिति को खराब करता है; इसी तरह बाह्य

28 Saturday
MAY
Week 21 149-217

दोषों का अभाव होने पर भी तत्त्वज्ञान से रहित पुरुष को स्वरूपशुद्ध अनुष्ठान से गुणवृद्धि नहीं होती क्योंकि अज्ञान दोष ही उपघात करता है। सारांश यह है कि बाह्य दोष न होने पर भी जैसे कोई नगर दुष्ट राजा द्वारा अन्दर से ही नष्ट किया जाता है, वैसे ही बाह्य दोष न होने पर भी जीव अज्ञान रूप दोष से अंदर से ही नष्ट हो जाता है।

तृतीयाद् दोषविगमः सानुबन्धो नियोगतः।
गृहाद्यभूमिकाऽऽपाततुल्यः कैश्चिदुदाहृतः॥219॥

तीसरे अनुष्ठान से अवश्य अनुबंध सहित दोष का विगम होता है। यह दोष का विगम कुछ अन्य दर्शनियों द्वारा गृह की आद्य भूमिका के प्रारंभ (आपात) समान कहा गया है।

तीसरे अनुबंधशुद्ध अनुष्ठान से होने वाला दोष का क्षय अवश्य अनुबंध सहित होता है अर्थात् वह दोष का क्षय आत्यन्तिक होता है और उसकी परंपरा लंबी चलती है। यह दोषक्षय कुछ अन्य तीर्थान्तरीयों द्वारा घर की आद्य भूमिका अर्थात् नींव समान कहा गया है, यह हमें भी संमत ही है। आशय यह है कि घर की नींव बनाने का प्रारंभ ऊपर रचे जाने वाले घर के अंग के रूप फल वाला नहीं होता, ~~वैसे ही~~ किंतु उस घर के अनुबंध की प्रधानता वाला ही होता है, वैसे ही तत्त्वसंवेदन का अनुसरण करने वाले अनुबंध-शुद्ध अनुष्ठान आगे-आगे दोषक्षय को करने वाला ही होता है, कभी भी विपरीत नहीं होता।

अब तीसरे अनुष्ठान से दोष का क्षय अनुबंध सहित कैसे होता है? इसी बात की विचारणा करते हैं—

JUNE 2016
W M T W T F S S
22 1 2 3 4 5
23 6 7 8 9 10 11 12
24 13 14 15 16 17 18 19
25 20 21 22 23 24 25 26
26 27 28 29 30

एतद्ध्युदग्रफलदं गुरुलाघवचिन्तया।
अतः प्रवृत्तिः सर्वैव सदैव हि महोदया॥220॥

2016

गुरु-लाघव की विचारणा से यह अनुष्ठान उदग्र फल वाला होता है

क्योंकि इस गुरुलाघव की विचारणा से सभी प्रवृत्ति हमेशा महान् उदय वाली ही होती है।

यह अनुबंधशुद्ध अनुष्ठान सभी कार्यों में गुण-दोष के गुरु-लाघव की विचारणा पूर्वक किया जाता है इसलिए यह हमेशा उदार फल देने वाला होता है क्योंकि गुरु-लाघव की विचारणा पूर्वक की जाने वाली सभी प्रवृत्ति हमेशा महान् उदय अर्थात् प्रशस्त फल वाली होती है।

अब. श्लो. 211 से 214 तक तीन प्रकार के अनुष्ठान कहे (Pg. 144-145)। श्लो. 215 से 220 तक तीन प्रकार के अनुष्ठान के फल कहे (Pg. 146-149)। इस प्रकार श्लो. 210 में दर्शाया गया अनुष्ठान नामक द्वार पूर्ण हुआ (Pg. 143)। अब सत् शास्त्र की परतन्त्रता कहते हैं—

परलोकविधौ शास्त्रात् प्रायो नान्यदपेक्षते।
आसन्नभव्यो मतिमान् श्रद्धाधनसमन्वितः॥221॥

मतिमान्, श्रद्धा रूप धन से युक्त ऐसा आसन्नभव्य जीव परलोक की विधि में प्रायः शास्त्र से अन्य की अपेक्षा नहीं रखता।

→ अन्य = लोकरूढ़ि आदि।
→ आसन्नभव्य = दूरभव्य के व्यवच्छेद के लिए यह विशेषण है।
→ मतिमान् = मार्गानुसारी बुद्धि वाला।

उपदेशं विनाऽप्यर्थकामौ प्रति पटुर्जनः।
धर्मस्तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः॥222॥

लोग अर्थ-काम के प्रति उपदेश बिना ही पटु/होशियार हैं किंतु धर्म तो शास्त्र के बिना नहीं होता इसलिए धर्म में आदर करना हितकारी है।

2016

लोग अर्थ-काम में उपदेश अर्थात् शास्त्र के उपदेश बिना ही

30 Monday
MAY
Week 22 151-215

पटु हैं क्योंकि उनकी सिद्धि लोकरूढ़ि से भी संभव है।

अर्थादावविधानेऽपि तदभावः परं नृणाम् ।
धर्मेऽविधानतोऽनर्थः क्रियोदाहरणात्परः ॥223॥

अर्थादि में अविधि करने पर भी मनुष्यों को केवल उसका ही अभाव होता है किंतु धर्म में अविधि करने पर क्रिया के उदाहरण से श्रेष्ठ अनर्थ होता है।

अर्थ और काम रूप विषय में अविधि करने पर भी मनुष्यों को मात्र उस अर्थ और काम का ही अभाव होता है, अन्य कुछ अनर्थ नहीं होता। धर्म में अविधि करने पर क्रिया के उदाहरण से प्रकृष्ट अनर्थ होता है। *कहा गया है – क्रिया (चिकित्सा) को स्वीकार कर जो उससे विरुद्ध सेवन करता है, वह प्रवर्तन न करने वाले से भी अधिक और शीघ्र विनाश को प्राप्त होगा अर्थात् जो चिकित्सा नहीं करवाता है, उससे भी अधिक और शीघ्र नुकसान विपरीत चिकित्सा वाले को होता है। वैसे ही जो धर्म नहीं करता है, उससे भी अधिक और शीघ्र अनर्थ धर्म में अविधि करने वाले को होता है।

तस्मात्सदैव धर्मार्थी शास्त्रयत्नः प्रशस्यते।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन् शास्त्रात्लोकः प्रवर्तकः ॥224॥

अतः शास्त्र में प्रयत्न वाला धर्मार्थी सदा ही प्रशंसा पाता है क्योंकि मोह रूप अंधकार वाले इस लोक में शास्त्र रूप प्रकाश ही प्रवर्तक है।

JUNE 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
22			1	2	3	4	5
23	6	7	8	9	10	11	12
24	13	14	15	16	17	18	19
25	20	21	22	23	24	25	26
26	27	28	29	30			

धर्म में अविधि करने से उत्कृष्ट अनर्थ होने से शास्त्र अनुसार प्रयत्न करने वाले, शास्त्र के आदर में तत्पर ऐसे धर्म के इच्छुक जीव की ही प्रशंसा की जाती है

क्योंकि मोह रूपी अंधकार से व्याप्त इस लोक में शास्त्र रूपी प्रकाश ही प्रवर्तक है अर्थात् परलोक क्रियाओं में शास्त्र ही प्रवृत्ति कराने वाला है।

अब. शास्त्र की ही स्तुति करते हुए कहते हैं—

पापामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम्।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥225॥

शास्त्र पाप रूपी रोग की औषध है, शास्त्र पुण्य का कारण है, शास्त्र सभी जगह पहुँचने वाली चक्षु है, शास्त्र सर्व अर्थों का साधन है।

→ पुण्यनिबंधन = पवित्र कृत्य का निमित्त है।
→ सर्वत्रग चक्षु = सूक्ष्म-बादर सभी अर्थ में जाने वाली चक्षु।
→ सर्वार्थसाधन = सभी प्रयोजन की निष्पत्ति का हेतु।

न यस्य भक्तिरेतस्मिंस्तस्य धर्मक्रियापि हि।
अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या कर्मदोषादसत्फला ॥226॥

जिसे इस शास्त्र में भक्ति नहीं है, उसकी धर्मक्रिया भी अंध की देखने की क्रिया समान कर्म के दोष से असत् फल वाली है।

जैसे अंध व्यक्ति देखने की क्रिया करता है किंतु उसे कोई फल नहीं मिलता, वैसे ही शास्त्र में भक्ति रहित धर्मार्थी को इस प्रकार के मोहोदय से धर्मक्रिया का भी कुछ फल नहीं मिलता।

अब. शास्त्र में भक्तिरहित धर्मार्थी को धर्मक्रिया का फल क्यों नहीं मिलता वह दो श्लोक से कहते हैं— (कैसे धर्मार्थी की धर्मक्रिया उत्कृष्ट है?—)

यः श्राद्धो मन्यते मान्यानहङ्कारविवर्जितः।
गुणरागी महाभागस्तस्य धर्मक्रिया परा ॥227॥

जो श्राद्ध, अहंकार रहित, गुणरागी, महाभाग मान्य देवों को मानता

है, उसकी धर्मक्रिया श्रेष्ठ है।

जो सन्मार्ग का श्रद्धालु है, गुणरागी है, महाभाग अर्थात् प्रशस्त ऐसी अचिन्त्य शक्ति वाला है, अहंकार से रहित है और मानने योग्य ऐसे देवतादि को मानता है, उसकी धर्मक्रिया उत्कृष्ट है।

★ 'मान्य' का अर्थ 'देवतादि' किया है किंतु प्रकरण से 'शास्त्र' होना चाहिए।

यस्य त्वनादरः शास्त्रे तस्य श्रद्धादयो गुणाः।
उन्मत्तगुणतुल्यत्वान्न प्रशंसास्पदं सताम् ॥228॥

जिसे शास्त्र में अनादर है, उसके श्रद्धा आदि गुण उन्मत्त के गुण समान होने से सज्जनों के लिए प्रशंसास्पद नहीं है।

→ सज्जन = विवेकी।

अत. ऐसा भी क्यों होता है? क्योंकि—

मलिनस्य यथात्यन्तं जलं वस्त्रस्य शोधनम्।
अन्तःकरणरत्नस्य तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ॥229॥

जैसे अत्यंत मलिन वस्त्र की शुद्धि का हेतु जल है, वैसे मन रूपी रत्न की शुद्धि का हेतु शास्त्र है, ऐसा बुध पुरुष कहते हैं।

अत. इसीलिए—

शास्त्रे भक्तिर्जगद्वन्द्यैर्मुक्तेर्दूती परोदिता।
अत्रैवोपमतो न्याय्या तत्प्राप्त्यासन्नभावतः ॥230॥

जगत् के लिए वन्द्य तीर्थंकरों द्वारा शास्त्र विषयक भक्ति मुक्ति की श्रेष्ठ दूती कही गई है। इसलिए यह भक्ति यहीं योग्य है क्योंकि मुक्ति की प्राप्ति समीप में है।

2016

2 Thursday
JUNE

Week 22 154-212

→ अत्रैव = शास्त्र में ही।

★ 'अत्र' का अर्थ टीकाकार ने 'शास्त्र' किया है किंतु यहाँ 'सम्यग्दृष्टि' अर्थ होना चाहिए अर्थात् यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव में ही यह शक्ति योग्य है क्योंकि वह मुक्ति की प्राप्ति के समीप है।

अत. श्लो. 221 से 230 तक सत्शास्त्र की परतन्त्रता कही। अब सम्यक् प्रत्यय की वृत्ति कहते हैं (श्लो. 210 Pg. 143) –

तथात्मगुरुलिङ्गानि प्रत्ययस्त्रिविधो मतः।
सर्वत्र सदनुष्ठाने योगमार्गे विशेषतः॥23॥

सभी जगह सदनुष्ठान में आत्मा, गुरु, लिंग ऐसे तीन प्रकार का प्रत्यय माना गया है, योगमार्ग में विशेष से माना गया है।

जिससे भविष्य में होने वाले अर्थ की प्रतीति हो वह प्रत्यय है। सभी अविसंवादि फल वाले प्रयोजन/अनुष्ठान/कार्यों में तीन प्रकार के प्रत्यय माने गए हैं – आत्मा, गुरु, लिंग। ये प्रत्यय योगमार्ग में तो विशेष प्रकार से माने गए हैं क्योंकि योग सभी सदनुष्ठानों से अतिशायी है।

अब इन तीन प्रकार के प्रत्यय कहते हैं –

आत्मा तदभिलाषी स्याद् गुरुराह तदेव तु।
तल्लिङ्गोपनिपातश्च सम्पूर्ण सिद्धिसाधनम्॥232॥

आत्मा उसका अभिलाषी हो, गुरु वही कहे और उसके चिह्नों का उपनिपात हो, यह सिद्धि का संपूर्ण साधन है।

आत्मा अर्थात् अनुष्ठान करने वाला पुरुष स्वतः ही उस अनुष्ठान-विशेष का रागी हो, गुरु भी उसे वही अनुष्ठान करने के लिए कहे और उस अनुष्ठान की सिद्धि के सूचक ऐसे चिह्न प्रगट हो; इन सबको उस अनुष्ठान की सिद्धि का सूचक

समझना चाहिए।
सिद्धि के सूचक कचिह्न नंदीतूर, पुण्यपुरुष का दर्शन, शंख-पटह का शब्द, प्रशस्त ऐसे शृंगार-छत्र-चामर-ध्वज-पताका आदि सूत्र में प्रसिद्ध हैं।

अब, सिद्धि किसे कहते हैं-

सिद्ध्यन्तरस्य सद्बीजं या सा सिद्धिरिहोच्यते।
ऐकान्तिक्यन्यथा नैव पातशक्त्यनुवेधतः ॥233॥

जो अन्य सिद्धि का सद्बीज है, वही ऐकान्तिक सिद्धि कही जाती है। अन्यथा ऐकान्तिक सिद्धि नहीं होती क्योंकि उसमें पातशक्ति का अनुवेध है।

जो अन्य सिद्धि का तत् अर्थात् अवन्ध्य बीज है, वही ऐकान्तिक सिद्धि है। जो अनुष्ठान आगे-आगे वाले गुणस्थान की प्राप्ति अवश्य कराते हैं, वे सिद्धि कहे जाते हैं। यह ऐकान्तिक है क्योंकि इसमें पुनः भ्रष्ट होने का सामर्थ्य नहीं है।
जिस अनुष्ठान में अवन्ध्य बीज नहीं होता, वह ऐकान्तिक सिद्धि नहीं होती क्योंकि वह पुनः नीचे भी गिर सकता है। जैसे आधि आदि शल्य के उपघात से बहुत प्रयत्न द्वारा बनाया जाता महल भी गिर जाता है, वैसे ही यह सिद्धि भी मिथ्याभिनिवेश आदि पात शक्ति होने से निर्वाण फल के लिए नहीं होती है।

सिद्ध्यन्तरं न सन्धत्ते या सावश्यं पतत्यतः।
तच्छक्त्याप्यनुविद्धैव पातोऽसौ तत्त्वतो मतः ॥234॥

जो सिद्धि अन्य सिद्धि का संधान न करे, वह अवश्य गिर जाती है। इसलिए उसकी शक्ति से अनुविद्ध ही है। यह पात तात्त्विक माना गया है।

2016

→ तत्शक्ति = तत् से पात लेना।

4 Saturday
JUNE

Week 22 156-210

जो सिद्धि ऊपर वाले गुणस्थान में नहीं पहुँचाती है, वह अवश्य ही नीचे गिरती ही है। अतः वह भी पातशक्ति से युक्त ही है। जैसे ~~कोई~~ किसी पुरुष को पुत्र न हो, वह पुरुष स्वयं विद्यमान होने पर भी उसकी वंश परंपरा तो अवश्य टूट ही जाने वाली है। ऐसे ही जो अनुष्ठान आगे वाले अनुष्ठान का संधान नहीं करता है, वह अनुष्ठान विद्यमान होने पर भी आगे जाकर ~~नीचे~~ नष्ट ही होने वाला है आगे जाकर नष्ट ही होने वाला होने से इस अनुष्ठान को पात ही माना गया है।

अब इससे विपरीत सिद्धि कहते हैं -

सिद्ध्यन्तराङ्गसंयोगात् साध्वी चैकान्तिकी शृशम्।
आत्मादिप्रत्ययोपेता तदेषा नियमेन तु ॥235॥

अन्य सिद्धि के अंगों का संयोग होने से ही ऐकान्तिक सिद्धि अत्यंत सुंदर है। इसलिए ही वह अवश्य आत्मादि के प्रत्यय से युक्त है।

→ आत्मादिप्रत्यय = आत्मा-गुरु-लिंग प्रत्यय से युक्त।

न ह्युपायान्तरोपेयमुपायान्तरतोऽपि हि।
हाठिकानामपि यतस्तत्प्रत्ययपरो भवेत् ॥236॥

अन्य उपाय से साध्य कार्य अन्य उपाय से हाठिकों को भी सिद्ध नहीं होता इसलिए आत्मादि प्रत्यय में तत्पर होना चाहिए।

मिट्टी वगैरह सभी उपकरण जिसके पास हैं ऐसा कुम्भकार भी घर के साधनों से घट बनाने में समर्थ नहीं है क्योंकि उसके पास घट के साधनों का अभाव है, वैसे ही आत्मादि प्रत्ययों से रहित योगी सिद्धि को साधने में समर्थ नहीं है। इसलिए ऊपर श्लो. 235 में भी कहा कि ऐकान्तिक सिद्धि अर्थात् ऊपर-ऊपर की अवस्था में पहुँचाने वाली सिद्धि आत्मादि प्रत्यय से अवश्य युक्त होती है।

2016

अब. इसी प्रत्यय की प्रशस्तता बताते हैं -

पठितः सिद्धिदूतोऽयं प्रत्ययो ह्यत एव हि।
सिद्धिहस्तावलम्बश्च तथान्यैर्मुख्ययोगिभिः ॥237॥

यह प्रत्यय इस कारण से ही (सिद्धि प्रत्ययुक्त होने से ही) अन्य मुख्य योगियों द्वारा सिद्धि का दूत और सिद्धि का हाथ पकड़ने जैसा कहा गया है।

अपेक्षते ध्रुवं ह्येनं सद्योगारम्भकस्तु यः।
नान्यः प्रवर्तमानोऽपि तत्र दैवनियोगतः ॥238॥

जो सद्योग का आरंभ करने वाला है, वह इस प्रत्यय की अवश्य अपेक्षा करता है किंतु योग में दैव के नियोग से प्रवर्तता हुआ भी अन्य इस प्रत्यय की अपेक्षा नहीं रखता।

जो योगी सद्योग अर्थात् अनुबंधशुद्ध अनुष्ठान का प्रारंभ करने वाला है, वह इन आप्तादि प्रत्यय की अवश्य अपेक्षा अवश्य रखता है। किंतु जो विषयशुद्ध और स्वरूप शुद्ध अनुष्ठान को कर्म की परतंत्रता से आचरता है, वह इस प्रत्यय की अपेक्षा नहीं रखता। तत्त्वज्ञान से शून्य होने से जिसने स्वयं के आत्मा का स्वरूप नहीं जाना है, उसकी प्रवृत्ति में कर्म की परतंत्रता ही हेतु है।

आगमात्सर्व एवायं व्यवहारः स्थितो यतः।
तत्रापि हाठिको यस्तु हन्ताऽज्ञानां स शेखरः ॥239॥

यह सभी व्यवहार आगम से ही स्थित है। उसमें भी जो हाठिक है, वह अज्ञों में शेखर है।

योगमार्ग में उपयोगी हेय-उपादेय अर्थों का यह व्यवहार 'आगम अर्थात् गुरुवचन रूप प्रत्यय से स्थित है क्योंकि अतीन्द्रिय फल वाले अनुष्ठानों में शास्त्र ही प्रतीति का हेतु

6 Monday
JUNE

Week 23 158-208

है। इन व्यवहार में भी जो हाठिक है अर्थात् स्वयं के विकल्प से प्रवृत्ति द्वारा आगम से निरपेक्ष होने से ज़बरजस्ती करने वाला है, हठयोगी है, वह अज्ञानियों में शेखर - शिरोमणि है; क्योंकि वह अनुपाय में प्रवृत्त है।

तत्कारी स्यात्स नियमात् तद्द्वेषी चेति यो जडः।
आगमार्थे तमुत्क्रङ्घ्य तत एव प्रवर्तते ॥२५०॥

वही करने वाला वह होता है और अवश्य उसका द्वेषी है, इस प्रकार जो जड़ है, वह आगम के अर्थ में उसका उत्क्रंघन करके उससे ही प्रवर्तन करता है।

हाठिक पुरुष आगम के में कहे गए अनुष्ठानों को करता है किंतु उनकी विधि का वह अनुसरण नहीं करता, स्वयं के विकल्प अनुसार विधि करता है। इसलिए वह आगम का द्वेषी भी है क्योंकि द्वेष के बिना आगमोक्त विधि का उत्क्रंघन नहीं कर सकता।

अब. इसी बात को व्यतिरेक से कहते हैं-

न च सद्योगभव्यस्य वृत्तिरेवंविधापि हि।
न जात्यजात्यधर्मान्यज्जात्यः सन् भजते शिखी ॥२५१॥

सत् योग के योग्य जीव की वृत्ति इस प्रकार की नहीं होती। जैसे जात्य मोर कभी भी अजात्य धर्मों का आचरण नहीं करता।

सत् योग अर्थात् परिशुद्ध योग के योग्य जीव की वृत्ति ऐसी नहीं होती अर्थात् आगम में द्वेष वाली वृत्ति नहीं होती।

JULY 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
26					1	2	3
27	4	5	6	7	8	9	10
28	11	12	13	14	15	16	17
29	18	19	20	21	22	23	24
30	25	26	27	28	29	30	31

एतस्य गर्भयोगेऽपि मातृणां श्रूयते परः।
औचित्यारम्भनिष्पन्नो जनश्चाद्यो महोदयः ॥२५२॥

2016

इस सत् योग के योग्य ऐसे तीर्थकरादि जीवों के गर्भ का योग

होने पर भी माताओं को औचित्य आरंभ की निष्पत्ति में लोकों द्वारा प्रशंसनीय ऐसा महोदय सुना जाता है।

कहा जाता है कि- सभी निश्चयों में माता सुंदर मति वाली होने से सुमति नाम रखा। गर्भ में होने पर माता सुंदर धर्म वाली हुई इसलिए धर्म नाम रखा। माता सुंदर व्रत वाली हुई इसलिए मुनिसुव्रत नाम रखा। (आव.नि.)

जात्यकाञ्चनतुल्यास्तत्प्रतिपच्चन्द्रसन्निभाः।
सदोजोरत्नतुल्याश्च लोकाभ्युदयहेतवः॥२५३॥

ये सत् योग के योग्य तीर्थंकरादि जीव जात्यकाञ्चन समान हैं, शुक्ल पक्ष की एकम के चन्द्र समान हैं, सत् ओज वाले रत्न समान हैं और लोक के अभ्युदय के हेतु हैं।

→ जात्यकाञ्चनतुल्य= अकृत्रिम सुवर्ण समान, अविसंवादी स्वभाव वाले हैं।
→ प्रतिपच्चन्द्रसंनिभ= बढ़ती हुई शुद्धि वाले होने से शुक्ल पक्ष की एकम के चन्द्र समान हैं।
→ सदोजोरत्नतुल्य= सुंदर ओज-तेज वाले चिन्तामणि आदि रत्न समान हैं।
→ लोकाभ्युदयहेतु= तीनों जगत् के माहात्म्य की प्राप्ति में निमित्त)

अब. उपर्युक्त ७ विशेषण गर्भावस्था के आश्रय से कही। अब अन्य अवस्था के आश्रय से कहते हैं-

औचित्यारम्भिणोऽक्षुद्राः प्रेक्षावन्तः शुभाशयाः।
अवन्ध्यचेष्टाः कालज्ञा योगधर्माधिकारिणः॥२५४॥

औचित्य आरंभ वाले, अक्षुद्र, प्रेक्षावान्, शुभाशय वाले, अवन्ध्य चेष्टा वाले, कालज्ञ और योगधर्म के अधिकारी हैं।

2016

8 Wednesday
JUNE
Week 23 160-206

→ औचित्यारंभ = सभी अर्थों में योग्य आरंभ करने वाले।
→ अक्षुद्र = गंभीर आशय वाले।
→ प्रेक्षावान् = अति निपुण बुद्धि वाले।
→ अवन्ध्यचेष्टा = निष्फलता रहित व्यापार वाले।
→ कालज्ञ = प्रस्ताव/काल को जानने वाले।
→ ~~धीम~~

अब, मोर के दृष्टान्त के आश्रय से कहते हैं—

यश्चात्र शिखिदृष्टान्तः शास्त्रे प्रोक्तो महात्मभिः।
स तत्पण्डरसादीनां सच्छक्त्यादिप्रसाधनः ॥245॥

महात्माओं द्वारा शास्त्र में जो मोर का दृष्टान्त कहा गया है, वह उसके अंडे, ~~कली~~ रसादि की सत् शक्ति आदि का प्रसाधन है।

→ प्रसाधन = प्रकाशक।

शास्त्र में जो मोर का दृष्टान्त कहा गया है, वह भी अण्डे, रस आदि की अवस्थाओं में भी सत् यानी जात्य धर्मों की शक्ति का प्रकाशक है अर्थात् जो जात्यधर्म मोर में होते हैं वे शक्तिरूप में अण्डे वगैरह अवस्था में भी होते ही हैं क्योंकि अण्ड अवस्था में सर्वथा असत् जात्यधर्म बाद में भी उत्पन्न होने के लिए योग्य नहीं हैं। सर्वथा असत् किसी भी वस्तु का उत्पाद कभी भी नहीं होता। इसी प्रकार योगधर्म के अधिकारी जीवों में गर्भावस्था में भी गुणों का बीज होता है।

प्रवृत्तिरपि चैतेषां धैर्यात् सर्वत्र वस्तुनि।
अपायपरिहारेण दीर्घालोचनसङ्गता ॥246॥

इन जीवों की सभी वस्तु में प्रवृत्ति भी अपाय के परिहार पूर्वक धैर्य से दीर्घ आलोचन से युक्त होती है।

JULY 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
26					1	2	3
27	4	5	6	7	8	9	10
28	11	12	13	14	15	16	17
29	18	19	20	21	22	23	24
30	25	26	27	28	29	30	31

2016

इन योगधर्म के अधिकारी जीवों की धर्म - अर्थ आदि सभी वस्तु में

प्रवृत्ति भी धैर्य अर्थात् दूसरों से क्षुभित न हो, इस तरह होती है तथा भविष्य में होने वाले अपायों के परिहार पूर्वक प्रवृत्ति होती है। ये जीव कार्य के परिणाम की दीर्घ विचारणा करके ही प्रवृत्ति करते हैं।

तत्प्रणेतृसमाक्रान्तचित्तरत्नविभूषणा।
साध्यसिद्धावनौत्सुक्यगाम्भीर्यास्तिमिताननाः ॥२५७॥

वह प्रवृत्ति भी प्रवृत्ति (तत्) के प्रणेता द्वारा चित्त रूपी रत्न की विभूषा से व्याप्त होती है तथा साध्य की सिद्धि में उत्सुकता रहित, गम्भीरता से प्रसन्न मुख वाली होती है।

योगधर्म के अधिकारी जीवों की प्रवृत्ति उस प्रवृत्ति (धर्म) के प्रणेता तीर्थंकरादि के प्रतिक्षण स्मरण से व्याप्त होती है अर्थात् उस जीव को प्रत्येक समय तीर्थंकरादि का स्मरण होता रहता है। अतः उस जीव के चित्त रूपी रत्न की विभूषा/अलंकार उन प्रणेता का स्मरण है।
तथा उसकी प्रवृत्ति धर्म-अर्थ आदि प्रयोजन की सिद्धि में ~~उत्सुक~~ उत्सुकता रहित होती है और गंभीरता वाली होती है अर्थात् वह प्रवृत्ति में त्वरा नहीं करता और गंभीरता पूर्वक प्रवृत्ति करता है।

★ वह जीव साध्य की सिद्धि में उत्सुकता रहित होता है अर्थात् उस जीव को मोक्ष में भी इच्छा की बुद्धि नहीं होती, वह मात्र वर्तमान में निर्विकल्पता के आनंद में मग्न होता है।

फलवद्द्रुमसद्बीजप्ररोहसदृशं तथा।
साध्वनुष्ठानमित्युक्तं सानुबन्धं महर्षिभिः ॥२५८॥

महर्षियों द्वारा 2016 इसलिए इन जीवों का अनुष्ठान फल वाले वृक्ष के सद् बीज के उगने समान सुंदर और सानुबंध अनुष्ठान कहा

JUNE 2016
W M T W T F S S
22 1 2 3 4 5
23 6 7 8 9 10 11 12
24 13 14 15 16 17 18 19
25 20 21 22 23 24 25 26
26 27 28 29 30

गया है।

उपर्युक्त कारणों से ही इन योगधर्म के अधिकारी जीवों के अनुष्ठान को महर्षियों द्वारा फल वाले वृक्ष के अवन्ध्य बीज अर्थात् अवश्य फल देने वाले बीज के उगने समान कहा गया है क्योंकि यह अनुष्ठान मोक्ष रूपी फल के लिए धर्म रूपी वृक्ष के बीज समान है। तथा यह अनुष्ठान सानुबंध है अर्थात् इसका अनुबंध आगे-आगे चलता रहता है। (सानुबंध अनुष्ठान का स्वरूप श्लो. 33 Pg. 35 पर)

अन्तर्विवेकसम्भूतं शान्तोदात्तमविप्लुतम्।
नाग्रोद्भवलताप्रायं बहिश्चेष्टाधिमुक्तिकम् ॥249॥

इसीलिए वह अनुष्ठान अन्तर्विवेक से उत्पन्न होता है, शान्त-उदात्त, विप्लव रहित, बाह्य-चेष्टा में श्रद्धा वाला होता और वृक्ष के अग्रभाग पर उत्पन्न लता जैसा नहीं होता।

→ अन्तर्विवेकसंभूत = अन्तर्विवेक यानी तत्त्वसंवेदन नामक ज्ञान से प्रवृत्त।
→ शान्तोदात्त = शांत-उदात्त पुरुष द्वारा आरंभ किया गया होने से।
→ अग्रोद्भवलता न = वृक्ष के अंतिम अग्र भाग पर उत्पन्न होने वाली लता प्रायः अन्य लता का अनुबंध करने में समर्थ नहीं होती। यह अनुष्ठान उत्तर-उत्तर अनुष्ठान का अनुबंध करने वाला होने इस लता समान नहीं होता।
→ बहिश्चेष्टाधिमुक्तिक = चैत्यवंदनादि बाह्य चेष्टा में श्रद्धा युक्त।

अब, इस प्रकार विषय, स्वरूप और अनुबंध से शुद्धि की प्रधानता वाले तीन अनुष्ठानों को कहकर अब 'तीनों अनुष्ठान अवस्था के भेद से संमत हैं', ऐसा कहते हैं—

2016

(★ श्लो. 210 में कहा गया 'सम्यक्प्रत्ययवृत्ति' द्वार श्लो. 231 (Pg 154)

से शुरु हुआ था। उस द्वार में सत्योग के योग्य जीव की प्रवृत्ति श्लो. 241 (Pg. 158) से कह रहे थे। उस विषय को श्लो. 209 (Pg. 143) में कहे गए पूर्वसेवा में जोड़ते हैं। श्लो. 210 के सभी द्वार पूर्ण हुए]—

इष्यते चैतदप्यत्र विषयोपाधि संगतम्।
निदर्शितमिदं तावत् पूर्वमत्रैव लेशतः ॥250॥

विषय उपाधि रूप यह अनुष्ठान यहाँ भी इष्ट है, संगत है। यह पूर्व में यहीं लेश से कहा जा चुका है।

→ एतद् = पूर्व में कहा गया अनुष्ठान।
→ विषयोपाधि = विषय से शुद्ध अनुष्ठान।
→ अत्र = योग की विचारणा में।

पूर्व में कहा गया यह अनुष्ठान (श्लो. 248 में) विषय शुद्ध है युक्त है तथा यहाँ योग की विचारणा में इष्ट है। यह पहले ही संक्षेप में कहा जा चुका है - मुक्ति विषयक इच्छा भी श्लाघनीय और तमः क्षय करने वाला है (श्लो. 216) इत्यादि।

★ अत्र = ✱ मुख्य पूर्वसेवा में।
विषयोपाधिसंगत = विषय रूप उपाधि से युक्त अनुष्ठान।
एतद् = श्लो. 248 में कहा गया अनुष्ठान।
यह विषय रूप उपाधि से युक्त अनुष्ठान पूर्वसेवा में ✱ इष्ट है क्योंकि ~~यह~~ अपुनर्बंधक जीव को तो विषय में आसक्ति होती ही है।

अब. यह प्रस्तुत अनुष्ठान जिस जीव को होता है, उस अपुनर्बंधक जीव के आश्रय से कहते हैं—

अपुनर्बन्धकस्यैवं सम्यग्नीत्योपपद्यते।
तत्तत्तन्त्रोक्तमखिलमवस्थाभेदसंश्रयात् ॥251॥

2016

12 Sunday
JUNE

Week 23 164-202

इस प्रकार उस-उस शास्त्र में कहा हुआ सब अवस्था भेद के आश्रय से सम्यग् नीति से अपुनर्बंधक को ही घटित होता है।

→ नीति = शुद्धि से युक्त अनुष्ठान।
→ तत्तत्तन्त्रोक्त = कापिल, सौगत आदि शास्त्र में कहे गए मुमुक्षुओं के योग्य अनुष्ठान।
→ अवस्थाभेद संश्रय = अपुनर्बंधक के अनेक भेद स्वीकारने से।

अनेक स्वरूप स्वीकारने पर अपुनर्बंधक को कोई भी अनुष्ठान किसी भी अवस्था में हो सकता है।

अब. अब अपुनर्बंधक के बाद जो होता है, वह कहते हैं-

स्वतन्त्रनीतितस्त्वेव ग्रन्थिभेदे तथा सति।
सम्यग्दृष्टिर्भवत्युच्चैः प्रशमादिगुणान्वितः ॥252॥

ग्रंथिभेद होने पर स्वयं के शास्त्र की नीति से अत्यंत प्रशमादि गुणों से युक्त जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

इस प्रकार ग्रंथिभेद होने पर अर्थात् ऐसे सानुबंध अनुष्ठान, पूर्वसेवा आदि प्रवृत्ति करते हुए ग्रंथि का भेद होने जीव सम्यग्दृष्टि होता है तथा अत्यंत प्रशम-संवेग-निर्वेद-आस्तिक्य-अनुकंपा आदि गुणों से युक्त होता है। सम्यग्दृष्टि संज्ञा स्वयं के तन्त्र अर्थात् जैन शास्त्र ~~की मान्य~~ में है।

अब. इस सम्यग्दृष्टि जीव के चिह्न कहते हैं-

शुश्रूषा धर्मरागश्च गुरुदेवादिपूजनम्।
यथाशक्ति विनिर्दिष्टं लिङ्गमस्य महात्मभिः ॥253॥

महात्माओं द्वारा शुश्रूषा, धर्मराग और यथाशक्ति गुरुदेवादि पूजन इस जीव के लिंग कहे गए हैं।

JULY 2016
W M T W T F S S
26 1 2 3
27 4 5 6 7 8 9 10
28 11 12 13 14 15 16 17
29 18 19 20 21 22 23 24
30 25 26 27 28 29 30 31

* तुच्छनित्ययाप्रतिबद्ध = तुच्छानित्यया स्त्री समझना। समास में पुंवद्भाव नहीं किया है।

→ शुश्रूषा = सद्धर्म के शास्त्र विषयक।
→ धर्मराग = चारित्र धर्म का अनुराग।
→ गुरूदेवादिपूजन = गुरु - जिन - साधर्मिक आदि की पूजा।

अब. शुश्रूषा लिंग का ३ तीन श्लोक से विवेचन करते हैं -

न किन्नरादिगेयादौ शुश्रूषा भोगिनस्तथा।
यथा जिनोक्तावस्येति हेतुसामर्थ्यभेदतः ॥२५५॥

किन्नरादि के गीतादि में भोगी को वैसी शुश्रूषा नहीं होती, जैसी जिनोक्त वचन में इस सम्यग्दृष्टि को शुश्रूषा होती है क्योंकि दोनों में हेतु के सामर्थ्य का भेद है।

→ गेयादि = गीत, वर्ण परिवर्त, अभ्यास, कथा कहना आदि श्रवणेन्द्रिय का आक्षेप/आकर्षण करने वाले।
→ भोगी = स्त्री से युक्त, श्रवणेन्द्रिय की पटुता से युक्त, अतिशय कामी ऐसे युवान् को।

सम्यग्दृष्टि जीव को भोगी युवा की किंनरादि के गीत सुनने की इच्छा से भी अधिक जिनवचन सुनने की इच्छा होती है क्योंकि हेतु का ~~सा~~ सामर्थ्य भिन्न है अर्थात् किंनरादि के गीत सुनने के हेतु से जिनवचन सुनने में विशिष्ट सामर्थ्य वाला हेतु है।

अब. विशिष्ट सामर्थ्य वाला हेतु ही बताते हैं -

तुच्छं च तुच्छनित्ययाप्रतिबद्धं च तद् यतः।
गेयं जिनोक्तिस्त्रैलोक्यभोगसंसिद्धिसङ्गता ॥२५६॥

वह गीत तुच्छ है और तुच्छ समूह वाली स्त्री से प्रतिबद्ध है। जिनवचन तीनों लोक के भोग और सिद्धि से युक्त है।

14 Tuesday
JUNE
Week 24 · 166-200

वह किंनरादि का गीत तुच्छ है अर्थात् श्रवणेन्द्रिय को मात्र क्षणिक सुख देने वाला होने से वह अल्प है तथा तुच्छ समूह वाली स्त्री से प्रतिबद्ध है अर्थात् शुक्र, शोणित आदि मल के समूह रूप स्त्री के वर्णन में प्रवृत्त है।
दूसरी ओर जिनवचन तीनों लोक संबंधी भोग और सिद्धि से युक्त है अर्थात् जिनवचन की आराधना से तीनों लोक में श्रेष्ठ ऐसे इन्द्र-चक्रवर्ती आदि भोग और सकल कर्म क्षय से सिद्धि प्राप्त होती है।
इस प्रकार जिनवचन में शुश्रूषा होने में विशिष्ट सामर्थ्य वाला हेतु है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव की जिनवचन विषयक शुश्रूषा भोगी की गीत आदि विषयक शुश्रूषा से विशिष्ट होती है।

अब. इसी बात का उपसंहार करते हैं-

हेतुभेदो महानेवमनयोर्पर्यवस्थितः।
चरमात्तद् पुज्यतेऽत्यन्तं भावातिशययोगतः ॥256॥

इस प्रकार इन दोनों शुश्रूषा के हेतु में बड़ा भेद है इसलिए अंतिम हेतु से अतिशय भाव का योग होने से अत्यंत शुश्रूषा परिणत होती है।

→ भावातिशययोग = उपादेयता रूप भाव के प्रकर्ष से।

अव. श्लो. 253 (Pg. 164) में कहे सम्यग्दृष्टि के लिंग में से प्रथम शुश्रूषा लिंग पूर्ण हुआ। अब दूसरे 'धर्मराग' लिंग की विचारणा के लिए कहते हैं-

धर्मरागोऽधिकोऽस्यैवं भोगिनः स्त्र्यादिरागतः।
भावतः कर्मसामर्थ्यात् प्रवृत्तिस्त्वन्यथापि हि ॥257॥

इसी प्रकार भोगी के स्त्री आदि विषयक राग से भी अधिक धर्मराग इस सम्यग्दृष्टि जीव को भाव से होता है। कर्म के सामर्थ्य से प्रवृत्ति तो अन्यथा भी होती है।

JULY 2016
W M T W T F S S
26 1 2 3
27 4 5 6 7 8 9 10
28 11 12 13 14 15 16 17
29 18 19 20 21 22 23 24
30 25 26 27 28 29 30 31
2016

जैसे सम्यग्दृष्टि को भोगी की गीतादि विषयक शुश्रूषा से जिन-वचनविषयक शुश्रूषा अधिक होती है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि को भोगी के स्त्री आदि विषयक राग से भी अधिक धर्मराग होता है। सम्यग्दृष्टि जीव को धर्म का राग भाव से अर्थात् अन्तःकरण की परिणति से होता है किंतु बहिर्वृत्ति से नहीं क्योंकि चारित्र मोह कर्म की प्रबलता हो सकती है। इसलिए उस जीव की प्रवृत्ति तो अन्य प्रकार अर्थात् चारित्रधर्म की प्रतिकूल रूप से भी हो सकती है।

★ धर्मराग/मान्यता/सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय कर्म पर निर्भर है और बाह्य प्रवृत्ति चारित्र मोह पर निर्भर। अतः जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट हो, उसकी प्रवृत्ति धार्मिक ही हो ऐसा आवश्यक नहीं है; धर्म से प्रतिकूल प्रवृत्ति भी हो सकती है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव के बाह्य आचरण को आदर्श नहीं बनाना चाहिए किंतु उसकी आंतरिक परिणति/अनुभूति को आदर्श बनाना चाहिए। उसकी विपरीत प्रवृत्ति देखकर भी निंदा नहीं करना चाहिए।
ऐसे सिद्धांत पढ़कर स्वच्छंदी भी नहीं होना चाहिए।

अब. अन्य प्रकार से भी प्रवृत्ति होने पर भाव से इसे धर्मराग कैसे है? उ.—

न चैवं तत्र नो राग इति युक्त्योपपद्यते।
हविःपूर्णप्रियो विप्रो भुङ्क्ते यत्पूपिकादपि॥२५४॥

इस प्रकार अन्यथा भी प्रवृत्ति होने पर धर्म में राग नहीं है, ऐसा नहीं है क्योंकि यह युक्ति से घटित होता है। जैसे- घी से पूर्ण वस्तु प्रिय होने पर भी ब्राह्मण पूपिकादि भी खाता है।

2016 → पूपिक= पूप यानी कुथित/सड़ा हुआ रस। सड़े हुए रस वाली वस्तु पूपिक।

16 Thursday
JUNE
Week 24 168-198

सम्यग्दृष्टि जीव धर्म से विपरीत प्रवृत्ति करता है, तब उसे धर्म-राग नहीं होता, ऐसा नहीं है; क्योंकि यह भी युक्ति से घटित होता है कि किसी व्यक्ति को कोई कार्य अच्छा नहीं लगता, फिर भी वह उसे कार्य करना पड़ता है। जैसे - ब्राह्मण को जाति से ही घी से पूर्ण वस्तु खाना पसंद है, उसे अन्य लूखी, सड़ी हुई वस्तु खाना पसंद नहीं होती। फिर भी ऐसी कोई परिस्थिति आ जाने पर उसे रूक्ष और बासी वस्तु भी खाना पड़ती है।

अत. सम्यग्दृष्टि जीव के आश्रय से ही कहते हैं -
(* सम्यग्दर्शन के पात की बात भी प्रसंग से साथ में ही कर देते हैं -)

पातात्त्वस्येत्वरं कालं भावोऽपि विनिवर्तते।
वातरेणुभृतं चक्षुः स्त्रीरत्नमपि नेक्षते ॥259॥

इस जीव का पात होने से इत्वर काल के लिए भाव का भी निवर्तन हो जाता है। जैसे वातरेणु से भरी हुई चक्षु स्त्रीरत्न को भी नहीं देखता है।

यदि तथाविध निकाचित मिथ्यात्व मोह का उदय हो जाए तो सम्यग्दर्शन से जीव भ्रष्ट भी हो जाता है। तब कुछ काल के लिए जीव के तत्त्वश्रद्धा, धर्मराग, शुश्रूषादि के भाव भी गिर जाते हैं। वह काल उत्कृष्ट से अर्ध पुद्गल परावर्त काल प्रमाण होता है। जैसे - वायु से उड़ने वाली रज/धूल से चक्षु भरा जाने से वह चक्षु स्त्रीरत्न को भी देख पाती है, वैसे ही सम्यग्दर्शन रूपी चक्षु भी जीवादि तत्त्वों को नहीं देख पाती है।

JULY 2016
W M T W T F S S
26 1 2 3
27 4 5 6 7 8 9 10
28 11 12 13 14 15 16 17
29 18 19 20 21 22 23 24
30 25 26 27 28 29 30 31

अब. तीसरे - 'गुरुदेवादि पूजन' लिंग की विचारणा करते हैं -

2016

भोगिनोऽस्य स दूरेण भावसारं तथेक्षते।
सर्वकर्तव्यतात्यागाद् गुरुदेवादिपूजनम् ॥260॥

वह (सम्यग्दृष्टि) भोगी के इस स्त्रीरत्न को देखने की तरह सर्वकर्तव्यता के त्याग से गुरुदेवादि पूजन को भावसार रूप देखता है।

→ अस्य = स्त्रीरत्न का।
→ भावसार = सभी भावों में सार रूप।
→ स = सम्यग्दृष्टि जीव।

जैसे भोगी जीव इस स्त्रीरत्न को सभी भावों/पदार्थों के साररूप देखता है, वैसे वह सम्यग्दृष्टि जीव भी सभी कार्यों को छोड़कर मात्र गुरुदेवादि के पूजन को सभी भावों में साररूप देखता है। जिस प्रकार भोगी स्त्रीरत्न विषयक गौरव करता है, वैसे सम्यग्दृष्टि गुरुदेवादि पूजन में बहुमान को धारण करता है।

निजं न हापयत्येव कालमत्र महामतिः।
सारतामस्य विज्ञाय सद्भावप्रतिबन्धतः ॥261॥

इस पूजन की सारता को जानकर व सद्भाव का प्रतिबंध (राग) होने से वह महामति पूजन में (अत्र) स्वयं का अवसर (काल) कभी चूकता नहीं ही है।

→ सारता = सभी कार्यों में प्रधानता।
→ सद्भावप्रतिबंध = तात्त्विक परिणाम के प्रतिबंध से।

शक्तेर्न्यूनाधिकत्वेन नात्राप्येष प्रवर्तते।
प्रवृत्तिमात्रमेतद् यद् यथाशक्ति तु सत्फलम् ॥262॥

शक्ति के न्यून-अधिक पन से इस भुवन पूजन में भी यह प्रवृत्ति नहीं करता क्योंकि यह तो मात्र प्रवृत्ति है। यथाशक्ति करने पर ही फल होता है।

18 Saturday
JUNE
Week 24 170-196

→ अत्रापि = गुरुदेवादि पूजन में भी।
→ एष = यह सम्यग्दृष्टि।
→ एतद् = शक्ति के न्यूनाधिकपन से पूजन करना।
→ सत्फल = सत् / विद्यमान है फल जिसका।

अधिक शक्ति होने पर न्यून प्रवृत्ति करना और हीन शक्ति होने पर भी अधिक प्रवृत्ति करना, यह सम्यग्दृष्टि जीव गुरुदेवादि के पूजन में भी ऐसी प्रवृत्ति नहीं करता। क्योंकि शक्ति से न्यून या अधिक प्रवृत्ति करनी मात्र प्रवृत्ति ही है अर्थात् कायक्लेश ही है। यथाशक्ति प्रवृत्ति ही फल को देने वाली होती है।

अब. श्लो. 257 (Pg. 166 पर) में बताए सम्यग्दृष्टि जीव के चिह्नों का वर्णन पूर्ण हुआ। अब यह सम्यग्दृष्टि जैसा होता है, वैसा कहते हैं- (★ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पूर्व होने वाले तीन करण की भूमिका रचते हैं-)

एवंभूतोऽयमाख्यातः सम्यग्दृष्टिर्जिनोत्तमैः।
यथाप्रवृत्तिकरणव्यतिक्रान्तो महाशयः ॥263॥

इस प्रकार का यह जीव महान् आशय वाला और यथाप्रवृत्तिकरण का उल्लंघन करने वाला उत्तम जिन द्वारा सम्यग्दृष्टि कहा गया है।

→ एवंभूत = शुश्रूषादि गुण वाला।
→ महाशय = प्रशस्त परिणाम वाला।

अब. करण बताते हैं- (★ प्र. यह करण क्या होता है? कितने प्रकार का होता है?-)

करणं परिणामोऽत्र सत्त्वानां तत्पुनस्त्रिधा।
यथाप्रवृत्तमाख्यातमपूर्वमनिवृत्ति च ॥264॥

यहाँ जीवों का परिणाम ही करण है। वह तीन प्रकार का है - यथाप्रवृत्त, अपूर्व, अनिवृत्ति।

JULY 2016
W M T W T F S S
26 1 2 3
27 4 5 6 7 8 9 10
28 11 12 13 14 15 16 17
29 18 19 20 21 22 23 24
30 25 26 27 28 29 30 31

2016

→ करण = क्रियतेऽनेन अथवा ~~सत्र~~ साधकतमं कर्तुः करणं अर्थात् जिसके द्वारा कार्य किया जाए अथवा कर्ता का प्रकृष्ट साधन करण है।

अत. ये करण किस जीव को तथा कब होते हैं? वह कहते हैं-

एतत् त्रिधाऽपि भव्यानामन्येषामाद्यमेवं हि।
ग्रन्थिं यावत्त्विदं तं तु समतिक्रामतोऽपरम् ॥265॥

ये तीनों प्रकार के करण भव्य जीवों को होते हैं। अन्य जीवों को पहला करण ही होता है। यह पहला करण ग्रन्थि तक होता है। ग्रंथि का उल्लंघन करते जीव को दूसरा करण होता है।

→ एतत् = करण।
→ भव्य = निर्वाण के योग्य जीव।
→ अन्य = भव्य जीवों से अन्य अभव्य जीव।
→ आद्य = पहला यथाप्रवृत्तकरण।
→ इदं = यह पहला करण।
→ तं = ग्रंथि को।
→ अपर = दूसरा अपूर्वकरण।

भिन्नग्रन्थेस्तृतीयं तु सम्यग्दृष्टेरतो हि न।
पतितस्याऽप्यते बन्धो ग्रन्थिमुल्लङ्घ्य देशितः ॥266॥

जिसकी ग्रंथि का भेद हो चुका है, उसे तीसरा अनिवृत्तिकरण होता है। इसलिए ही ~~सम्यग्दृष्टि~~ पतित सम्यग्दृष्टि को ग्रंथि का उल्लंघन कर कहा गया बंध प्राप्त नहीं होता।

जिस जीव का ग्रंथिभेद हो चुका है किंतु सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है उस जीव को अनिवृत्ति करण होता है।

2016 तीसरे करण ~~के पूर्व होने पर~~ सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। सम्यग्दृष्टि जीव तीनों करण का उल्लंघन कर चुका है इसलिए

20 Monday
JUNE

Week 25 172-194

सम्यग्दर्शन से पतित जीव को ग्रंथि का उल्लंघन कर होने वाला उत्कृष्ट ७० को.को. सा. ~~क~~ स्थिति वाला बंध नहीं होता। आगम में भी कहा गया है – सम्यग्दृष्टि बंध से कभी भी गंथि का उल्लंघन नहीं करता है।

एवं सामान्यतो ज्ञेयः परिणामोऽस्य शोभनः।
मिथ्यादृष्टेरपि सतो महाबन्धविरोधतः ॥267॥

इस प्रकार इस सम्यग्दृष्टि का मिथ्यादृष्टि होने पर भी महाबंध के भेद से सामान्य से ~~सुंदर~~ परिणाम सुंदर जानना।

इस प्रकार ग्रंथि के उल्लंघन से इस जीव को महाबंध नहीं होता। इसलिए महाबंध न होने से यह जीव यदि पतित होकर मिथ्यादृष्टि भी हो जाए तो भी इसके परिणाम सुंदर ही होते हैं। सामान्य ~~अ~~ अनादि मिथ्यात्वी की अपेक्षा परिणाम सुंदर होता है।

अव. अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा इस जीव का परिणाम सुंदर क्यों होता है? –

सागरोपमकोटीनां कोट्यो मोहस्य सप्ततिः।
अभिन्नग्रन्थिबन्धो यद् न त्वेकापीतरस्य तु ॥268॥

अभिन्न ग्रंथि वाले जीव को ~~बंध~~ मोहनीय कर्म का ७० कोटाकोटी सा. प्रमाण बंध होता है किंतु भिन्नग्रंथि जीव का एक कोटाकोटी सा. का भी बंध नहीं होता।

अव. उपसंहार करते हुए कहते हैं–

तदत्र परिणामस्य भेदकत्वं नियोगतः।
बाह्यं त्वसदनुष्ठानं प्रायस्तुल्यं द्वयोरपि ॥269॥

इसलिए ~~इस बंध में~~ इन दोनों जीव में (अत्र) परिणाम का भेद अवश्य होता है किंतु दोनों में बाह्य असदनुष्ठान प्रायः

JULY 2016

तुल्य होता है।

* 'अत्र' का अर्थ 'बंध' कर सकते हैं। बंध में परिणाम का भेद करने का भाव/धर्म अवश्य है।

अग्रस्थाग्रवस्थायां बोधिसत्त्वोऽभिधीयते।
अन्यैस्तल्लक्षणं यस्मात् सर्वमस्योपपद्यते ॥27॥

अन्य दर्शनी द्वारा यह जीव इस अवस्था में बोधिसत्त्व कहा जाता है क्योंकि उसके (बोधिसत्त्व के) सभी लक्षण इस (सम्यग्दृष्टि) जीव में घटित होते हैं।

→ अन्य = बौद्ध।

बौद्ध दर्शनी सम्यग्दृष्टि जीव को उनकी भाषा में बोधिसत्त्व कहते हैं।

अब. बोधिसत्त्व के लक्षण सम्यग्दृष्टि में कैसे घटते हैं? —

कायपातिन एवेह बोधिसत्त्वाः परोदितम्।
न चित्तपातिनस्तावदेतदत्रापि युक्तिमत् ॥27॥

यहाँ बोधिसत्त्व कायपाती ही है, चित्तपाती नहीं है, ऐसा दूसरे द्वारा कहा गया यह लक्षण यहाँ (सम्यग्दृष्टि) जीव में भी युक्तिमत् है।

→ एतत् = परोदित यह बोधिसत्त्व का लक्षण।

ये बोधिसत्त्व जीव मात्र कायपाती ही हैं अर्थात् मात्र शरीर से ही सावद्य क्रिया करने वाले हैं किंतु चित्तपाती नहीं है अर्थात् चित्त से सावद्य क्रिया नहीं करते हैं। कहा भी है —

तपे हुए लोहे पर पैर रखने समान वृत्ति होती है।

इस प्रकार जो लक्षण बौद्धों ने बोधिसत्त्व का कहा है, वही लक्षण

22 Wednesday
JUNE

Week 25 | 174-192

~~युक्ति~~ यहाँ युक्तियुक्त है।

अब, 'यह युक्तियुक्त है' ऐसा कहा। वह युक्ति कौन-सी है? —

परार्थरसिको धीमान् मार्गगामी महाशयः।
गुणरागी तथेत्यादि सर्वं तुल्यं द्वयोरपि॥२७२॥

परार्थरसिक, बुद्धिमान्, मार्गगामी, महाशय, गुणरागी इत्यादि सभी गुण दोनों में समान हैं।

→ परार्थरसिक = परोपकार में लगे हुए चित्त वाला।
→ मार्गगामी = कल्याण को प्राप्त कराने वाले मार्ग पर चलने वाले।
→ महाशय = गंभीर चित्त वाले।

परार्थरसिक आदि सभी गुण दोनों ~~की~~ में समान है। इस प्रकार श्लो. २७१ में कहे गए लक्षण के अलावा अन्य भी लक्षण समान है।

(इस लक्षण के अलावा और कौन-से लक्षण समान हैं? —)

अब, व्युत्पत्ति अर्थ से भी दोनों समान हैं —

यत्सम्यग्दर्शनं बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः।
सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्तद्भवन्नैषोऽन्वर्थतोऽपि हि॥२७३॥

सम्यग्दर्शन बोधि है। उस बोधि की प्रधानता वाला और महान् उदय वाला जीव बोधिसत्त्व है। अतः व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ से भी यह सम्यग्दृष्टि बोधिसत्त्व है।

→ महोदय = प्रशस्त गुण उत्पन्न करने वाला।

JULY 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
26					1	2	3
27	4	5	6	7	8	9	10
28	11	12	13	14	15	16	17
29	18	19	20	21	22	23	24
30	25	26	27	28	29	30	31

अब, इस बोधिसत्त्व के विषय में अन्य मत कहते हैं —

2016

वरबोधिसमेतो वा तीर्थकृद् यो भविष्यति।
तथाभव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्त्वः सतां मतः ॥274॥

अथवा श्रेष्ठ बोधि से युक्त जो जीव तथाभव्यत्व से तीर्थंकर बनेगा, वह सज्जनों को बोधिसत्त्व रूप में संमत है।

→ वरबोधि= तीर्थंकरपद के प्रायोग्य सम्यक्त्व।

अब. तथाभव्यत्व की विचारणा करते हैं—

सांसिद्धिकमिदं ज्ञेयं सम्यक् चित्रं च देहिनाम्।
तथाकालादिभेदेन बीजसिद्ध्यादिभावतः ॥275॥

इस प्रकार के कालादि के भेद से बीज की सिद्धि आदि होने से जीवों का यह तथाभव्यत्व सांसिद्धिक और विचित्र जानना चाहिए।

सभी जीवों को भिन्न-भिन्न काल में, भिन्न देश में ★ बीज की सिद्धि अर्थात् धर्म का बीज प्रशंसा आदि की प्राप्ति, धर्म का चिंतन-श्रवण-अनुष्ठानादि होता है। अतः इससे पता चलता है कि सभी जीवों की मोक्ष में जाने की योग्यता अर्थात् तथाभव्यत्व भिन्न-भिन्न है। तथा यह तथाभव्यत्व सांसिद्धिक है अर्थात् जीव के समान काल में ही है। जैसे जीव अनादि से है, वैसे यह भी जीव में अनादि से है।

★ इससे यह सिद्ध होता है कि 'कौन-सा जीव कैसे, कितने भव में, कब, किस निमित्त से, कहाँ निर्वाण को प्राप्त होगा?' यह अनादि काल से निश्चित ही है। सभी द्रव्यों की कब-कब कैसी-कैसी पर्याय आएगी, यह अनादि से निश्चित है।

2016 अब (★ यदि सभी जीवों की योग्यता में भेद नहीं मानेंगे तो क्या आपत्ति होगी? वह कहते हैं—)

JUNE 2016
W M T W T F S S
22 1 2 3 4 5
23 6 7 8 9 10 11 12
24 13 14 15 16 17 18 19
25 20 21 22 23 24 25 26
26 27 28 29 30

24 Friday
JUNE

Week 25 176-190

सर्वथा योग्यताऽभेदे तदभावोऽन्यथा भवेत्।
निमित्तानामपि प्राप्तिस्तुल्या यत्नानियोगतः ॥276॥

अन्यथा
योग्यता का सर्वथा अभेद मानने पर बीजसिद्धि आदि का अभाव ~~अन्यथा~~ होगा क्योंकि निमित्तों की प्राप्ति भी योग्यता के नियोग से समान होगी।

→ तदभाव = बीजसिद्धि आदि का अभाव। यहाँ बीजसिद्धि आदि में विचित्रता का अभाव समझना।
→ अन्यथा = योग्यता/तथाभव्यत्व की विचित्रता न मानने पर।

यदि योग्यता का सर्वथा अभेद मानेंगे अर्थात् सभी जीवों का तथाभव्यत्व एक समान मानेंगे तो सब जीवों को बीज की प्राप्ति आदि जो अल्पाग-अल्पाग कालादि में होती है, वह नहीं घटेगी। सभी जीवों का एकसाथ ही बीजप्राप्ति आदि होगी; क्योंकि तथाभव्यत्व समान होने पर उस तथाभव्यत्व की परवशता से निमित्तों की प्राप्ति भी समान होगी।

अब. ~~यदि~~ निमित्त की प्राप्ति समान न मानने पर होने वाली आपत्ति-

अन्यथा योग्यताऽभेदः सर्वथा नोपपद्यते।
निमित्तोपनिपातोऽपि यत्नाक्षेपतो ध्रुवम् ॥277॥

अन्यथा योग्यता का सर्वथा अभेद घटित नहीं होगा; क्योंकि निमित्त का उपनिपात भी उस योग्यता के आकर्षण से ही होता है।

→ अन्यथा = निमित्त की प्राप्ति तुल्य न मानने पर।

अब. यह योग्यता ही तथाभव्यत्व है, ऐसा कहते हैं-

योग्यता चेह विज्ञेया बीजसिद्ध्याद्यपेक्षया।
आत्मनः सहजा चित्रा तथाभव्यत्वमित्यतः ॥278॥

2016

JULY 2016
W M T W T F S S
26 1 2 3
27 4 5 6 7 8 9 10
28 11 12 13 14 15 16 17
29 18 19 20 21 22 23 24
30 25 26 27 28 29 30 31

यहाँ बीजसिद्धि आदि की अपेक्षा से आत्मा की सहज विचित्र योग्यता को तथाभव्यत्व जानना।

→ सहज = जीव के समान काल में होने वाली।

आव. इससे क्या होता है? —

वरबोधेरपि न्यायात्सिद्धिर्नो हेतुभेदतः।
फलभेदो यतो युक्तस्तथा व्यवहितादपि॥ 279॥

वर बोधि वाले जीव की सिद्धि भी हेतु भेद से नहीं होती है क्योंकि व्यवहित हेतुभेद से भी फलभेद युक्त है।

वर बोधि वाले तीर्थंकर के जीव की सिद्धि भी हेतु के भेद से सिद्धि नहीं होती अर्थात् तीर्थंकर भ. की सिद्धि भी निमित्त के भेद से नहीं होती स्वयं की योग्यता के भेद से ही होती है, क्योंकि फल में भेद व्यवहित हेतु से भी घटित होता है। इसलिए स्वयं में रहे हुए योग्यता के भेद को ही कार्यभेद का कारण मानना चाहिए।

तथा च भिन्ने दुर्भेदे कर्मग्रन्थिप्रहाचले।
तीक्ष्णेन भाववज्रेण बहुसंक्लेशकारिणि॥ 280॥
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं तात्त्विकोऽस्य महात्मनः।
सद्व्याध्यभिभवे यद्वद्व्याधितस्य महौषधात्॥ 281॥

इस प्रकार बहुत संक्लेश करने वाली, दुर्भेद, महा अचल ~~कर्म~~ ऐसी कर्मग्रंथि का ~~भेद~~ ~~होने~~ पर तीक्ष्ण भाववज्र से भेद होने पर इस महात्मा को तात्त्विक आनंद ऐसा अत्यंत होता है, जैसा महा औषध से सद्व्याधि का अभिभव होने पर रोगी को आनंद होता है।

→ भाववज्र = अपूर्वकरण रूप भाव विद्युत्।

26 Sunday
JUNE

Week 25 178-188

→ इस महात्मा को = इस भिन्न ग्रंथि वाले जीव को।

अब. ग्रंथिभेद को विस्तार से कहते हैं-

भेदोऽपि चास्य विज्ञेयो न भूयो भवनं तथा।
तीव्रसंक्लेशविगमात् सदा निःश्रेयसावहः ॥282॥

इस ग्रंथि का भेद भी पुनः कभी न होने वाला तथा तीव्र संक्लेश दूर होने से सदा निःश्रेयस को वहन करने वाला जानना।

→ निःश्रेयस = कल्याण, निर्वाण।

अब. यहीं अन्य मत कहते हैं-

जात्यन्धस्य यथा पुंसश्चक्षुरुत्पत्तिभे शुभोदये।
सद्दर्शनं तथैवास्य ग्रन्थिभेदेऽपरे जगुः ॥283॥

जैसे जन्म से अंध पुरुष को शुभ पुण्य उदय होने पर चक्षु प्राप्त होने पर सद्/~~सुंदर~~ दर्शन होता है, वैसे ही इस जीव को ग्रंथिभेद होने पर सद्दर्शन होता है, ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं।

→ सद् दर्शन = सद्भूत वस्तु का दर्शन / सम्यग्दर्शन।

अब. यह सम्यग्दृष्टि जीव क्या विचारता है? वह कहते हैं-

अनेन भवनैर्गुण्यं सम्यग्वीक्ष्य महाशयः।
तथाभव्यत्वयोगेन विचित्रं चिन्तयत्यसौ ॥284॥

इस सम्यग्दर्शन संसार की निर्गुणता/निःसारता को सम्यक् प्रकार से देखकर महान् आशय वाला यह जीव तथाभव्यत्व के योग से विचित्र विचार करता है।

JULY 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
26					1	2	3
27	4	5	6	7	8	9	10
28	11	12	13	14	15	16	17
29	18	19	20	21	22	23	24
30	25	26	27	28	29	30	31

मोहान्धकारे-गहने संसारे दुःखिता वत।
सत्त्वाः परिभ्रमन्त्युच्चैः सत्यस्मिन् धर्मतेजसि ॥285॥

2016

यह धर्म रूपी तेज/उद्योत होने पर भी मोह रूपी अंधकार से गहन ऐसे संसार में जीव दुःखी होते हुए अत्यंत भ्रमण करते हैं।

अहमेतानतः कृच्छ्रात् यथायोगं कथञ्चन।
अनेनोत्तारयामीति वरबोधिसमन्वितः ॥286॥

श्रेष्ठ बोधि से युक्त मैं इन जीवों को इस दुःखरूप संसार से योगानुसार कैसे भी इस धर्म द्वारा पार उतारता हूँ।

करुणादिगुणोपेतः परार्थव्यसनी सदा।
तथैव चेष्टते धीमान् वर्धमानमहोदयः ॥287॥

करुणा आदि गुणों से युक्त, सदा परोपकार के व्यसनी, बढ़ते हुए पुण्योदय वाले और बुद्धिमान् ऐसे वह तीर्थंकर के जीव उसी प्रकार प्रवृत्ति करते हैं, जिस प्रकार से अन्य दुःखी जीव संसार से पार उतरे।

तत्तत्कल्याणयोगेन कुर्वन्सत्त्वार्थमेव सः।
तीर्थकृत्त्वमवाप्नोति परं सत्त्वार्थसाधनम् ॥288॥

उस-उस कल्याण के योग से परोपकार को ही करते हुए वह परोपकार के श्रेष्ठ साधन ऐसे तीर्थंकरत्व को प्राप्त करते हैं।

→ कल्याणयोग = प्रवचन का शुद्ध ज्ञान, अतिशायी धर्मकथा आदि।
→ सत्त्वार्थ = मोक्ष के बीज का आधानादि परोपकार।
→ सः = वह श्रेष्ठ बोधि से युक्त।

चिन्तयत्येवमेवैतत् स्वजनादिगतं तु यः।
तथानुष्ठानतः सोऽपि धीमान् गणधरो भवेत् ॥289॥

इसी प्रकार जो जीव यह चिंतन स्वजनादि के विषय में करता है और वैसा अनुष्ठान करता है, वह भी बुद्धिमान् गणधर होता है।

2016

28 Tuesday
JUNE

Week 26 180-186

संविग्नो भवनिर्वेदादात्मनिःसरणं तु यः।
आत्मार्थसम्प्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली ॥290॥

जो जीव संविग्न है, भव के निर्वेद से स्वयं का निस्तार विचारता है, मात्र स्वयं के प्रयोजन में प्रवृत्त है, वह मुंडकेवली होता है।

→ मुण्ड = द्रव्य और भाव मुंडन की प्रधानता वाला।
मुण्डकेवली = उस प्रकार के बाह्य अतिशयों से रहित केवली।

जो जीव जगत् के सभी जीवों को सुखी करने की भावना करता है तथा उस अनुसार प्रवृत्ति भी करता है, वह जीव तीर्थंकर बनता है। जो जीव मात्र स्वजन, मित्र आदि रूप विशेष जीवों को ही संसार से तारने का विचार करता है वह गणधर होता है। तथा जो जीव मात्र स्वयं को तारने की इच्छा करता है और मात्र स्वयं के कार्य में प्रवृत्त होता है, वह बाह्य अतिशयों से रहित मुंडकेवली होता है। मुंडकेवली में पीठ-महापीठ का दृष्टांत है।

अब. जीवों की विचारणा में इस प्रकार की विचित्रता में तथाभव्यत्व ही हेतु है, ऐसा कहते हैं-

तथाभव्यत्वतश्चित्रनिमित्तोपनिपाततः।
एवं चिन्तादिसिद्धिश्च सन्न्यायागमसङ्गता ॥291॥

तथाभव्यत्व से विचित्र निमित्तों के उपनिपात से युक्ति और आगम से संगत इस प्रकार की विचारणा आदि की सिद्धि होती है।

कारण की विचित्रता के बिना कार्य में विचित्रता लोक और शास्त्र में कहीं भी किसी भी व्यक्ति द्वारा नहीं स्वीकारी गई है। इसलिए यह प्रस्तुत विचारणा की विचित्रता रूपी कार्य भी कारण में विचित्रता के बिना नहीं

JULY 2016
M T W T F S S
26 1 2 3
27 4 5 6 7 8 9 10
28 11 12 13 14 15 16 17
29 18 19 20 21 22 23 24
30 25 26 27 28 29 30 31

2016

चलेगी। और वह कारण भव्यत्व की विचित्रता को छोड़कर अन्य कोई नहीं घट सकता। अतः तथाभव्यत्व भिन्न होने से सभी जीवों को निमित्त भी भिन्न-भिन्न प्राप्त होते हैं और निमित्त भिन्न होने से जीवों के विचार भी भिन्न होते हैं।

अत. इसी बात का उपसंहार करते हुए कहते हैं-

एवं कालादिभेदेन बीजसिद्ध्यादिसंस्थितिः।
सामग्र्यपेक्षया न्यायादन्यथा नोपपद्यते ॥292॥

इस प्रकार कालादि के भेद से सामग्री की अपेक्षा द्वारा न्याय से बीजसिद्धि आदि की व्यवस्था होती है। अन्य प्रकार से यह व्यवस्था घटित नहीं होगी।

इस प्रकार काल आदि कारणों के भेद से जगत् में बीज-सिद्धि आदि व्यवस्था घटित होती है तथा बीजसिद्धि आदि को भी सामग्री की अपेक्षा होती है अर्थात् गुरु आदि उस-उस सहकारी कारण की अपेक्षा होती है। अन्य किसी भी प्रकार से यह व्यवस्था नहीं घट सकती।

अब 'युक्ति से यह व्यवस्था घटित होती है' ऐसा कहा। इसमें युक्ति ~~अब~~ बताते हैं-

तत्तत्स्वभावता चित्रा तदन्यापेक्षणी तथा।
सर्वस्युपगमव्याप्त्या न्यायश्चात्र निदर्शितः ॥293॥

सभी कार्यों में स्वीकार की व्याप्ति से अनेक प्रकार वाली तथा उससे अन्य कारणों की अपेक्षा रखने वाली वह स्वभावता ही यहाँ न्याय कहा गया है।

2016 → तत्तत्स्वभावता = उस-उस ~~कार्य~~ द्रव्य की उस-उस कार्य रूप परिणमन होने की स्वभावता।

30 Thursday
JUNE
Week 26 182-184

→ तदन्यापेक्षणी = उस द्रव्य से अन्य निमित्तों की अपेक्षा वाली।
→ सर्वत्र्युपगमव्याप्ति = सभी कार्यों में सामग्री ~~च~~ से जन्य है, ऐसे स्वीकार की व्याप्ति।

वह-वह कार्य होने में उस-उस द्रव्य की कार्यपरिणमन की योग्यता और निमित्त कारणों की अपेक्षा रखने वाली स्वभावता ही यहाँ न्याय है तथा कहा भी है – 'सामग्र्याः कार्यहेतुत्वम्' (श्लो. ७८)

अत: जैन दर्शन के मत से उपर्युक्त सामग्री ही कार्य का हेतु है।
अब अन्य मत बताते हैं–

अधिमुक्त्याशयस्थैर्यविशेषवदिहापरैः।
इष्यते सदनुष्ठानं हेतुरत्रैव वस्तुनि ॥294॥

अन्यों द्वारा अधिमुक्ति ~~ह्य~~ आशय की स्थिरता रूप विशेष वाला सदनुष्ठान ही यहाँ इस वस्तु में हेतु माना जाता है।

→ अधिमुक्ति = श्रद्धा।
→ अत्र वस्तुनि = विचारणा का भेद रूप कार्य।

जीव जो भी अनुष्ठान करता है, उसमें उस जीव की श्रद्धा की स्थिरता कितनी है, इसके ऊपर उसकी विचारणा निर्भर है। इस प्रकार श्रद्धा रूप मन की स्थिरता के विशेष (भेद) वाला सदनुष्ठान ही यहाँ ~~इस~~ इन जीवों की विचारणा के भेद में कारण है। जिस जीव का अनुष्ठान करते हुए आप्त पुरुष विषयक ~~अत्यंत~~ श्रद्धा की अत्यंत स्थिरता है, उस अनुष्ठान से वह तीर्थंकर बनता है। इस प्रकार मध्यम श्रद्धा वाले अनुष्ठान से गणधर और जघन्य श्रद्धा की जघन्य स्थिरता वाले अनुष्ठान से जीव मुंडकेवली बनता है।

2016

अब. यहाँ और अन्य मत कहते हैं–

Notes

विशेषं चास्य मन्यन्त ईश्वरानुग्रहादिति।
प्रधानपरिणामात्तु तथाऽन्ये तत्त्ववादिनः ॥295॥

इस स्थिरता का विशेष ईश्वरानुग्रह से मानते हैं तथा अन्य तत्त्ववादी प्रधान/प्रकृति के परिणाम से मानते हैं।

→ अस्य = अधिमुक्ति- आशय का।

पूर्व के श्लो. 294 में कहा कि अन्य दर्शनी श्रद्धा की स्थिरता के भेद से वाले सदनुष्ठान को तीर्थंकरत्वादि की प्राप्ति में कारण मानते हैं। यहाँ कोई पूछता है कि श्रद्धा की स्थिरता के भेद में क्या कारण है? उ. इसका भेद ईश्वर के अनुग्रह से होता है, ऐसा ईश्वरवादी मानते हैं। तथा अन्य तत्त्ववादी सांख्य प्रधान/प्रकृति की परिणति से श्रद्धा का भेद मानते हैं।

अत. इस मत का खंडन करते हैं-

तत्तत्स्वभावतां मुक्त्वा नोभयत्राप्यदो भवेत्।
एवं च कृत्वा ह्यत्रापि हन्तैषैव निबन्धनम् ॥296॥

उस-उस जीव की स्वभावता को छोड़कर दोनों मत में भी यह विशेष वाला अनुष्ठान नहीं होगा। इसलिए इस मत में भी यह स्वभावता ही कारण है।

इन दोनों मत का खंडन श्लो. 6 (Pg. 6) में किए गए खंडन जैसा ही है।

अत. किसी अपेक्षा से यह अन्य मत भी सही है, ऐसा कहते हैं-

आर्ष्यं व्यापाराश्रित्य न च दोषोऽपि विद्यते।
अत्र माध्यस्थ्यमालम्ब्य यदि सम्यग्निरूप्यते ॥297॥

यदि माध्यस्थ्य का आलंबन करके यहाँ सम्यक् रीति से निरूपण किया जाए तो आर्ष्य व्यापार के आश्रय से दोष नहीं है।

यदि प्रध्यस्थता से निरूपण किया जाए तो ईश्वर अनुग्रह मत में भी दोष नहीं है। अपूर्व व्यापार यानी सामर्थ्य से प्राप्त ऐसा ईश्वरानुग्रह आदि रूप व्यापार।

अब. सामर्थ्य से प्राप्त ईश्वर के व्यापार को ही कहते हैं-

गुणप्रकर्षरूपो यत् सर्वैर्वन्यस्तथेष्यते।
देवतातिशयः कश्चित् स्तवादेः फलदस्तथा ॥ 298 ॥

गुण के प्रकर्ष रूप, सबके द्वारा वंदनीय तथा स्तुति आदि का फल देने वाला कोई देव माना जाता है।

आशय यह है कि स्वयं के द्वारा की हुई स्तुति आदि क्रिया ही फल देती है, तो भी स्तुति के आलंबन रूप में 'वह देव उस स्तुति का स्वामि है' इसलिए यह फल की प्राप्ति ~~स्तुति~~ देव के निमित्त से हुई है, ऐसा कहा जाता है। इस तरह उपचार से देव को फल देने वाला कहा जाता है।

★ स्वयं की परिणति अनुसार ही फल प्राप्त होता है।

अब. दूसरे अनुग्रह की विचारणा करते हुए कहते हैं-

(★श्लो. 295 में दो मत बताए - ईश्वरानुग्रह और प्रधान/प्रकृति। श्लो. 296 में दोनों का खंडन किया। श्लो. 297 और 298 में ईश्वरानुग्रह मत का समन्वय किया। अब प्रकृति वाले सांख्यों के मत का समन्वय करते हैं-)

भवश्चाप्यात्मनो यस्मादन्यतश्चित्रशक्तिकात्।
कर्मादिभिधानादेर्नान्यथातिप्रसङ्गतः ॥ 299 ॥

विचित्र शक्ति वाले, कर्मादि नाम आदि वाले अन्य कारण से आत्मा का श्रद्धास्थैर्यविशेष होता हुआ भी अतिप्रसंग से अन्यथा नहीं होता।

2 Saturday
JULY

Week 26 184-182

→ अभिधानादि = आदि स्वरूप वगैरह लेना।

ग्रंथकार प्रकृतिवादी सांख्य को कहते हैं- हमने श्लो. 296 में जैन दर्शन की व्यवस्था बताई कि उस-उस जीव की योग्यता के बिना कर्म की असर भी जीव पर नहीं होगी। फिर भी यदि आपको प्रकृति/कर्म ही कारण मानना है तो मानो, ~~कर्म~~ विचित्र शक्ति वाले कर्म, प्रकृति, प्रधान आदि नाम वाले अन्य कारण से आत्मा का परिणाम होता है, ऐसा आपके द्वारा मानने पर भी वह परिणाम हमने बताई हुई व्यवस्था से अन्यथा यानी अन्य प्रकार से नहीं होगा क्योंकि अन्यथा होने में अतिव्याप्ति है।
यदि श्रद्धास्थैर्य का विशेष रूप आत्मा का परिणाम कर्म से ही होता है तो सभी जीवों में एक जैसा/समान होना चाहिए। किंतु समान नहीं होता/ ऐसी अतिव्याप्ति होने से यह सिद्ध होता है कि आत्मपरिणाम आत्मा की योग्यता से होता है। अतः आत्मपरिणाम का भ कर्मादि रूप कारण मानने पर भी जीव के स्वभाव को तो कारण मानना ही पड़ेगा। वह जीव का स्वभाव ही प्रधान हेतु है।

अब. जीवों के परिणाम में भिन्नता के कारणों की चर्चा श्लो. 291 से शुरू हुई थी। उसका उपसंहार करते हुए कहते हैं-

माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैवमैदम्पर्यव्यपेक्षया।
तत्त्वं निरूपणीयं स्यात् कालातीतोऽप्यदो ऽब्रवीत्॥300॥

इस प्रकार मध्यस्थता का अवलंबन करके ऐदम्पर्य की की अपेक्षा से तत्त्व का निरूपण करना चाहिए। कालातीत ऋषि ने भी यह कहा है (आगे वाले श्लोक से संबंध है।)

AUGUST 2016

इस प्रकार स्वपक्ष के राग और परपक्ष के द्वेष को छोड़कर ऐदम्पर्यार्थ की विचारणा से (ऐदम्पर्यार्थ प्राप्त करने

निर्णय नहीं हो सकता। इसलिए यह भेद निरर्थक/निष्प्रयोजन है।

(3) प्रायः युक्तियों का विरोध होने से ⇒ युक्ति से सभी पक्षों की सिद्धि हो सकती है। प्रायः सभी युक्तियाँ विरुद्ध हैं अर्थात् अन्य युक्ति से उनका विरोधी पक्ष भी सिद्ध हो सकता है। जैसे→ सांख्य और शैव क्षणिकवादी बौद्ध को कहते हैं— आपके आराध्य देव बुद्ध देशनादि अर्थक्रिया को स्वक्षण में करते हैं या पूर्व क्षण में अथवा उत्तर क्षण में। इस प्रकार तीन ही गति हैं। इनमें प्रथम पक्ष स्वीकारने योग्य नहीं है क्योंकि उत्पत्तिकाल में ही वस्तु व्यापार नहीं कर सकती। जैसे- घट पहले उत्पन्न होता है फिर ही जलधारण क्रिया करता है, वैसे ही बुद्ध पहले उत्पन्न होंगे फिर ही देशना देंगे। अन्यथा यदि उत्पत्तिकाल में ही व्यापार भी मानो तो एक ही क्षण में रहे हुए सभी अर्थों में परस्पर कार्य-कारण भाव मानना पड़ेगा। दो वस्तु में कार्य-कारण भाव तब होता है जब उनमें से एक वस्तु पहले हो और दूसरी बाद में उत्पन्न हुई हो। यदि दो समकालीन वस्तु में कार्य-कारण भाव मानोगे तो एक क्षण में रहे हुए सभी पदार्थों को एक-दूसरे का कार्य-कारण मान लो क्योंकि कार्य-कारण भाव तो समकालीन वस्तु में भी होता है। तथा देशना कार्य है और बुद्ध कारण है, ऐसा भी नहीं रहेगा क्योंकि दोनों समकालीन हैं तो ऐसा भी हो सकता है कि देशना कारण हो और बुद्ध कार्य हो। कार्य-कारण का नियामक कोई नहीं रहेगा। ~~xxx~~ इसलिए उत्पत्ति काल में व्यापार नहीं मान सकते। इस तरह बुद्ध हर समय उत्पन्न होते रहेंगे और उत्पत्ति काल में व्यापार का अभाव होने से देशना नहीं दे सकेंगे।

दूसरा पक्ष स्वक्षण से पूर्व ही अर्थ में व्यापार करते हैं, यह भी ~~xxx~~ स्वीकार नहीं सकते क्योंकि भविष्य में होने वाले शंख-चक्रवर्ती आदि की तरह स्वयं असत् वस्तु का पूर्वकाल में वर्तते कार्य में व्यापार नहीं हो सकता

6 Wednesday
JULY
Week 27 188-178

अर्थात् स्वक्षण से पूर्व कुछ असत् हैं और उस पूर्वक्षण में देशना रूप कार्य विद्यमान हैं तो असत् कुछ इस कार्य को नहीं कर सकते।

तीसरा पक्ष स्वक्षण के बाद कार्य करते हैं, यह भी ठीक नहीं है क्योंकि नष्ट हुई वस्तु कार्य करने में समर्थ नहीं होती। यदि नष्ट हुई वस्तु को कार्य करने में समर्थ मानोगे तो मरे हुए मोर का भी टुकड़ा होना चाहिए।

जैसे समुद्र के बीच में रहे हाथी के कलेवर पर बैठा पक्षी किनारे पर जाने के लिए उड़ता है किंतु चारों ओर किनारा न दिखने से पुनः कलेवर पर बैठ जाता है, वैसे ही क्षणिक अर्थ से सिद्ध नहीं होने वाली क्रिया नित्य भावों को ही आश्रय रूप में स्वीकार करती है। इस प्रकार नित्य पक्ष सिद्ध होता है। इसलिए ही अनादि से शुद्ध ईश्वर नामक आप्त पुरुष विशेष को स्वीकारना ही उचित है।

बौद्ध पुनः सांख्य और शैव को कहता है — आपके द्वारा अपच्युत-अनुत्पन्न-स्थिर-एकस्वभाव वाला ईश्वर माना जाता है। किंतु नित्य को कैसे भी अर्थक्रिया घटित नहीं होती। नित्य सर्व अर्थक्रिया को क्रम से करेगा या युगपद् करेगा? क्रम से वह अर्थक्रिया नहीं कर सकता क्योंकि सभी शक्ति संपन्न है और सहकारी कारणों से उसे कुछ अतिशय नहीं होता इसलिए सभी क्रिया एक साथ ही करने की आपत्ति होगी।

वह युगपद् भी अर्थक्रिया नहीं कर सकता क्योंकि एक साथ ही सभी कार्य करने से और किए हुए कार्य पुनः न करने से दूसरे क्षण में अर्थक्रिया रहित होने से जबरजस्ती होने वाले असत्पन को कोई नहीं रोक सकता। इसलिए प्रत्येक क्षण में बदलते हुए रूप वाला सभी अर्थक्रिया में समर्थ ऐसा ईश्वर स्वीकारना उचित है।

इस प्रकार सभी ओर से युक्ति सही ही प्रतीत होती है तथा युक्ति से सभी अर्थ सिद्ध हो सकते हैं।

AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31
2016

इसलिए युक्ति से भी ईश्वर के स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता।

(4) भाव से फल का अभेद होने से ⇒ आराध्य देव में नित्य-अनित्यत्वादि विशेष होने पर भी उसकी आराधना से मिलने वाला कर्मक्षय रूप फल समान ही है क्योंकि गुणों के प्रकर्ष विषयक बहुमान ही फलदायक है और वह बहुमान मुक्तादि में समान रूप से हो सकता है। इसलिए फल का भी अभेद होने से ईश्वर के विशेष भेद हमारे लिए प्रयोजन रहित है।

अब (श्लो. 295 में दो मत बताए - ईश्वरानुग्रह और प्रकृति। श्लो. 296 में दोनों का खंडन किया। श्लो. 297-8 में ईश्वरानुग्रह का समन्वय किया। श्लो. 299 में प्रकृति का समन्वय किया। श्लो. 300-304 में ईश्वर के स्वरूप का समन्वय किया। अब प्रकृति का समन्वय विशेष से करते हुए कहते हैं -)

अविद्याक्लेशकर्मादि यतश्च भवकारणम्।
ततः प्रधानमेवैतत् संज्ञाभेदमुपागतम् ॥305॥

अविद्या-क्लेश-कर्म आदि संसार के कारण हैं इसलिए संज्ञाभेद को प्राप्त यह प्रधान ही है।

~~वेदान्ता~~ ईश्वर के स्वरूप का समन्वय करने के बाद कात्यातीत ऋषि आगे कहते हैं -
वेदान्तियों की अविद्या, सांख्यों का क्लेश, जैनों का कर्म, बौद्धों की वासना, शैवों का पाश संसार का कारण है। अर्थात् वे-वे दर्शन वाले अविद्या आदि को संसार का कारण मानते हैं और हम प्रकृति को संसार का कारण मानते हैं। इसलिए वास्तव में तो यह सब एक ही हैं, इनमें संज्ञा का भेद हो गया है।

8 Friday
JULY
Week 27 190-176

अब. यहाँ भी अन्य दर्शन द्वारा काल्पित विशेष/भेद के निराकरण के लिए कहते हैं— (* इनके स्वरूप में होने वाला भेद हमारे लिए अप्रयोजन भूत है, ऐसा कहते हैं—)

अस्यापि योऽपरो भेदश्चित्रोपाधिस्तथा तथा।
नीपतेऽतीतहेतुभ्यो धीमतां सोऽप्यपार्थकः ॥३०६॥

इस प्रकृति का भी विचित्र उस-उस दर्शनानुसार विचित्र उपाधि वाला दूसरा भेद विशेष किया जाता है, वह भेद भी बुद्धिमानों के लिए पूर्वोक्त हेतुओं से निरर्थक है।

→ अस्य = प्रधान/प्रकृति का।
→ अपर = संसारहेतु से अन्य।
→ चित्रोपाधि = मूर्तत्व-अमूर्तत्व आदि रूप विचित्र उपाधि वाला।
→ अतीतहेतु = पूर्व में श्लो. ३०५ में कहे हेतुओं से।

इस प्रकृति का संसारहेतुत्व रूप विशेष सभी दर्शन वाले स्वीकारते हैं। इस संसार हेतुत्व से अन्य और भी विचित्र उपाधि वाले भेद उस-उस दर्शनानुसार किए जाते हैं। जैसे- कोई उसे मूर्त मानता है कोई अमूर्त। इस प्रकार सबके द्वारा स्वीकारे गए संसारहेतुत्व से अन्य जो भी भेद इस प्रकृति के किए जाते हैं, वे भेद भी बुद्धिमानों के लिए निरर्थक हैं अर्थात् प्रयोजन रहित हैं क्योंकि ① विशेष का अपरिज्ञान है ② युक्तियों का जातिवाद है ③ युक्तियाँ विरुद्ध हैं ④ परमार्थ से तत्त्व का अभेद है। (हेतुओं का विस्तार श्लो. ३०५ में)

अब. ऊपर कही हुई बात से यह सिद्ध होता है—

ततोऽस्थानप्रयासोऽयं यत्तद्भेदनिरूपणम्।
सामान्यमनुमानस्य यतश्च विषयो मतः ॥३०७॥

इसलिए उनके भेद का निरूपण करना, यह अस्थान में प्रयास है क्योंकि अनुमान का विषय सामान्य ही माना गया है।

AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31
2016

विशेष प्रयोजन रहित होने से उन देव-कर्मादि के भेद का निरूपण करना, यह असमान में प्रयास करने जैसा है।

9. यह भेद प्रत्यक्ष से साध्य नहीं है किंतु अनुमान से तो साध्य है।

उ. अनुमान का विषय मात्र सामान्य है अर्थात् अनुमान से मात्र अस्तित्व सिद्ध होता, उसका विशेष स्वरूप सिद्ध नहीं सकता। इसलिए विशेष की विचारणा निरर्थक है।

9. शास्त्र से तो विशेष का निश्चय हो सकता है।

उ. शास्त्र भी आप्त का वचन होने से कहो जाता अर्थ अन्यथा-अनुपपन्न अर्थात् अन्य रीति से घटित न होने से तत्त्वसे तो अनुमान ही है। अतः उससे भी निश्चय नहीं हो सकता। (Pg.No. 111 पर)*

अनुमान से देव की सिद्धि ⇒ जो जो चयापचय स्वभाव वाले हैं; वे कहीं सर्वथा उच्छेद को भी प्राप्त होता है; जैसे - रोगी का रोग अथवा आकाश में जलधारा; रागादि चयापचय स्वभाव वाले हैं; अतः जिसमें उनका सर्वथा उच्छेद हो गया है, वही कोई पुरुष मुक्त शब्द से वाच्य देव है। *(Pg. 173 पर)

कर्म की अनुमान से सिद्धि ⇒ समान साधन वाले दो व्यक्तियों के फल में जो भेद है, वह भेद अदृष्ट कारण के बिना घटित नहीं होता है, कार्य होने के कारण; जो जो कार्य है, वह कारण बिना नहीं होता; जैसे घट; फल का भेद कार्य है इसलिए उसमें जो कारण है, वह कर्म है।

इस प्रकार अनुमान से मात्र सामान्य/अस्तित्व की सिद्धि होती है, विशेष स्वरूप का निर्णय नहीं होता।

अव. श्लो. 30। से शुरू की गई कालातीत ऋषि की बात यहाँ पूर्ण हुई। कालातीत ऋषि का समर्थन करते हुए कहते हैं -

साधु चैतद् यतो नीत्या शास्त्रमत्र प्रवर्तकम्।
तथाभिधानभेदात्तु भेदः कुत्रेतिकाग्रहः ॥30 ६॥

JULY 2016
W M T W T F S S
26 1 2 3
27 4 5 6 7 8 9 10
28 11 12 13 14 15 16 17
29 18 19 20 21 22 23 24
30 25 26 27 28 29 30 31

यह कालातीत द्वारा कहा हुआ बराबर है क्योंकि नीति से शास्त्र ही

10 Sunday
JULY
Week 27 192-174

इस अर्थ में प्रवर्तक है। तथा नाम के भेद से वस्तु का भेद मानना कुचितिकाग्रह है।

→ एतद् = कालातीत द्वारा कहा गया।
→ ~~अत्र~~ = अत्र = देवतादि अर्थ में।
→ नीत्या = परमार्थ विचारणा से।
→ कुचितिकाग्रह = चिति यानी ज्ञान, कुचिति = कुत्सित ज्ञान, कुचितिकाग्रह यानी कुत्सित ज्ञान का आग्रह (कदाग्रह), कुटिलता का आवेश।

यह कालातीत ऋषि द्वारा कही गई बात बराबर है क्योंकि परमार्थ की विचारणा से देवतादि अर्थ में शास्त्र प्रवर्तक है अर्थात् देव, कर्म इत्यादि के स्वरूप में शास्त्र ही प्रवृत्ति कराने वाला है। तथा मुक्त, बुद्ध आदि नाम के भेद से देव-कर्मादि पदार्थों का भेद मानना तो आपका कदाग्रह है, कुटिलता है।

★ 'अत्र' का 'कालातीत ऋषि द्वारा कही गई बात में' करना चाहिए। श्लोक का पूर्वार्ध ⇒ कालातीत द्वारा कही गई यह बात बराबर है क्योंकि शास्त्र भी परमार्थ की विचारणा से इसी अर्थ में प्रवृत्ति का हेतु है।

★ (अनुसंधान पृ. 192 पर) इस अनुमान में ~~असिद्ध~~ हेत्वा व्यभिचारी है, जैसे ज्ञान भी ~~नश्वर~~ नश्वर स्वभाव वाला है किंतु उसका सर्वथा उच्छेद नहीं होता।

विपश्चितां न युक्तोऽयमैदम्पर्यप्रिया हि ते।
यथोक्तास्तत्पुनश्चात्र ज्ञेयाऽपि निरूप्यताम् ॥309॥

विद्वानों को यह कदाग्रह योग्य नहीं है क्योंकि वे ऐदम्पर्यार्थी ~~को~~ प्रिय होता है। वह ऐदम्पर्य का यहाँ भी उन्हें सुंदर रीति से निरूपण करो।

AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31 - - - -

अब. कात्यातीत के मत और स्वमत में विशेष से अभेद दिखाते हैं:-

उभयोः परिणामित्वं तथाभ्युपगमाद् ध्रुवम् ।
अनुग्रहात्प्रवृत्तेश्च तथाऽभेदतः स्थितम् ॥ 3।0॥

ईश्वर और प्रकृति, दोनों को वैसा स्वीकारने से परिणामिपन निश्चित है क्योंकि अब अनुग्रह और प्रवृत्ति से वह उस प्रकार के कालभेद से रहा हुआ है।

ईश्वर और प्रकृति को जैसा स्वरूप आपने स्वीकारा है, वैसा स्वीकारने पर आपको उन दोनों का परिणामित्व निश्चित रूप से स्वीकारना पड़ेगा क्योंकि ईश्वर को अनुग्रह करने से और प्रकृति को प्रवृत्ति करने से कालभेद हो जाता है। ईश्वर कभी अनुग्रह करता है, कभी नहीं। वैसे ही प्रकृति कभी प्रवृत्ति करती है, कभी नहीं। इसलिए इन दोनों को नित्य एकरूप नहीं किंतु परिणामी और अनेक रूप ही मानना पड़ेगा।

अब. ऐसा मानने से क्या सिद्ध होता है? —

सर्वेषां तत्स्वभावत्वात्तदेतदुपपद्यते ।
नान्यथातिप्रसङ्गेन सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम् ॥ 3।1॥

सभी का वह स्वभाव होने से यह अनुग्रहादि घटित होता है। अन्य प्रकार से अतिव्याप्ति होने से घटित नहीं होता। सूक्ष्म-बुद्धि से निरूपण करो।

ईश्वर-प्रधान- अनुग्राह्यादि सभी का वह अनुग्राहकत्व-निवृत्ताधिकारित्व -अनुग्राह्यत्व आदि रूप स्वभाव होने से वह ~~परिणामित्व~~ घटित होता है। अन्यथा उन- उनका वैसा स्वभाव अनुग्रहादि माने बिना और परिणामित्व माने बिना अतिव्याप्ति होने से अनुग्रहादि घटित नहीं होता।

2016 ईश्वर-अनुग्रह की अतिव्याप्ति श्लो. 13 में (Pg. 15) में बताई है। प्रकृति की अतिव्याप्ति श्लो. 29 (Pg. 185) में बताई है)

12 Tuesday
JULY
Week 28 194-172

इसके अलावा भी दोनों मत का खंडन विस्तार से कई बार किया जा चुका है।

अव. [* देखे, श्लो. 305 की अव. (Pg. 190 पर)। प्रकृति का भी विशेषरूप से समन्वय श्लो. 305-6 में किया। फिर कालातीत के मत का समर्थन करके श्लो. 310 में पुनः परिणामित्व और 311 में जीव की योग्यता को सिद्ध किया। अब, पुनः प्रस्तुत तीर्थंकरत्वादि को आश्रय करके कहते हैं—]

आत्मनां तत्स्वभावत्वे प्रधानस्यापि संस्थिते।
ईश्वरस्यापि सन्न्यायाद् विशेषोऽधिकृतो भवेत् ॥312॥

जीवों के, प्रधान के भी तथा ईश्वर के भी वैसा तत्स्वभावत्व स्थित होने पर सन्न्याय से अधिकृत विशेष होता है।

जीवों का वैसा स्वभाव/योग्यता होने पर, ≠ प्रकृति भी निवृत्त-अधिकार वाली होने पर और ईश्वर का अनुग्रह होने पर परिणामीपना होने से अधिकृत तीर्थंकरत्वादि विशेष होता है।

अव. तीर्थंकरत्वादि के हेतु के रूप में जो तत्स्वभावत्व कहा, उसका स्वरूप कहते हैं—

सांसिद्धिकं च सर्वेषामेतदाहुर्मनीषिणः।
अन्ये नियतभावत्वादन्यथा न्यायवादिनः ॥313॥

सभी के स्वभावत्व को मनीषी पुरुष सांसिद्धिक कहते हैं। अन्य न्यायवादी नियतभाव रूप होने से अन्य प्रकार से कहते हैं।

सभी जीवों की योग्यता उस जीव के ≠ समानकालीन ही है अर्थात् अनादि से है। अन्य न्यायवादी यानि युक्ति से बोलने वाले इसे नियति से उत्पन्न कहते हैं क्योंकि यह नियत भाव वाला है। सांसिद्धिक का ही अर्थ वे नियतिजन्य करते हैं।

उन नियतिवादियों का मत है कि जो वस्तु जिस काल में, जहाँ,

AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31
2016

जिसके द्वारा, जिसकी होने वाली है; वह वस्तु उस काल में, वहाँ, उसके द्वारा, उसकी होती ही है और जो नहीं होने वाला है वह नहीं ही होता है। नियति के बल से जो अर्थ प्राप्त होने वाला है, वह शुभ अथवा अशुभ अर्थ मनुष्यों को अवश्य होता है। जीवों के महान् प्रयत्न करने पर भी नहीं होने वाला नहीं होता और होने वाले अर्थ का नाश नहीं होता।

★ 'सांसिद्धिक' का अर्थ है 'अनादि'। यदि स्वभाव अनादि है तो स्पष्ट ही है कि यह जीव तीर्थंकर होगा, ऐसा अनादि से निश्चित है और जब स्वभाव में भी अनादि से निश्चित है तो नियति और स्वभाव में क्या भेद हुआ? [सांसिद्धिक का अर्थ टीकाकार ने अनादि स्वभाव किया है (देखें श्लो. 197, 205)]

~~अत. नियतभाव भी सांसिद्धिक अतः सांसिद्धिक का अर्थ~~

अत. नियतभाव भी सांसिद्धिक ही है, ऐसा बताते हैं- (★ नियतिवादी के मत का समन्वय करते हैं-)

सांसिद्धिकमदोऽप्येवमन्यथा नोपपद्यते।
योगिनो वा विजानन्ति किमस्थानग्रहेण नः॥३१५॥

~~यह~~ यह नियतभाव भी सांसिद्धिक है। अन्यथा यह घटित नहीं होगा। अथवा योगी जानते हैं, अस्थान में आग्रह करने से हमें क्या?

→ अदः = नियतभावत्व।

इस प्रकार यह नियतभाव/नियतिजन्य स्वभाव भी सांसिद्धिक अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न ही है। अन्यथा यदि उसे सांसिद्धिक नहीं मानोगे तो वह घटित नहीं होगा।

जिसका वस्तु का स्वयं का स्वभाव है, उसे ही यह नियतभाव होगा। जिस वस्तु का स्वयं का स्वभाव ही नहीं है अर्थात् जो वस्तु असत् है, उसका कुछ नियत भाव भी नहीं होता।

2016

14 Thursday
JULY
Week 28 196-170

जैसे वन्ध्यासुत आदि का कुछ स्वभाव नहीं है तो उनका कुछ नियतभाव भी नहीं है। अतः सभी कार्यसमूह में यह स्वभाव व्यापक है इसलिए स्वभाव को अवश्य स्वीकारना चाहिए।
अथवा दिव्य चक्षु वाले योगी विशेष से जानते हैं, हम छद्मस्थ जीव विशेष को नहीं जान सकते इसलिए अस्थान में आग्रह करने से हमें क्या? अतीन्द्रिय अर्थ तो योगी ही जान सकते हैं।

अब. इसी बात को दृष्टान्त से समझाते हैं—

अस्थानं रूपमन्धस्य यथा सन्निश्चयं प्रति।
तथैवातीन्द्रियं वस्तु छद्मस्थस्यापि तत्त्वतः ॥315॥

जैसे सन्निश्चय के लिए रूप अंध का अस्थान है, वैसे सन्निश्चय के लिए अतीन्द्रिय वस्तु तत्त्व से छद्मस्थ का अस्थान है।

यदि अंध को निश्चय करना हो तो रूप उसका विषय नहीं है, वह रूप का निश्चय नहीं कर सकता; वैसे ही निश्चय करना हो तो अतीन्द्रिय वस्तु छद्मस्थ का विषय नहीं है, वह अतीन्द्रिय वस्तु का निश्चय नहीं कर सकता।

अब. प्र. यदि अतीन्द्रिय वस्तु छद्मस्थ का विषय नहीं है तो उसे अतीन्द्रिय वस्तु का ज्ञान कैसे होगा? उ.—

हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं तत एव कथञ्चन।
अत्र तन्निश्चयोऽपि स्यात् तथा चन्द्रोपरागवत् ॥316॥

यह शास्त्र हस्तस्पर्श के समान इसलिए इस शास्त्र से ही कैसे भी उस अतीन्द्रिय वस्तु का निश्चय भी हो जाता है। जैसे-चंद्रग्रहण।

जैसे अंध व्यक्ति सभी विशेषों से युक्त रूप का निश्चय नहीं कर सकता किंतु हाथ से स्पर्श करके सामान्यतया वस्तु का निश्चय करता है, वैसे ही छद्मस्थ जीव सभी विशेषों से युक्त अतीन्द्रिय वस्तु का निश्चय नहीं कर सकता

किंतु शास्त्र से सामान्यतया उसका निश्चय हो सकता है। जैसे - चंद्रग्रहण अतीन्द्रिय है किंतु उसका भी शास्त्र से प्रायः सही-सही निश्चय कर सकते हैं, वैसे ही अन्य अतीन्द्रिय वस्तु का भी छद्मस्थ जीव सामान्यतया निश्चय कर सकते हैं।

अब. उपसंहार करते हुए कहते हैं -

ग्रहं सर्वत्र सन्त्यज्य तद्गम्भीरेण चेतसा।
शास्त्रगर्भः समालोच्यो ग्राह्यश्चेष्टार्थसंगतः ॥३।७॥

इसलिए सभी जगह आग्रह को छोड़कर गंभीर चित्त से शास्त्र का रहस्य विचारना चाहिए और इष्ट अर्थ से युक्त ग्रहण करने योग्य है।

→ इष्ट अर्थ = घटित होता हुआ अर्थ।

अब. श्लो. २ (Pg. 23) में जो कर्म और पुरुषार्थ की बात की थी, उसे पुनः वैसे ही कहकर समर्थन करते हुए कहते हैं - (* स्वभाव और नियति की चर्चा हुई तो अन्य कारणों की भी चर्चा करते हैं -)

दैवं पुरुषकारश्च तुल्यावेतदपि स्फुटम्।
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे युज्यते न्यायतः परम् ॥३।८॥

'कर्म और पुरुषार्थ तुल्य हैं' यह बात भी तत्त्व इस प्रकार व्यवस्थित होने पर ही युक्ति से घटित होती है।

'कर्म और पुरुषार्थ तुल्य हैं', यह बात भी $ अन्य शास्त्रों में बहुत गाई जाती है। यह बात भी इस प्रकार जीवादि तत्त्व परिणामित्वादि से अनेकांतिक होने पर ही घटती है, एकांत मानने पर नहीं।

अब. इन दोनों का $ स्वरूप कहते हैं -

16 Saturday
JULY

Week 28 198-168

दैवं नामेह तत्त्वेन कर्मैव हि शुभाशुभम् ।
तथा पुरुषकारश्च स्वव्यापारो हि सिद्धिदः ॥319॥

यहाँ दैव यानी ~~न~~ परमार्थ से शुभाशुभ कर्म तथा सिद्धि देने वाला स्वयं का व्यापार ही पुरुषार्थ है।

दैव से यहाँ कर्म ही लेना है, 'दैवमर्च्यं इदं' ऐसी व्युत्पत्ति देवकृत अनुग्रहादि नहीं और पुरुषार्थ से स्वयं का व्यापार ही समझना, ईश्वर का व्यापार नहीं।

स्वरूपं निश्चयेनैतदनयोस्तत्त्ववेदिनः ।
ब्रुवते व्यवहारेण चित्रमन्योन्यसंश्रयम् ॥320॥

निश्चय से तत्त्ववेदी इन (कर्म और पुरुषार्थ) का यह उपरोक्त स्वरूप कहते हैं तथा व्यवहार से अन्योन्य आश्रय वाला विचित्र स्वरूप कहते हैं।

निश्चय नय पुरुषार्थ की प्रवृत्ति में ~~दु~~ कर्म विद्यमान होने पर भी पुरुषार्थ को ही कार्य के हेतु रूप में स्वीकारता है और कर्म की प्रवृत्ति में कर्म को ही कार्य के हेतु रूप में स्वीकारता है, पुरुषार्थ को नहीं। यदि पुरुषार्थ की प्रवृत्ति में कर्म और कर्म की प्रवृत्ति में पुरुषार्थ को हेतु रूप में स्वीकार करे तो पुरुषार्थ और कर्म, दोनों परस्पर एक-दूसरे की के सापेक्ष होने से असमर्थ हो जाएँगे क्योंकि 'सापेक्षमसमर्थं' ऐसा वचन है। यदि असमर्थ स्वीकारेंगे तो वे अर्थक्रियाकारि नहीं रहेंगे, अर्थक्रियाकारि न रहने से वे अवस्तु हो जाएँगे। इसलिए जो जब प्रधानता से व्यापार करता है, उसे तब कार्य का हेतु मानना चाहिए। कर्म और पुरुषार्थ को एक-दूसरे से स्वतंत्र मानना चाहिए। ऐसा निश्चय नय का मत है। इसलिए श्लो. 319 में जो स्वरूप कहा वह निश्चय नय का मत है।

व्यवहार नय तो पर्याय से प्रधान-गौण भाव वाला कारण ही कार्य करने में समर्थ है, ऐसा मानता है।

AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31

अब. व्यवहार नय के मत को ही कहते हैं:-

न भवस्थस्य यत्कर्म विना व्यापारसम्भवः।
न च व्यापारशून्यस्य फलं यत्कर्मणोऽपि हि ॥321॥

भवस्थ जीव का कर्म बिना व्यापार संभव नहीं है और व्यापार से शून्य ऐसे कर्म से भी फल नहीं मिलता।

व्यवहार नय कहता है कि संसारी जीव का कोई भी व्यापार/पुरुषार्थ कर्म के बिना नहीं होता और पुरुषार्थ के बिना मात्र कर्म से भी उसे कुछ फल नहीं मिलता। इसलिए कर्म और पुरुषार्थ दोनों को परस्पर सापेक्ष मानना चाहिए।

अब. पुनः कर्म और पुरुषार्थ दोनों का स्वरूप कहते हैं- (★ कर्म की विचित्रता बताते हैं-)

व्यापारमात्रात्फलदं निष्फलं महतोऽपि च।
अतो यत्कर्म तद्दैवं चित्रं ज्ञेयं हिताहितम् ॥322॥

तुच्छ व्यापार से भी कर्म फल देने वाला होता है और कभी बड़े व्यापार से भी कर्म फल नहीं देता इसलिए उस कर्म को शुभाशुभ रूप विचित्र जानना चाहिए।

कभी अत्यंत तुच्छ पुरुषार्थ करने से भी कर्म फल दे देता है और कभी बहुत पुरुषार्थ करने पर भी कर्म निष्फल होता है। इसलिए उसे शुभाशुभ और विचित्र रूप वाला जानना।

अब. (★ पुरुषार्थ की विशेषता -)

एवं पुरुषकारस्तु व्यापारबहुलस्तथा।
फलहेतुर्नियोगेन ज्ञेयो जन्मान्तरेऽपि हि ॥323॥

इस प्रकार पुरुषार्थ व्यापार की बहुलता वाला है तथा जन्मान्तर में भी अवश्य फल का हेतु जानना चाहिए।

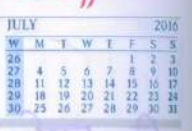

18 Monday
JULY
Week 29 200-166

इस प्रकार कर्म की अपेक्षा से पुरुषार्थ व्यापार की बहुलता वाला है। तथा जैसे इस भव में पुरुषार्थ उस-उस विचित्र फल को देने वाला प्रत्यक्ष से ही देखा जाता है, वैसे ही अन्य जन्म में भी यह अवश्य फल देने वाला है। अर्थात् ~~कर्म~~ यदि इस जन्म में पुरुषार्थ का फल नहीं मिला तो भी वह अन्य जन्म में भी अवश्य फल देगा क्योंकि उस-उस व्यापार से उपार्जित कर्म भविष्य में फल दिए बिना निवृत्त नहीं होते।

अतः उस कर्म और पुरुषार्थ के स्वरूप का उपसंहार करते हैं—

अन्योन्यसंश्रयावेवं द्वावप्येतौ विचक्षणैः।
उक्तावन्यैस्तु कर्मैव केवलं कालभेदतः॥324॥

इस प्रकार विचक्षणों द्वारा ये दोनों ही (कर्म और पुरुषार्थ) परस्पर सापेक्ष कहे गए हैं। अन्यों द्वारा तो केवल कर्म ही कालभेद से कार्यहेतु कहा गया है।

अन्य यानी सांख्यों द्वारा प्रधान/प्रकृति नामक कर्म ही उस-उस काल-विशेष के आश्रय से कार्य का हेतु कहा गया है। वे पुरुषार्थ को नहीं स्वीकारते।

अत. सांख्यों के केवल कर्म वाले मत का खंडन करते हैं—

दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत्पौर्वदेहिकम्।
स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम्॥325॥

पूर्वभव में स्वयं के द्वारा किए गए कर्म को ही दैव जानना। पुरुषार्थ तो जो यहाँ अन्य किया जाता है, वह है।

नेदमात्मक्रियाऽभावे यतः स्वफलसाधकम्।
अतः पूर्वोक्तमेवेह लक्षणं तात्त्विकं तयोः॥326॥

आत्मा की क्रिया के अभाव में यह कर्म स्वयं के फल का साधक है नहीं है इसलिए यहाँ इन दोनों (कर्म और पुरुषार्थ)

AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31 - - - -
2016

का पूर्वोक्त लक्षण ही तात्त्विक है।

→ पूर्वोक्त लक्षण = श्लो. 324 आदि में कहा हुआ लक्षण।

अब, इसमें भी विशेष कहते हैं:-

दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते।
दैवेन चैषोऽपीत्येतन्नान्यथा चोपपद्यते ॥327॥

पुरुषार्थ के द्वारा दुर्बल कर्म का उपघात किया जाता है और कर्म द्वारा इस पुरुषार्थ का भी उपघात किया जाता है। इसलिए यह परस्पर उपघात ~~रूप~~ वाली बात अन्यथा घटित नहीं होगी।

→ अन्यथा = दोनों समान न होने पर।

पुरुषार्थ द्वारा दुर्बल कर्म का उपघात होता है। यहाँ उपदेशपद ग्रंथ में प्रसिद्ध मंत्री का दृष्टांत है। दृष्टांत इस प्रकार है- एकदा एक राजा की सभा में कोई नैमित्तिक आया। राजा ने पूछा- पंद्रह दिन में मेरे राज्य में कुछ नया होने वाला हो तो कहो। नै.- मंत्री का परिवार सहित नाश होगा। मंत्री ने यह सुनकर सोचा- इस नैमित्तिक को विशेष से पूछना चाहिए, जिससे परिवार की रक्षा की जा सके। उसने नैमित्तिक को पुरस्कार देकर आमंत्रण दिया और विशेष पूछा। नै.- आपके बड़े पुत्र के निमित्त से नाश होगा, बस इतना ही निर्णय हो पा रहा है। मंत्री ने बड़े पुत्र को पेटी में बंधकर पेटी राजा को देकर कहा- मेरे परिवार का नाश होने वाला है इसलिए मैंने मेरा सर्वस्व इस पेटी में रख दिया है, आप इसे सील करके रखना। राजा ने वैसा ही किया। पंद्रहवें दिन राजपुत्री की चोटी खींचकर मंत्री का बड़ा पुत्र भाग गया। राजा ने मंत्री को परिवार सहित नाश करने

की सजा दी। मंत्री ने राजा को कहा- आप पेटी खोलकर देखो। राजा ने पेटी खोली तो उसमें मंत्री का बड़ा पुत्र, कैंची और राजपुत्री की चोटी थी। राजा ने पूछा- यह कैसे संभव है? मंत्री- इस पुत्र के पूर्वभव के वैरी कोई व्यंतर देव ने ऐसा किया है। राजा ने निर्दोष जानकर मंत्री को क्षमा दी। इस प्रकार मंत्री के पुरुषार्थ से कर्म का उपघात हुआ। कर्म द्वारा पुरुषार्थ का उपघात होता है। जैसे - द्वारिका नगरी का जलना निश्चित कर्म था, वासुदेव-बलदेव भी पुरुषार्थ से उसे टाल नहीं सके।

इस प्रकार दोनों का परस्पर उपघात तभी घटित होता है, जब दोनों समान बल वाले होते हैं। यदि दोनों को समान बलवान् नहीं माने तो परस्पर उपघात घटित नहीं होगा।

अत. इस प्रकार परस्पर उपघात्य-उपघातक भाव सिद्ध होने पर जो सिद्ध होता है, वह कहते हैं—

कर्मणा कर्ममात्रस्य नोपघातादि तत्त्वतः।
स्वव्यापारगतत्वे तु तस्यैतदपि युज्यते ॥ 328 ॥

कर्म से कर्ममात्र का उपघातादि घटता नहीं है किंतु स्वयं का व्यापार होने पर उस कर्म का यह उपघातादि घटित होता है।

→ उपघातादि = उपघात-अनुग्रह।
→ तस्य = कर्म का।
→ एतद् = उपघातादि।

यदि पुरुषार्थ को न मानो तो मात्र कर्म का कर्म से उपघातादि नहीं होता है किंतु यदि पुरुषार्थ मानो तो ही कर्म से कर्म का उपघातादि घटित होगा। जैसे वर्तमान में कोई पुरुषार्थ न हो तो आने वाले कर्म का

उपघात नहीं होता किंतु वर्तमान में पुरुषार्थ हो तो आने वाले कर्म का उपघात हो सकता है। इसलिए कहा कि वर्तमान में जो संबंधी कर्म वर्तमान में पुरुषार्थ के साथ जुड़ा हो तो आने वाले कर्म का उपघात- अनुग्रह हो सकता है। मात्र कर्म मानने पर उपघात- अनुग्रह नहीं घट सकता, अतः श्लो. 327 में दर्शाए अनुसार उपघात घटित नहीं होगा। इसलिए पुरुषार्थ भी मानना आवश्यक है। इस प्रकार श्लो. 324 उत्तरार्ध (Pg. 201) में कहे गए सांख्य मत का खंडन किया गया।

अब (अब कर्म और पुरुषार्थ को प्रस्तुत स्वभावता / योग्यता और काल के साथ जोड़ते हुए कहते हैं —) (श्लो. 311 से स्वभावता की बात चल रही थी)

उभयोस्तत्स्वभावत्वे तत्तत्कालाद्यपेक्षया।
बाध्यबाधकभावः स्यात् सम्यग्न्यायाऽविरोधतः॥329॥

दोनों (कर्म और पुरुषार्थ) का उस-उस कालादि की अपेक्षा से योग्यता होने पर युक्ति का विरोध न होने से बाध्य-बाधक भाव होता है।

कर्म और पुरुषार्थ की वैसी योग्यता होने पर ही उस-उस काल आदि सहकारी कारणों की अपेक्षा से बाध्य-बाधक भाव होता है। जैसे- जीव जब अचरमावर्त में होता है, तब उसके पुरुषार्थ और कर्म की वैसी योग्यता से ही कर्म से पुरुषार्थ का उपघात होता है। जब चरमावर्त में जीव प्रवेश करता है तब कालादि सहकारि कारणों की सहाय से पुरुषार्थ से कर्म का घात होता है।

तथा च तत्स्वभावत्वनियमात्कर्तृकर्मणोः।
फलभावोऽन्यथा तु स्यान्न काङ्कटुकपक्तिवत्॥330॥

JULY 2016
W M T W T F S S
26 1 2 3
27 4 5 6 7 8 9 10
28 11 12 13 14 15 16 17
29 18 19 20 21 22 23 24
30 25 26 27 28 29 30 31

22 Friday
JULY
Week 29 204-162

अतः वैसी योग्यता के नियम से ही कर्ता-कर्म का फल होता है। अन्यथा पकने के अयोग्य मूँग वगैरह को पकाने की तरह फल नहीं होता।

→ कर्ता = पुरुषार्थ। कर्म = कर्म।
→ फल = बाध्य आदि।
→ अन्यथा = योग्यता का नियम न होने पर।

पुरुषार्थ और कर्म की वैसी योग्यता का प्रतिनियत भाव/नियति होने से ही पुरुषार्थ और कर्म का बाध्य वगैरह होता है। अन्यथा यदि उनका नियत भाव नहीं होता तो जैसे पकने के लिए अयोग्य मूँग वगैरह को पकाने से कुछ फल नहीं मिलता, वैसे ही कर्म-पुरुषार्थ का बाध्य आदि रूप फल भी नहीं होता।
इस प्रकार नियति को भी योग्यतादि के साथ जोड़।

अब. अन्य प्रकार से बाध्य-बाधक भाव कहते हैं -

कर्मादिनियतभावं तु यत्स्याच्चित्रं फलं प्रति।
तद् बाध्यमत्र दार्वादिप्रतिमायोग्यतासमम् ॥३३॥

विचित्र फल के प्रति जो अनियतभाव वाला कर्म है, वह यहाँ लकड़ी आदि की प्रतिमा की योग्यता के समान बाध्य है।

सुख-दुःख आदि विचित्र फल के प्रति जो अनियत परिणाम वाला कर्म है, वह यहाँ बाध्य है अर्थात् पुरुषार्थ से उसका बाध करना चाहिए। जैसे- लकड़ी में प्रतिमा बनने की योग्यता होती है किंतु पुरुषार्थ से प्रतिमा बन जाने के बाद प्रतिमा रूप उसी लकड़ी में प्रतिमा बनने की योग्यता नहीं होती, उस योग्यता का पुरुषार्थ से बाध हो जाता है; वैसे ही पुरुषार्थ से अनियत भाव वाले

AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31 - - - -
2016

कर्म का बाध करना चाहिए।

नियमात्प्रतिमा नात्र न चातोऽयोग्यतैव हि।
तत्क्षणनियोगेन प्रतिमेवास्य बाधकः ॥332॥

यहाँ अवश्य प्रतिमा नहीं है। इससे इस लक्षण के नियोग से अयोग्यता ही है, ऐसा नहीं है। पुरुषार्थ प्रतिमा की तरह इस कर्म का बाधक है।

ऊपर श्लो. 331 में कहा कि पुरुषार्थ से कर्म का बाध करना चाहिए, जैसे पुरुषार्थ से लकड़ी की प्रतिमायोग्यता का बाध होता है वैसे। यहाँ कोई प्रश्न पूछता है कि लकड़ी में प्रतिमा बनने की योग्यता ~~नहीं~~ कैसे है? यदि उसमें योग्यता होती तो पहले ही प्रतिमा बन जाती। ~~किंतु~~ इसलिए यह सिद्ध होता है कि उसमें योग्यता न होने से ही वह प्रतिमा नहीं बनी, लकड़ी ही रही। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में उपर्युक्त श्लो. 332 है।

ग्रंथकार उत्तर देते हुए कहते हैं कि जिस-जिस लकड़ी में प्रतिमा बनने की योग्यता होती है, वहाँ प्रतिमा अवश्य होती ही है, ऐसा नियम नहीं है। प्रतिमा नहीं होने पर भी लकड़ी में प्रतिमा बनने की योग्यता रहती है।

पूर्वपक्षी पुनः पूछता है कि प्रतिमा नहीं है इसलिए ~~ही~~ ~~से~~ अयोग्यता ही है। तो ग्रंथकार कहते हैं- प्रतिमा नहीं होने से अयोग्यता ही है, ऐसा नहीं है क्योंकि ऐसा लोक में ही रूढ़ है कि लकड़ी में प्रतिमा बनने की योग्यता ही है, अयोग्यता नहीं है।

'तत्क्षणनियोगेन न अयोग्यता एव' ⇒ तत्क्षण यानि योग्यता के नियोग से अर्थात् लोकरूढ़ि से योग्यता ही घटित होने से उसमें अयोग्यता नहीं है।

अतः जैसे प्रतिमा लकड़ी की योग्यता की बाधक है अर्थात्

24 Sunday
JULY
Week 29 206-160

प्रतिमा बन जाने पर लकड़ी में प्रतिमा बनने की योग्यता नहीं होती, वैसे ही पुरुषार्थ कर्म का बाधक है, अर्थात् पुरुषार्थ की प्रवृत्ति से ही बाध्य-बाधक भाव होता है।

[प्रश्न. केवल योग्यता ही प्रतिमा का आक्षेप कर लेगी, उसके बाधक पुरुषार्थ से क्या?' ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि —
[* सांख्य पुरुषार्थ का स्वीकार नहीं करते, मात्र कर्म को ही मानते हैं ऐसा श्लो. 324 (पृ. 201) में कहा। वे यहाँ पुनः प्रश्न करते हैं कि पुरुषार्थ को स्वीकारने की क्या जरूर है! दृष्टांत में प्रतिमायोग्यता ~~और पुरुषार्थ~~ को कर्म ~~तुल्य~~ स्थानीय बताया है। उसमें वे प्रश्न पूछते हैं कि पुरुषार्थ से योग्यता का बाध होता है, ऐसा मत मानो और मात्र योग्यता से ही प्रतिमा का निर्माण हो जाएगा, ऐसा मानो तो क्या आपत्ति है?-]

दार्वादेः प्रतिमाक्षेपे तद्भावः सर्वतो ध्रुवः।
योग्यस्याऽयोग्यता चेति न चैषा लोकसिद्धितः॥333॥

लकड़ी वगैरह की योग्यता से ही प्रतिमा का आक्षेप होने पर सभी लकड़ी से प्रतिमा बनना निश्चित हो जाएगा और योग्य की अयोग्यता हो जाएगी। यह अयोग्यता लोक से सिद्ध नहीं है।

उपर्युक्त पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए ग्रंथकार कहते हैं—
'दार्वादेः ... ध्रुवः' ⇒ यदि ऐसा मानोगे कि लकड़ी की योग्यता से ही प्रतिमा का निर्माण होता है (अर्थात् योग्यता से ही पुरुषार्थ होगा और उससे प्रतिमा बनेगी) तो यह आपत्ति होगी कि दुनिया में जितनी भी लकड़ी वगैरह वस्तु हैं, सबसे अवश्य प्रतिमा बनेगी क्योंकि सभी लकड़ी वगैरह में प्रतिमा की योग्यता तो रहती है।

पूर्वपक्ष पुनः कहता है कि जिन लकड़ी से प्रतिमा नहीं बनती, उस लकड़ी में प्रतिमा बनने की योग्यता ही नहीं थी, अयोग्यता ही थी; ऐसा मानने पर उपर्युक्त सभी

लकड़ी से प्रतिमा बनने की आपत्ति नहीं होगी।
इस शंका का उत्तर देते हुए ग्रंथकार कहते हैं - 'योग्यस्य अयोग्यता च' ⇒ ऐसा मानने पर आपको योग्य ऐसी लकड़ी वगैरह में भी अयोग्यता मानने की आपत्ति है क्योंकि सभी लकड़ी में योग्यता होती है, यह लोक से सिद्ध है।
पूर्वपक्ष पुनः कहता है कि योग्य की अयोग्यता मानने में क्या आपत्ति है? ऐसा होता है तो होने दो।
ग्रंथकार कहते हैं 'न... सिद्धितः' ⇒ यह बात लोकविरुद्ध है। प्रतिमा न बनने पर भी लकड़ी में प्रतिमा बनने की अयोग्यता रहती है, ऐसी लोक में प्रसिद्धि नहीं है। इसलिए लोकविरुद्ध होना ही आपत्ति है।

अब दृष्टांत में दी गई आपत्ति को अब दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं -

कर्मणोऽप्येतदाक्षेपे दानादौ भावभेदतः।
फलभेदः कथं नु स्यात् तथा शास्त्रादिसङ्गतः ॥३३५॥

कर्म से ही इस दानादि का आक्षेप होने पर भाव के भेद से इस दानादि में शास्त्रादि से संगत फलभेद कैसे होता है?

→ एतदाक्षेप = फल के हेतु ऐसे पुरुषार्थ का आक्षेप होने पर (★ दानादि का आक्षेप होने पर, ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं।)

जैसे ✱ लकड़ी की योग्यता से ही प्रतिमा बनना स्वीकारने पर सभी लकड़ी से प्रतिमा बन जाएगी; वैसे ही मात्र कर्म से ही दानादि क्रिया होती है, ऐसा मानने पर दानादि कार्य में भाव/परिणाम के भेद से जो फलभेद दिखता, वह फलभेद कैसे होगा? अर्थात् वह नहीं होना चाहिए क्योंकि उस प्रकार के पुरुषार्थ से रहित मात्र कर्म से ही फल स्वीकारने पर फल की विचित्रता घटित नहीं होगी।

26 Tuesday
JULY

Week 30 208-158

पुरुषार्थ के बिना सभी का कर्म एक जैसा ही होना चाहिए इसलिए फल में भेद भी नहीं होना चाहिए। किंतु शास्त्र और लोक, दोनों में दानादि क्रिया का परिणामभेद से फलभेद प्रसिद्ध है। अतः यह पुरुषार्थ बिना संगत नहीं हो सकता। पुरुषार्थ को स्वीकारना अनिवार्य है।

अत. प्र. यह कैसे सिद्ध होता है कि ~~कर्म से~~ दानादि में भावभेद होता और उससे फलभेद होता है? — (★ दानादि में कर्म और पुरुषार्थ परस्पर ~~अ~~ सापेक्ष कैसे हैं? —)

शुभात्ततस्त्वसौ भावो हन्तायं तत्स्वभावभाक्।
एवं किमत्र सिद्धं स्यात् तत एवास्त्वतो ह्यदः ॥335॥

शुभ कर्म से यह भाव होता है। यह भाव उस स्वभाव वाला होता है। इस प्रकार यहाँ क्या सिद्ध हुआ? कर्म से यह भाव हो और भाव से कर्म हो।

→ ततः = कर्म से।
→ असौ = दानादि के काल में अत्यग-अत्यग होने वाला भाव।
→ अयं = यह फलभेद (★ यह भाव/पुरुषार्थ)
→ तत्स्वभावभाक् = उस कर्म के शुभ स्वभाव वाला है।
→ ततः = कर्म से।
→ अतः = भाव से।
→ अदः = कर्म।

शुभ कर्म से यह दानादि का भाव ~~हो~~ होता है। यह भाव होना जीव का परिणाम होने से पुरुषार्थ है। अतः शुभ कर्म से शुभ पुरुषार्थ होता है। यह भाव/पुरुषार्थ भी उस ~~कर्म~~ कर्म के स्वभाव वाला होता है अर्थात् यह पुरुषार्थ भी शुभ कर्म का बंध कराने वाला होता है, जिस कर्म के ~~फल~~ का पुनः शुभ फल मिलता है।

AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31 - - - -

2016

यहाँ शिष्य पूछता है - ऐसे कर्म और पुरुषार्थ सापेक्ष होने से क्या सिद्ध होता है? कहते हैं - ⇒ ततः एव अस्तु ⇒ शुभाशुभ कर्म से वह शुभाशुभ पुरुषार्थ होना चाहिए और 'अतः अदः' ⇒ इस पुरुषार्थ से ही यह कर्म होता है।

अत. कर्म और पुरुषार्थ की चर्चा श्लो. 318 (Pg. 198) से चल रही है। पूरी चर्चा का उपसंहार करते हुए कहते हैं -

तत्त्वं पुनर्द्वयस्यापि तत्स्वभावत्वसंस्थितौ।
भवत्येवमिदं न्यायात् तत्प्राधान्याद्यपेक्षया॥336॥

इस प्रकार उस प्रकार की योग्यता ~~सिद्ध~~ होने पर प्रधानतादि की अपेक्षा से दोनों का यह स्वरूप होता है।

→ तत्त्व = स्वरूप।
→ इदं = यह पूर्वोक्त स्वरूप।

इस प्रकार कर्म और पुरुषार्थ में प्रधान-गौण आदि की अपेक्षा से वैसी योग्यता होने से इन दोनों का यह पूर्वोक्त परस्पर सापेक्ष स्वरूप है।

एवं च चरमावर्ते परमार्थेन बाध्यते।
प्रायेण पुरुषकारेण प्रायशो व्यत्ययोऽन्यदा॥337॥

इस प्रकार चरम आवर्त में पुरुषार्थ द्वारा कर्म का परमार्थ से प्रायः बाध किया जाता है। अन्य काल में (चरमावर्त से पूर्व) ~~प्रायः~~ व्यत्यय होता है अर्थात् कर्म द्वारा पुरुषार्थ का बाध किया जाता है।

उस प्रकार की संक्लेश वाली अवस्था में नंदिषेण मुनि आदि की तरह चरमावर्त में भी कर्म से पुरुषार्थ का बाध होता है, यह दर्शाने के लिए 'प्रायः' का ग्रहण

28 Thursday
JULY

Week 30 210-156

किया है।

तुल्यत्वमेवमनयोर्व्यवहाराद्यपेक्षया।
सूक्ष्मबुद्ध्यावगन्तव्यं न्यायशास्त्राऽविरोधतः॥338॥

इस प्रकार इन (कर्म और पुरुषार्थ) दोनों का व्यवहारादि की अपेक्षा से न्याय-शास्त्र के अविरोध पूर्वक ~~सूक्ष्म~~ तुल्यत्व सूक्ष्म बुद्धि द्वारा जानना चाहिए।

→ न्यायशास्त्राविरोधतः = न्याय/युक्ति और शास्त्र, दोनों के अविरोध से।

→ व्यवहारादि में आदि शब्द से निश्चयनय की अपेक्षा से भी।

निश्चय नय के मत से कार्य के काल में कर्म और पुरुषार्थ, दोनों स्वयं की ~~अपेक्षा~~ भूमिका में प्रधान हैं, स्वतंत्र हैं; इस प्रकार निश्चय से दोनों तुल्य हैं। व्यवहार नय के मत से ये दोनों परस्पर सापेक्ष, प्रधान-गौण भाव वाले और बाध्य-बाधक भाव वाले होते हैं; इस प्रकार व्यवहार से दोनों तुल्य हैं।

अब. ६ श्लो. 290-1 में (Pg. 180 पर) में सम्यग्दृष्टि जीवों की बात चल रही थी। अब प्रस्तुत चर्चा को उस सम्यग्दृष्टि आदि जीवों के साथ जोड़ते हैं—

एवं पुरुषकारेण ग्रन्थिभेदोऽपि सङ्गतः।
तदूर्ध्वं बाध्यते दैवं प्रायोऽयं तु विजृम्भते॥339॥

इस प्रकार पुरुषार्थ से ग्रंथि भेद भी संगत है। ग्रंथिभेद के बाद प्रायः पुरुषार्थ द्वारा कर्म का बाध किया जाता है। पुरुषार्थ तो विस्तृत होता है।

2016

अब. पुरुषार्थ के विस्तार से क्या होता है? वह कहते हैं—

अस्यौचित्यानुसारित्वात् प्रवृत्तिर्नासती भवेत्।
सत्प्रवृत्तिश्च नियमाद् ध्रुवः कर्मक्षयो यतः॥ 340॥

~~इस~~ सम्यग्दृष्टि औचित्य का अनुसारी होने से असत् प्रवृत्ति यह नहीं होती और सत्प्रवृत्ति अवश्य होती है क्योंकि कर्मक्षय निश्चित है।

सम्यग्दृष्टि जीव को कर्मक्षय प्रत्येक समय अवश्य चालू रहता है इसलिए सत्प्रवृत्ति अवश्य चालू रहती है।

संसारादस्य निर्वेदस्तथोच्चैः पारमार्थिकः।
संज्ञानचक्षुषा सम्यक् तन्नैर्गुण्योपलब्धितः॥ 341॥

इस जीव को संसार से अत्यंत तीव्र पारमार्थिक/अकृत्रिम निर्वेद होता है क्योंकि इस ~~संज्ञान~~ सम्यग्ज्ञान रूपी चक्षु से संसार की असारता का सम्यक् ज्ञान हो चुका है।

मुक्तौ दृढानुरागश्च तथातद्गुणसिद्धितः।
विपर्ययो-महादुःखबीजनाशाच्च तत्त्वतः॥ 342॥

तथा इस जीव को मुक्ति में दृढ़ अनुराग होता है क्योंकि इसे मुक्ति के गुण सिद्ध हो गए हैं और विपर्यय (मिथ्यात्व) रूप महादुःख के बीज मिथ्यात्वमोहादि का नाश हो गया है।

अब. इस सम्यग्दृष्टि को औचित्यानुसारित्व क्यों और कैसा होता है।-

एतत्त्यागाप्तिसिद्ध्यर्थमन्यथा तदभावतः।
अस्यौचित्यानुसारित्वमत्यभिष्टार्थसाधनम्॥ 343॥

इस जीव औचित्यानुसारित्व सभी इष्ट अर्थों की सिद्धि में समर्थ है। वह इसे संसार के त्याग और मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही होता है क्योंकि औचित्यानुसारित्व के बिना संसारत्याग और मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

30 Saturday
JULY
Week 30 212-154

→ अन्यथा = औचित्यानुसारित्व के बिना।
→ तदभाव = संसारत्याग और मुक्तिप्राप्ति का अभाव होने से।

औचित्यं भावतो यत्र तत्रायं सम्प्रवर्तते।
उपदेशं विनाप्युच्चैरन्तस्तेनैव चोदितः॥३५५॥

जहाँ परमार्थ से औचित्य है, वहाँ यह जीव बाह्य उपदेश बिना ही अंदर से ग्रंथिभेद द्वारा उत्पन्न पुरुषार्थ से प्रेरित प्रवृत्त होता है।

→ तेन = ग्रंथिभेद के बल से उत्पन्न पुरुषार्थ।

★ 'तेन' का अर्थ 'औचित्य' होना चाहिए। श्लोकार्थ → जहाँ परमार्थ से औचित्य है, उस कार्य में यह जीव बाह्य उपदेश बिना ही अंदर से उस औचित्य द्वारा ही प्रेरित होकर प्रवृत्त होता है।

अतस्तु भावो भावस्य तत्त्वतः सम्प्रवर्तकः।
शिराकूपे पय इव पयोवृद्धेर्नियोगतः॥३५६॥

इसलिए भाव ही भाव का प्रवर्तक है। जैसे - शिराकूप में पानी ही पानी की वृद्धि का प्रवर्तक है।

→ भावः = वैराग्यादि।
→ भावस्य = अन्य भावों का।

~~जैसे~~ अंदर पानी की नीक वाले कुएँ में पानी नहीं आता है, तब ऊपर से थोड़ा पानी डाला जाता है। उस पानी से नीचे नीक का पानी कुएँ में आने लगता है। इस प्रकार कुएँ में पानी की वृद्धि अवश्य पानी से ही होती है। वैसे ही जीव के शुभ भावों की वृद्धि शुभ भावों से ही होती है। उपर्युक्त श्लो. ३५५ में कहे अनुसार औचित्य से जीव प्रवृत्ति करता है और प्रवृत्ति से जीव में औचित्य की वृद्धि ही होती है।

अव. ~~तो फिर~~ यदि उपदेश अनैकान्तिक है तो शास्त्रों में दिए गए उस-उस उपदेश का क्या फल है ? —

प्रक्रान्ताद् यदनुष्ठानादौचित्येनोत्तरं भवेत् ।
तदाश्रित्यौपदेशोऽपि ज्ञेयो विध्यादिगोचरः ॥३५७॥

जो अनुष्ठान प्रक्रान्त अनुष्ठान से औचित्य द्वारा बाद में आता है, उस अनुष्ठान के आश्रय से विधि आदि विषयक उपदेश जानना ।

जीव ने वर्तमान में जो अनुष्ठान प्रारंभ किया है, ~~उस~~ प्रक्रान्त अनुष्ठान से आगे वाला जो अनुष्ठान है, उस आगे वाले अनुष्ठान के आश्रय से ही जीव को विधि-निषेध आदि का उपदेश दिया जाता है। इसीलिए कहा गया है - गुणस्थानक का प्रारंभ करने वाले जीवों को और पतित होते जीवों को दिया गया उपदेश सफल है किंतु उसी गुणस्थानक में स्थिर जीवों को उपदेश देना सफल नहीं है (उपदेशपद-५१९) ।

अव. जिसने अनुष्ठान का प्रारंभ नहीं किया है, उसे भी कभी उपदेश दिया जाता है, ऐसा कहते हैं - (★ उपदेश कैसे देना चाहिए ?-)

प्रकृतेर्वानुगुण्येन चित्रः सद्भावसाधनः ।
गम्भीरोक्त्या मितश्चैव शास्त्राध्ययनपूर्वकः ॥३५८॥

प्रकृति की अनुवर्तन से, गंभीर वचन द्वारा शास्त्राध्ययन पूर्वक परिमित, विचित्र और शुभ भाव के साधन रूप उपदेश देना चाहिए ।

→ प्रकृति के अनुवर्तन से = बालबुद्धि - मध्यमबुद्धि आदि रूप से सामने वाले की प्रकृति को समझकर उस अनुसार उपदेश देना चाहिए ।
→ गंभीरोक्ति = अत्यंत निपुण ऐसी वचन रचना से उपदेश देना चाहिए ।
→ मित = परिमित उपदेश देना चाहिए क्योंकि अपरिमित उपदेश

2016
AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31 - - - -

2 Tuesday
AUGUST

Week 31 215-151

वैर का हेतु बन जाता है।

→ शास्त्राध्ययनपूर्वक = उपदेश में शास्त्र के पाठों का उच्चारण पहले करना चाहिए क्योंकि उससे दृढ़ प्रतीति होती है।

शिरोदकसमो भाव आत्मन्येव व्यवस्थितः।
प्रवृत्तिरस्य विज्ञेया चाभिव्यक्तिस्ततस्ततः॥३५१॥

भाव कूएँ की शिरा के जल समान आत्मा में ही रहा हुआ है। इस भाव की ~~प्रवृत्ति~~ उस-उस उपदेश से प्रवृत्ति और अभिव्यक्ति जानना।

जैसे कूएँ की शिरा में पानी पहले से ही रहा हुआ है, वैसे ही शुद्ध परिणाम रूप भाव भी आत्मा में ही रहा हुआ है। उस-उस उपदेश से इस भाव की मात्र प्रवृत्ति और अभिव्यक्ति होती है।

अत. यह भाव की मात्र अभिव्यक्ति ही होती है, उत्पत्ति नहीं, ऐसा क्यों?

सत्क्षयोपशमात्सर्वमनुष्ठानं शुभं मतम्।
क्षीणसंसारचक्राणां ग्रन्थिभेदादयं यतः॥३५०॥

जिन जीवों का संसार चक्र क्षीण हो गया है, उनके सभी शुभ अनुष्ठान सत्क्षयोपशम से आने गए हैं क्योंकि यह क्षयोपशम ग्रंथिभेद से होता है।

जिन जीवों का संसार चक्र क्षीण प्राय हो गया है, उन जीवों के सभी शुभ अनुष्ठान सत्क्षयोपशम से अर्थात् सानुबंध क्षयोपशम से होते हैं। यह क्षयोपशम भी ग्रंथिभेद से होता है। ~~अत~~ सभी अनुष्ठान क्षयोपशम से होते हैं, ऐसा स्वीकारने से ही यह सिद्ध होता है कि सभी भाव और प्रवृत्ति अंदर कर्म के उदय से ढँके हुए थे, क्षयोपशम से वे ही प्रगट हुए। अतः श्लो. ३५१ में कही गई बात सिद्ध हुई कि अंदर भाव थे ही, उपदेश से मात्र अभिव्यक्ति हुई होती है।

SEPTEMBER 2016
W M T W T F S S
35 1 2 3 4
36 5 6 7 8 9 10 11
37 12 13 14 15 16 17 18
38 19 20 21 22 23 24 25
39 26 27 28 29 30

2016

अव. क्षयोपशम के आश्रय से कहते हैं-

भाववृद्धिरतोऽवश्यं सानुबन्धं महोदयम् ।
गीयतेऽन्यैरपि ह्येतत् सुवर्णघटसन्निभम् ॥ 351 ॥

इस क्षयोपशम से अवश्य भाव की वृद्धि होती है। अन्य दर्शनियों द्वारा भी यह सानुबंध और महान् उदय वाला अनुष्ठान सुवर्ण घट समान कहा जाता है।

जैसे सोने का घड़ा फूट जाने पर भी सोने के अनुबंध को नहीं छोड़ता, वैसे ही सानुबंध अनुष्ठान तथाविध कषाय के उदय से भग्न हो जाने पर भी फल को नहीं छोड़ता। अतः सानुबंध अनुष्ठान को बौद्धादि अन्य दर्शनी भी सुवर्णघट समान कहते हैं।

एवं तु वर्तमानोऽयं चारित्री जायते ततः ।
पल्योपमपृथक्त्वेन विनिवृत्तेन कर्मणः ॥ 352 ॥

इस प्रकार वर्तता यह जीव कर्म के पल्योपम पृथक्त्व स्थिति क्षय होने से चारित्री होता है।

इस प्रकार सानुबंध शुभ अनुष्ठानादि में वर्तता यह सम्यग्दृष्टि जीव चारित्र मोहनीय कर्म की पल्योपम पृथक्त्व स्थिति न्यून होने से देशविरति श्रावक होता है; और संख्यात सागरोपम स्थिति न्यून होने पर सर्वविरति चारित्री होता है। आर्ष वचन हैं - सम्यक्त्व प्राप्त करने पर पल्योपम पृथक्त्व से श्रावक होता है और संख्यात सागरोपम से सर्वविरति, उससे भी संख्यात सागरोपम से ~~औपश~~ उपशम श्रेणि तथा उससे भी संख्यात सागरोपम से क्षपक श्रेणि प्राप्त होती है। (विशेषा. भा. 1222)

2016 अव. इस चारित्री जीव के लिंग/चिह्न कहते हैं-

AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31

4 Thursday
AUGUST

Week 31 217-149

लिङ्गं मार्गानुसार्यादेष श्राद्धः प्रज्ञापनाप्रियः।
गुणरागी महासत्त्वः सच्छक्त्यारम्भसङ्गतः॥३५३॥

यह जीव मार्गानुसारी, श्राद्ध, प्रज्ञापनाप्रिय, गुणरागी, महासत्त्व और सत्शक्ति वाले आरंभ से युक्त होता है।

→ श्राद्ध = जंगल से आए हुए ब्राह्मण की घी से पूर्ण आहार विषयक रुचि से भी अधिक शुद्धानुष्ठान विषयक श्रद्धा से युक्त।
→ प्रज्ञापनाप्रिय = गुणवान् पुरुषों की प्रज्ञापना/उपदेश प्रिय होता है।
→ महासत्त्व = प्रशस्त पुरुषार्थ वाले।
→ सच्छक्त्यारम्भसंगत = सत् यानी सुंदर परिणाम वाले शक्य ऐसे अनुष्ठान से युक्त।

अब. मार्गानुसारित्व को कहते हैं-

असातोदयशून्योऽन्धः कान्तारपतितो यथा।
गर्तादिपरिहारेण सम्यक्तत्राभिगच्छति॥३५४॥

जैसे असाता के उदय से शून्य, जंगल में रहा हुआ अंध गड्ढे वगैरह के परिहार पूर्वक वहाँ सम्यक् रीति से चलता है।

तथाऽयं भवकान्तारे पापादिपरिहारतः।
श्रुतचक्षुर्विहीनोऽपि सत्सातोदयसंयुतः॥३५५॥

वैसे यह जीव श्रुत रूपी चक्षु से रहित होने पर भी शुभ साता के उदय से युक्त संसार रूपी वन में पापादि के परिहार पूर्वक सम्यक् रीति से चलता है।

अब. व्यतिरेक कहते हैं-

अनीदृशस्य तु पुनश्चारित्रं शब्दमात्रकम्।
ईदृशस्यापि वैकल्यं विचित्रत्वेन कर्मणाम्॥३५६॥

जो जीव ऐसा नहीं है (मार्गानुसारित्वादि लिंग से युक्त नहीं है), उसे चारित्र मात्र शब्द रूप है। ऐसे (लिंग युक्त) जीव

SEPTEMBER 2016
W M T W T F S S
35 1 2 3 4
36 5 6 7 8 9 10 11
37 12 13 14 15 16 17 18
38 19 20 21 22 23 24 25
39 26 27 28 29 30

को भी कर्मों की विचित्रता से विकलता होती है।

जो जीव मार्गानुसारी आदि लिंग से रहित है, उसे चारित्र मात्र शब्दात्मक ही होता है अर्थात् वास्तविक चारित्र नहीं होता, मात्र बोलने में ही चारित्र होता है।
तथा जो जीव मार्गानुसारी आदि लिंग से युक्त है, उसे भी कभी कर्म की विचित्रता से चारित्र नहीं होता है। आशय यह है कि जो जीव लिंगयुक्त हैं उनमें भजना है। वे जीव चारित्री भी हो सकते हैं और चारित्र रहित भी। चारित्र रहित जीव द्रव्य चारित्र ग्रहण कर लेते हैं, जिससे बाहर से वे मार्गानुसारी आदि लिंग से युक्त लगते हैं।
सम्यग्दृष्टि जीव भी चारित्र से रहित हो सकते हैं क्योंकि उन्हें तथाविध च निकाचित चारित्रमोह का उदय हो सकता है।
कहा भी है – घन, चिकने, भारी और वज्र जैसे कठोर कर्म ज्ञानी पुरुष को भी पथ से उत्पथ पर ले जाते हैं।

अव. श्लो. 31 (Pg. 35 पर) में योग के 5 भेद बताए थे। अब उन योगों का यहां अनुसंधान करते हैं –

देशादिभेदतश्चित्रमिदं चोक्तं महात्मभिः।
अत्र पूर्वोदितो योगोऽध्यात्मादिः सम्प्रवर्तते ॥३८॥

यह चारित्र महात्माओं द्वारा देश आदि भेद से विचित्र प्रकार का कहा गया है। इस चारित्र में ही पूर्व में कहे गए अध्यात्मादि योग की प्रवृत्ति होती है।

→ देशादि = देश और सर्व चारित्र।
→ इदं = चारित्र।
→ महात्मा = तीर्थंकर - गणधर आदि द्वारा।

2016

अव. 'अध्यात्म' योग की व्याख्या –

6 Saturday
AUGUST

औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य वचनात्तत्त्वचिन्तनम् ।
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥ ३७४ ॥

औचित्य से वर्तन युक्त जीव का वचन से मैत्री आदि की प्रधानता वाले अत्यंत तत्त्व चिन्तन को योगविद् अध्यात्म कहते हैं।

→ वृत्त = अणुव्रत-महाव्रत से। (★ वृत्त का अर्थ 'वर्तन' कर सकते हैं)
→ वचन = जिनवचन से।

जो जीव औचित्य पूर्ण वर्तन से युक्त हो अर्थात् औचित्य से वर्तन करता हो, कभी औचित्य चूकता न हो, वह जीव जिनवचन का आलंबन लेकर मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्य भावना की प्रधानता से जीवादि तत्त्वों का चिन्तन करे, इसे ही विद्वान् पुरुष अध्यात्म कहते हैं।

अब 'अध्यात्म' का फल —

अतः पापक्षयः सत्त्वं शीलं ज्ञानं च शाश्वतम् ।
तथानुभवसंसिद्धममृतं ह्यद एव तु ॥ ३७५ ॥

इस अध्यात्म से पापक्षय होता है, सत्त्व-शील-शाश्वत ज्ञान प्रगट होता है तथा यह अध्यात्म ही अनुभव से सिद्ध अमृत है।

→ सत्त्व = वीर्य का उत्कर्ष।
→ शील = चित्त की समाधि।
→ शाश्वत ज्ञान = अप्रतिपाती ज्ञान।
→ अनुभवसंसिद्ध = स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष।

अब यह अध्यात्म अतिदारुण ऐसे मोह रूपी विष के विकार का निराकरण करने वाला होने से अमृत समान है, यह योगियों को अनुभवसिद्ध बात है।

2016

अब. 'भावना' योग की व्याख्या –

अभ्यासोऽस्यैव विज्ञेयः प्रत्यहं वृद्धिसङ्गतः।
मनःसमाधिसंयुक्तः पौनःपुन्येन भावना ॥360॥

प्रतिदिन वृद्धि से युक्त, मन की समाधि से युक्त, पुनः पुनः इस अध्यात्म का अभ्यास ही भावना है।

→ मनःसमाधि = चित्त का निरोध।

अब. 'भावना' योग का फल –

निवृत्तिरशुभाभ्यासाच्छुभाभ्यासानुकूलता।
तथा सुचित्तवृद्धिश्च भावनायाः फलं मतम् ॥361॥

अशुभ अभ्यास से निवृत्ति, शुभ अभ्यास की अनुकूलता और सुचित्त की वृद्धि भावना का फल माना गया है।

→ अशुभाभ्यासात् निवृत्तिः = काम-क्रोध आदि विषयक अशुभ ~~अभ्यास~~ अभ्यास से जीव निवृत्ति को प्राप्त होता है।
→ शुभाभ्यासानुकूलता = ज्ञानादि विषयक शुभ अभ्यास उसे अनुकूल लगता है।
→ सुचित्तवृद्धि = शुभ/शुद्ध चित्त का उत्कर्ष होता है।

अब. 'ध्यान' योग का स्वरूप –

शुभैकालम्बनं चित्तं ध्यानमाहुर्मनीषिणः।
स्थिरप्रदीपसदृशं सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ॥362॥

शुभ – ~~अ~~ एक आलंबन वाले, स्थिर दीपक समान और सूक्ष्म उपयोग से युक्त चित्त को बुद्धिमान् पुरुष ध्यान कहते हैं।

अब. ध्यान योग का फल –

वशिता चैव सर्वत्र भावस्तैमित्यमेव च।
अनुबन्धव्यवच्छेद उदर्कोऽस्येति तद्विदः ॥363॥

8 Monday
AUGUST
Week 32 221-145

~~वशित्व~~ सभी कार्य में वशिता, भाव की स्थिरता और अनुबंध का व्यवच्छेद, ये ध्यान के फल हैं, ऐसा ध्यानी पुरुष कहते हैं।

→ वशिता = सभी कार्य में ~~मन~~ मन नियंत्रित, खुद के वश में रहता है।

→ अनुबंधव्यवच्छेद = इस भव के अंत तक चलने वाले और अन्य भव में भी परंपरा से चलने वाले कर्मों की परंपरा का अभाव करना।

अब 'समता' योग की व्याख्या—

अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु।
संज्ञानात् तद्व्युदासेन समता समतोच्यते ॥364॥

अविद्या द्वारा काल्पित इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं में सम्यग्ज्ञान से उस वस्तु के व्युदास द्वारा समानता करना/रखना समता कही जाती है।

जीव अनादि काल से स्वयं की विपरीत वासना से विकल्प द्वारा वस्तुओं को इष्ट-अनिष्ट, ऐसी दो विभाग में काल्पित करता है। जो वस्तु उसकी इन्द्रिय और मन को प्रमोद देती है, ऐसी शब्दादि विषयों को वह इष्ट मानता है तथा जो वस्तु इससे विपरीत दुःख देती है, उसे वह अनिष्ट मानता है।
निश्चय से कोई भी वस्तु इष्ट या अनिष्ट नहीं है। वह जीव कभी उन्हीं अर्थों में ~~द्वेष~~ द्वेष करता है, कभी उन्हीं विषयों में लीन होता है, इसलिए निश्चय से उसे कुछ इष्ट या अनिष्ट नहीं है (प्रशमरति-52)। इस प्रकार के सम्यग्ज्ञान से वह वस्तुओं में मन को तुल्य वृत्ति वाला करता है, उसे समता कहा जाता है।

SEPTEMBER 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
35				1	2	3	4
36	5	6	7	8	9	10	11
37	12	13	14	15	16	17	18
38	19	20	21	22	23	24	25
39	26	27	28	29	30		

★ टीकाकार ने 'तद्व्युदास' में तद् से वस्तु का ग्रहण कर 'इष्टानिष्ट वस्तु के परिहार पूर्वक' ऐसा अर्थ किया है।
2016

यहाँ 'तद्' से इष्टानिष्ट बुद्धि का ग्रहण करना चाहिए। अतः श्लोकार्थ → अविद्या द्वारा कल्पित इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं में सम्यग्ज्ञान से इष्ट-अनिष्टत्व की बुद्धि को छोड़ने द्वारा समानता की बुद्धि करना समता कही जाती है।

अब 'समता' योग का फल —

ऋद्ध्यप्रवर्तनं चैव सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा।
अपेक्षातन्तुविच्छेदः फलमस्याः प्रचक्षते ॥३६५॥

ऋद्धि का अप्रवर्तन, सूक्ष्म कर्मों का क्षय और अपेक्षा रूपी तंतु का विच्छेद, विचक्षण पुरुष इस समता के ये फल कहते हैं।

→ ऋद्ध्यप्रवर्तन = आमर्षौषधी आदि ऋद्धियों के ~~[illegible]~~ से आजीविका न चलाने द्वारा उन ऋद्धियों का व्यापार न करना।
→ सूक्ष्मकर्मक्षय = केवलज्ञान-दर्शन, यथाख्यात-चारित्र आदि के आवारक कर्मों का क्षय।
→ अपेक्षातंतु विच्छेद = बंध का हेतु होने से अपेक्षा ही तंतु समान है। उस अपेक्षा रूपी धागा इस समता से टूट जाता है।

अब 'वृत्तिसंक्षय' योग की व्याख्या —

अन्यसंयोगवृत्तीनां यो निरोधस्तथा तथा।
अपुनर्भावरूपेण स तु तत्संक्षयो मतः ॥३६६॥

अन्य के संयोग से होने वाली वृत्तियों का पुनः न होवे उस ~~[illegible]~~ प्रकार निरोध करना, वही वृत्तिसंक्षय माना गया है।

इस जगत् में तरंग रहित समुद्र समान आत्मा की पर संयोग के निमित्त से उत्पन्न होने वाली विकल्प रूप और परिस्पंद रूप वृत्ति स्वभाव से ही चल रही है। इनमें से विकल्प रूप वृत्ति मनोद्रव्य के संयोग से होती है और

10 Wednesday
AUGUST
Week 32 223-143

परिस्पंद रूप वृत्ति शरीर के संयोग से होती है। इन पर संयोग-निमित्तक वृत्तियों का उस-उस प्रकार से केवलज्ञान की प्राप्ति काल में और अयोगी केवली काल में, पुनः कभी उत्पन्न न हो इस प्रकार निरोध करना ही वृत्ति का संक्षय कहा गया है।

अब. इस योग का फल—

अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशीसम्परिग्रहः।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी ॥367॥

इस वृत्तिसंक्षय से केवलज्ञान, शैलेशी अवस्था की प्राप्ति और सदा आनंद का विधान करने वाली तथा अनाबाध ऐसी मोक्ष-प्राप्ति होती है।

→ केवलज्ञान = सभी द्रव्य-पर्याय विषयक होने से परिपूर्ण ज्ञान, उपयोग विशेष।
→ शैलेशीसंपरिग्रह = सर्वसंवर रूप शील, उसका स्वामी शैलेश, उनकी अवस्था शैलेशी अवस्था, इस अवस्था का स्वीकार।
→ अनाबाधा = शरीर और मानसिक सभी बाधा/व्यथाओं से रहित।

यहाँ अन्य दर्शनियों द्वारा कल्पित मोक्षप्राप्ति के व्यवच्छेद के लिए दो विशेषणों का ग्रहण किया है। नैयायिक सुख-दुःख रहित मुक्ति मानते हैं। उसमें अनाबाधता होने पर भी सानंद नहीं होता इसलिए दोनों विशेषणों का ग्रहण किया है।

अब. श्लो. 32 (Pg.35) पर तात्त्विक-अतात्त्विक, इस प्रकार योग के दो भेद किए थे। उनका यहाँ उपक्षेप करने के लिए कहते हैं—

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायमिति यच्चोदितं पुरा।
तस्येदानीं यथायोगं योजनाऽत्राभिधीयते ॥368॥

यह योग तात्त्विक और अतात्त्विक है, ऐसा जो पहले कहा था, उसकी यहाँ यथायोग्य योजना कही जाती है।

SEPTEMBER 2016
M M T W T F S S
35 1 2 3 4
36 5 6 7 8 9 10 11
37 12 13 14 15 16 17 18
38 19 20 21 22 23 24 25
39 26 27 28 29 30 - -
2016

अपुनर्बन्धकस्यायं व्यवहारेण तात्त्विकः।
अध्यात्मभावनारूपो निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥369॥

अपुनर्बंधक जीव को अध्यात्म और भावना रूप यह योग व्यवहार से तात्त्विक होता है। निश्चय से उसके बाद वाले जीव को तात्त्विक होता है।

यहाँ उपलक्षण से सम्यग्दृष्टि जीव भी लेना है। अतः यह योग व्यवहार से अपुनर्बंधक और सम्यग्दृष्टि को तात्त्विक होता है अर्थात् कारण में कार्य के उपचार से तात्त्विक होता है। निश्चय से अपुनर्बंधक और सम्यग्दृष्टि से आगे वाले चारित्री को तात्त्विक योग होता है।

★ यहाँ टीकाकार ने उपलक्षण से सम्यग्दृष्टि का भी ग्रहण किया है और 'उत्तर' पद से चारित्री का ग्रहण किया है। किंतु यह ठीक नहीं लगता क्योंकि चारित्री जीव का योग ग्रंथकार स्वयं श्लो. 371 में दर्शाने वाले हैं।
श्लोकार्थ- ~~अप~~ अपुनर्बंधक को अध्यात्म-भावना रूप योग व्यवहार से तात्त्विक होता है और निश्चय से सम्यग्दृष्टि को ये दोनों योग तात्त्विक होते हैं।

सकृदावर्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः।
प्रत्यपायफलप्रायस्तथाद्वेषादिमात्रतः ॥370॥

सकृदावर्त आदि जीवों को प्रत्यपाय के फल वाला तथा मात्र द्वेष से अतात्त्विक योग कहा गया है।

एक बार ही जो जीव उत्कृष्ट स्थिति का बंध करने वाले हैं, उन्हें सकृदावर्त कहते हैं। आदि शब्द से द्विर्बंधक वगैरह जीव लेना। ऐसे जीवों को ये अध्यात्म और भावना रूप योग अतात्त्विक कहा गया है। तथा यह योग

12 Friday
AUGUST

Week 32 225-141

प्रायः अनर्थ रूप फल वाला होता है और मात्र बाह्य वेष, चेष्टा आदि से ही इन्हें यह योग होता है किंतु अंदर कुछ श्रद्धा नहीं होती।

चारित्रिणस्तु विज्ञेयः शुद्ध्यपेक्षो यथोत्तरम्।
ध्यानादिरूपो नियमात् तथा तात्त्विक एव तु ॥३७१॥

चारित्री को शुद्धि की अपेक्षा वाला क्रमशः ध्यान-समता और वृत्तिसंक्षय योग अवश्य होता है तथा तात्त्विक ही होता है।

अव. श्लो. 32 (Pg. 35 पर) में सानुबंध और निरनुबंध योग ~~का~~ बताए थे। उनकी अभिव्यक्ति के लिए कहते हैं—

अस्त्येव त्वनपायस्य सानुबन्धस्तथा स्मृतः।
यथोदितक्रमेणैव सापायस्य तथापरः ॥३७२॥

अपाय रहित इन्हीं जीवों को उक्त क्रम से ही सानुबंध योग कहा गया है तथा अपाय सहित इन्हीं जीवों का दूसरा निरनुबंध योग कहा गया है।

अपुनर्बंधक आदि जिस जीव को जो-जो योग ऊपर श्लो. 369 से 371 में कहे गए हैं, वह-वह योग उन्हीं जीवों को सानुबंध भी हो सकता है और निरनुबंध भी हो सकता है। यदि वह जीव अपाय रहित है तो उसे अनुबंध सहित योग होता है और यदि वह जीव अपाय सहित है तो उसे अनुबंध रहित योग ~~होता~~ होता है। (स्पष्टता श्लो. 374 के अंत में)

अव. अपाय क्या है? —

अपायमाहुः कर्मैव निरपायाः पुरातनम्।
पापाशयकरं चित्रं निरुपक्रमसंज्ञकम् ॥३७३॥

निरपाय ऐसे तीर्थंकरादि आशय को पापमय करने वाले, पूर्व में किए हुए, निरुपक्रम संज्ञा वाले विचित्र कर्म को

SEPTEMBER 2016
M T W T F S S
35 1 2 3 4
36 5 6 7 8 9 10 11
37 12 13 14 15 16 17 18
38 19 20 21 22 23 24 25
39 26 27 28 29 30
2016

ही अपाय कहते हैं।

जिनके सभी अपाय दूर हो गए हैं, ऐसे तीर्थंकर आदि पूर्व में किए हुए कर्म को ही अपाय कहते हैं। कैसे कर्म को? जो कर्म मोक्षमार्ग के प्रतिकूल चित्तवृत्ति के कारण हैं अर्थात् जीव के आशय को पापमय करने वाले हैं और जिस कर्म विशिष्ट अनुष्ठान से भी उपक्रम नहीं त्यागता अर्थात् जो कर्म फल दिए बिना नहीं छूटेगा, ऐसे कर्म को अपाय कहते हैं।

अब. अपाय विषयक ही परमत बताते हैं- (* यही बात परमत में भी कही गई है-)

कण्टकज्वरमोहैस्तु समो विघ्नः प्रकीर्तितः।
मोक्षमार्गप्रवृत्तानामत एवापरैरपि ॥३५५॥

इस कारण से ही अन्यों द्वारा भी मोक्षमार्ग में प्रवृत्त जीवों के विघ्न कंटक - ज्वर - मोह समान कहे गए हैं।

यह अपाय निरनुबंध योग का हेतु है, ~~इसलिए~~ और योग अनुबंध रहित होने से जीव को मोक्ष में पहुँचने में अधिक समय लगता है। इस कारण से ही अन्य योगियों द्वारा भी मोक्षमार्ग में प्रवृत्त जीवों के जघन्य विघ्न कंटक समान, मध्यम विघ्न ज्वर समान और उत्कृष्ट विघ्न मोह समान कहे गए हैं। जैसे पाटलिपुत्रादि इकट्ठे जाने वाले पथिकों को काँटे, ज्वर और दिशामोह से पहुँचने में क्रमशः थोड़ा, बहुत और बहुत अधिक काल लगता है; वैसे ही मोक्षमार्ग में निकले हुए योगियों को भी कर्म से तीन प्रकार का अंतराय होता है।

अतः जो जीव जितना अधिक निकाचित कर्मों से युक्त है, उसे उतना अधिक निरनुबंध योग होने से मोक्षप्राप्ति

2016
AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31

14 Sunday
AUGUST
Week 32 · 227-139

में उतना अधिक विघ्न होता है।

अव. श्लो. 32 में सास्रव - अनास्रव भेद कहे थे। अब उनकी योजना करते हुए कहते हैं -

अस्यैव सास्रवः प्रोक्तो बहुजन्मान्तरावहः।
पूर्वव्यावर्णितन्यायादेकजन्मा त्वनास्रवः॥378॥

इस सापाय योगी को ही पूर्व में कहे गए न्याय से बहुत जन्मान्तर को लाने वाला सास्रव योग कहा गया है। मात्र एक जन्म वाले ~~भी~~ योगी को अनास्रव योग कहा गया है।

जो जीव सापाय है अर्थात् जिसके बहुत निकाचित कर्म हैं, उस जीव को ही सास्रव योग होता है क्योंकि निकाचित कर्म शेष होने से तथा उनका फल अवश्य ~~भोग~~ वेदन करना होने से उसे बहुत जन्म ~~क~~ लेना पड़ेंगे। जबकि जिस योगी का मात्र एक वर्तमान भव ही शेष है, उसे अनास्रव योग होता है।

आस्रवो बन्धहेतुत्वाद् बन्ध एवेह पन्मतः।
स साम्परायिको मुख्यस्तदेषोऽर्थोऽस्य सङ्गतः॥376॥

बंध का हेतु होने से आस्रव यहाँ बंध ही माना गया है। साम्परायिक आस्रव ही मुख्य है। अतः यह अर्थ इस ~~जीव~~ आस्रव को संगत है।

→ एष अर्थ = सांपरायिक आस्रव।
→ अस्य = आस्रव को।

यह आस्रव बंध का हेतु है क्योंकि आस्रव होता है तो बंध होता है। अतः कारण में कार्य के उपचार से आस्रव को ही बंध माना गया है।

SEPTEMBER 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
35				1	2	3	4
36	5	6	7	8	9	10	11
37	12	13	14	15	16	17	18
38	19	20	21	22	23	24	25
39	26	27	28	29	30	-	-

2016

आस्रव के दो भेद हैं - सांपरायिक और ईर्यापथिक। सांपरायिक

आस्रव कषाय से होता है तथा 10वें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानक तक होता है। यही मुख्य आस्रव है, क्योंकि यही संसारवृद्धि का मुख्य कारण है। मात्र एक समय की स्थिति वाले साता-वेदनीय कर्म के आस्रव को ईर्यापथिक आस्रव कहते हैं, यह 11वें से 13वें गुणस्थानक तक होता है।

★ इसलिए यह ऊपर श्लो. 375 में कहा गया अर्थ इस जीव को संगत है अर्थात् सापाय जीव को सास्रव और अनपाय जीव को अनास्रव योग होता है, यह अर्थ संगत है।
यहाँ 'एष अर्थ' का अर्थ 'श्लो. 375 में कहा गया अर्थ' लेना और 'अस्य' का अर्थ 'जीव को' समझना।

★ टीकाकार ने 'मुख्य' का अर्थ 'अनुपचरित' किया है किंतु वह ठीक नहीं लगता क्योंकि सांपरायिक और ईर्यापथिक दोनों आस्रव अनुपचरित ही है, दोनों में कर्म का आस्रव वास्तविक है। अतः यहाँ 'सांपरायिक' को 'मुख्य' कहने का आशय यह है कि सांपरायिक आस्रव ही प्रधान है क्योंकि वही संसार वृद्धि का कारण है।

एवं चरमदेहस्य सम्परायवियोगतः।
इत्वरास्रवभावेऽपि स तथानास्रवो मतः॥377॥

इस प्रकार चरम देह वाले जीव को संपराय का वियोग होने से इत्वर आस्रव होने पर भी वह अनास्रव योग माना गया है।

इस प्रकार सांपरायिक आस्रव ही मुख्य होने से अंतिम देह वाले जीव को ~~संपरा~~ संपराय यानी कषाय का वियोग होने से सांपरायिक ऐसे प्रधान आस्रव का वियोग हो जाता है। सांपरायिक आस्रव का वियोग होने पर 2 समय की स्थिति वाले वेदनीय कर्म का ईर्यापथिक आस्रव होने पर भी उसे अनास्रव योग माना गया है।

16 Tuesday
AUGUST

Week 33 229-137

अर्थात् 11-12-13वें गुणस्थानक में यह अनास्रव योग होता है।

अत. ईर्यापथिक आस्रव होते हुए भी अनास्रव योग कैसे कहा? —

निश्चयेनात्र शब्दार्थः सर्वत्र व्यवहारतः।
निश्चयव्यवहारौ च द्वावप्यभिमतार्थदौ॥378॥

निश्चय से उपलक्षित ऐसे व्यवहार नय से ही यहाँ (योगग्रंथ में) सभी जगह शब्दार्थ समझना चाहिए क्योंकि निश्चय-व्यवहार दोनों ही अभिमत अर्थ को देने वाले हैं।

यहाँ योग ग्रंथ में सभी जगह शब्द का अर्थ निश्चय से उपलक्षित व्यवहार नय से यानी निश्चयमिश्रित व्यवहार नय से जानना। क्योंकि निश्चय-व्यवहार दोनों ही अभिमत अर्थ वाले हैं। दोनों में से एक को भी नहीं छोड़ सकते।
निश्चय नय अयोगी केवली को ही अनास्रव होता है। व्यवहार नय तो 10वें गुणस्थानक से पहले भी उपचार से अनास्रव योग मान सकता है। अतः यहाँ सयोगी केवली आदि में भी अनास्रव योग निश्चयमिश्रित व्यवहार नय से कहा है क्योंकि वे अत्यंत नजदीक समीप वाले काल में ही अयोगी बनने वाले हैं।

अत. श्लो. 357 से यहाँ श्लो. 378 तक श्लो. 31-32 में कही हुई बातों का अनुसंधान किया। अब उपसंहार करते हुए कहते हैं —

संक्षेपात्सफलो योग इति सन्दर्शितो ह्ययम्।
आद्यन्तौ तु पुनः स्पष्टं ब्रूमोऽस्यैव विशेषतः॥379॥

इस प्रकार यहाँ फल सहित योग संक्षेप से दिखाया। इसी योग के प्रथम और अंतिम भेद को विशेष से पुनः स्पष्टता पूर्वक ~~कहेंगे~~ कहेंगे।

SEPTEMBER 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
35				1	2	3	4
36	5	6	7	8	9	10	11
37	12	13	14	15	16	17	18
38	19	20	21	22	23	24	25
39	26	27	28	29	30	-	-

अब प्रथम 'अध्यात्म' योग को ही विशेष से कहते हैं — (अ इस योग का विस्तार श्लो. 404 तक होगा)

2016

तत्त्वचिन्तनमध्यात्ममौचित्यादियुतस्य तु।
उक्तं विचित्रमेतच्च तथावस्थादिभेदतः ॥380॥

औचित्यादि से युक्त जीव का तत्त्वचिंतन अध्यात्म कहा गया है और यह उस प्रकार की अवस्था आदि के भेद से विचित्र होता है।

आदिकर्मकमाश्रित्य जपो ह्यध्यात्ममुच्यते।
देवतानुग्रहाङ्गत्वादतोऽयमभिधीयते ॥381॥

प्रथम कर्मक के आश्रय से जाप ही अध्यात्म कहा जाता है क्योंकि वह देवता के अनुग्रह का अंग है। इसलिए यह जाप ही यहाँ कहा जाता है।

जो आदि धार्मिक जीव हैं अर्थात् धर्म ~~मार्ग~~ में नए ही जुड़े हैं, उनके लिए जाप ही प्रथम अनुष्ठान है। यह जाप भी अध्यात्म कहा जाता है क्योंकि यह देवता के अनुग्रह का कारण है।

जपः तन्मन्त्रविषयः स चोक्तो देवतास्तवः।
दृष्टः पापापहारोऽस्माद् विषापहरणं यथा ॥382॥

जाप सत् मन्त्र विषयक होता है। वह मंत्र देव का ~~ह~~ स्तव कहा गया है। इस मंत्र से ~~ज~~ जैसे विष दूर होता है, वैसे पाप का दूर होना भी देखा गया है।

जाप किसी शुभ/प्रशस्त विशिष्ट मंत्र का ~~ज~~ किया जाता है। वह मंत्र ऋषभादि किसी देव की स्तुति रूप होता है। प्रणव (ॐ), नमो आदि शब्दों से शुरू होकर स्वाहा तक मंत्र होता है। जैसे जांगुली या गारुडी वगैरह मंत्रों से सर्पादि का विष दूर होता है, वैसे इन विशिष्ट मंत्रो के जाप से मिथ्यात्वादि पाप दूर होते हैं।

18 Thursday
AUGUST

Week 33 231-135

अब. जाप कहाँ करना चाहिए—

देवतापुरतो वापि जन्ये वाऽकलुषात्मनि।
विशिष्टद्रुमकुञ्जे वा कर्तव्योऽयं सतां मतः॥३४३॥

सज्जनों ने यह जाप देव के सामने, अथवा अकलुष स्वभाव वाले जल के समीप अथवा विशिष्ट वृक्षों के कुंज में करने योग्य माना है।

→ अकलुषात्मनि जन्ये = स्वच्छ जल के पास।
→ विशिष्टद्रुमकुञ्ज = बहुत पत्र-पुष्प-फल युक्त वनस्पति/वृक्षों के समूह में।

अब. जाप कैसे करना चाहिए?—

पर्वोपलक्षितो यद्वा पुत्रंजीवकमालया।
नासाग्रस्थितया दृष्ट्या प्रशान्तेनान्तरात्मना॥३४५॥

पर्व से उपलक्षित अथवा पुत्रंजीवक की माला से नासाग्र पर स्थित दृष्टि से प्रशांत अन्तरात्मा (मन) द्वारा यह जाप करना चाहिए।

→ पर्वोपलक्षित = हाथ की उंगली के पर्व की प्रदक्षिणा रूप चिह्न से।
→ पुत्रंजीवकमाला = रुद्राक्ष नामक वनस्पति के फल की माला।

अब. जाप में और क्या करना चाहिए? वह कहते हैं—

विधाने चेतसो वृत्तिस्तद्वर्णेषु तथेष्यते।
अर्थे चात्मबले चैव त्यागश्चोपप्लवे सति॥३४६॥

विधान में, उसके वर्णों में, अर्थ में और आलंबन में चित्त की वृत्ति इष्ट है तथा उपप्लव होने पर जाप का त्याग इष्ट है।

SEPTEMBER 2016

→ विधान = जाप का विषय-मंत्र।

→ तद्वर्ण = मंत्र के अक्षरों में।
→ अर्थ = मंत्र के अर्थ। अभिधेय में।
→ आलंबन = सामने जो प्रतिमा वगैरह आलंबन रखा हो, उसमें।
→ उपप्लव = मन दुर्ध्यानि में जाने पर।

मन की वृत्ति मंत्र में, मंत्र के अक्षरों में, मंत्र के अर्थ में और जो सामने प्रतिमा वगैरह आलंबन रखा हो, उसमें ही रखना चाहिए। जब मन दुर्ध्यानि में जाए अथवा स्थिर न हो, तब जाप का त्याग कर देना चाहिए।

अब. उपप्लव होने पर जाप के त्याग का फल कहते हैं-

मिथ्याचारपरित्यागः आश्वासान्तत्र वर्तनम्।
तच्छुद्धिकामता चेति त्यागोऽत्यागोऽयमीदृशः॥३८६॥

जाप के त्याग से मिथ्या आचार का परित्याग होता है, आश्वासन से उस जाप में वर्तन होता है और उसकी शुद्धि की कामता होती है। अतः इस प्रकार का त्याग अत्याग ही है।

जब मन उपप्लव अवस्था में ~~हो~~ होता है, तब इन्द्रिय के विकारादि ~~से~~ मन में उत्पन्न होते हैं। उस समय यदि जाप करे तो जीव उन मन के विकारों को बाहर दिखाता नहीं है अर्थात् मन के प्रणिधान से बाहर से प्रशान्त होने का आकार करता है। यह मिथ्याचार है क्योंकि अंदर मन में तो विकार होते हैं और बाहर से प्रशांतता का ढोंग करता है। उपप्लव अवस्था में जाप का त्याग करने से इस मिथ्याचार का भी त्याग हो जाता है अर्थात् ढोंग भी बंद हो जाता है।
(यहाँ दो पाठ हैं- 'अन्तरानिरुद्धेन्द्रियादिविकार' = अंदर निरुद्ध नहीं किए गए इन्द्रियादि के विकार। 'अन्तरनिरुद्धे-
2016 -न्द्रियादिविकार' = अंदर निरुद्ध कर दिए गए इन्द्रियादि के विकार। पहले पाठ का भावार्थ है- अंदर में तो विकार है,

AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31

20 Saturday
AUGUST
Week 33 233-133

उनका निरोध नहीं किया है किंतु बाहर से प्रशांत आकार करना। दूसरे पाठ का भावार्थ- अंदर मन में विकार तो है किंतु उनका अंदर ही निरोध कर दिया है अर्थात् अंदर विकार तो है किंतु बाहर से प्रशांत आकार करना। इस प्रकार दोनों पाठों का भावार्थ एक ही है।)

आश्वासन यानी रक्षा का परिणाम। 'यह मंत्र मेरी रक्षा करेगा' ऐसे परिणाम से उस जाप में प्रवृत्ति होती है अर्थात् जब जाप करते हैं, तब मंत्र रक्षा करता है। जब मन उपप्लव अवस्था में हो तब भी जाप करने पर मंत्र रक्षा नहीं करता। अतः मन उपप्लव अवस्था में होने पर भी जाप करते रहने से यह सिद्ध होता है कि जाप करने वाला रक्षा के परिणाम की उपेक्षा करके ही जाप में प्रवृत्त हुआ है। अतः जाप का त्याग करने से रक्षा के परिणाम से जाप में वृत्ति होती है।

मन उपप्लव अवस्था में होने पर जाप का त्याग करने से यह भी सिद्ध होता है कि योगी को जाप की शुद्धि की इच्छा है अर्थात् वह जाप शुद्ध करने की इच्छा वाला है।

अतः जाप का त्याग करने के तीन कारण हुए ① मिथ्याचार का त्याग ② रक्षापरिणाम से वृत्ति ③ जाप की शुद्धि की इच्छा। इन तीन कारणों से किया गया त्याग वस्तुतः त्याग नहीं है क्योंकि वह रक्षापरिणाम और शुद्धि की इच्छा से किया गया है। अतः यह त्याग भविष्य में शुभ फल ही देने वाला है।

अब अब जाप के काल का प्रमाण कहते हैं:-

यथाप्रतिज्ञमस्येह कालमानं प्रकीर्तितम्।
अतो ह्यकरणेऽप्यत्र भाववृत्तिं विदुर्बुधाः॥ 387॥

यहाँ इस जाप का प्रतिज्ञानुसार काल प्रमाण कहा गया है। इसलिए बुधपुरुष जाप न करने पर भी भाव से जाप में ही वृत्ति कहते हैं।

इस जाप का काल प्रमाण प्रतिज्ञानुसार अर्थात् जितनी प्रतिज्ञा/अभिग्रह लिया हो, उससे अधिक भी नहीं और न्यून भी नहीं ऐसा काल कहा गया है। इस प्रतिज्ञा से अन्य काल में जाप न करने पर भी बुध पुरुष मन की वृत्ति को भाव से जाप में ही कहते हैं।

अव. प्र. जाप न करने पर भी अन्य काल में जाप में ही वृत्ति कैसे रहती है? उ.–

मुनीन्द्रैः शस्यते तेन यत्नतोऽभिग्रहः शुभः।
सदाऽतो भावतो धर्मः क्रियाकाले क्रियोद्भवः॥३८८॥

इसलिए ही मुनीन्द्रों द्वारा सदा शुभ अभिग्रह की यत्न से प्रशंसा की जाती है क्योंकि अभिग्रह से भाव से धर्म होता और क्रियाकाल में क्रिया से उत्पन्न धर्म होता है।

जब अभिग्रह लेकर कोई क्रिया करते हैं, तब उस क्रिया करते समय क्रिया से धर्म होता है तथा जब वह वह क्रिया नहीं करते, तब भी भाव से वह धर्म चालू ही रहता है क्योंकि अभिग्रह से परिणाम की शुद्धि होती रहती है। इसीलिए मुनि सदा यत्नपूर्वक शुभ अभिग्रह की प्रशंसा करते हैं।
इसी प्रकार उपर्युक्त कारणों से जाप का त्याग कर देने पर भी प्रतिज्ञा से भाव से जाप चालू ही रहता है।

अव. अध्यात्म विषयक मतान्तर कहते हैं–

स्वौचित्यालोचनं सम्यक् ततो धर्मप्रवर्तनम्।
आत्मसम्प्रेक्षणं चैव तदेतदपरे जगुः॥३८९॥

सम्यक् प्रकार से स्वयं के औचित्य की विचारणा, फिर धर्म में प्रवर्तन और आत्मसंप्रेक्षण, अन्य शास्त्रकार

2016
AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31 - - - -

22 Monday
AUGUST
Week 34 235-131

अध्यात्म को ~~ऐसे~~ यह तीन प्रकार से कहते हैं।

→ स्वौचित्यालोचन = स्वयं की योग्यता विचारना।

अब. 'स्वौचित्य आलोचन' कहते हैं—

योगेभ्यो जनवादात्च लिङ्गेभ्योऽथ यथागमम्।
स्वौचित्यालोचनं प्राहुर्योगमार्गकृताश्रमाः ॥३७०॥

योगमार्ग में जिन्होंने श्रम किया है ऐसे योगी योगों से, जनवाद से और लिंगों से आगमानुसार स्व औचित्य का आलोचन कहते हैं।

अब. इन योगादि तीन प्रकार को कहते हैं—

योगाः कायादिकर्माणि जनवादस्तु तत्कथा।
शकुनादीनि लिङ्गानि स्वौचित्यालोचनास्पदम् ॥३७१॥

काया आदि का व्यापार योग है, धर्मीकी कथा जनवाद है, सुकन वगैरह लिंग हैं। ये स्व औचित्य की विचारणा के स्थान हैं।

प्रशस्त गमन - शुभ भाषण - निरवद्य चिन्तन आदि काय-वचन-मन के व्यापारों से स्वयं की योग्यता की विचारणा करना चाहिए। जनवाद यानी लोकप्रवाद। प्रस्तुत धर्म, धर्म के अधिकारी आदि विषयक जो वृत्तान्त लोगों में प्रचलित हो, उससे भी स्वयं की योग्यता की विचारणा करना चाहिए। सुकन - उपश्रुति - ~~शेष~~ और शेष निमित्तों की गवेषणा करना चाहिए अर्थात् स्वयं कोई विशिष्ट अनुष्ठान करने जा रहे हो, तब सुकन वगैरह और अनुष्ठान में सहायक शेष निमित्तों की भी गवेषणा करना चाहिए।

2016

अब. इस प्रकार स्वयं की योग्यता विचार कर फिर धर्म में प्रवर्तन

करना चाहिए। अब धर्मप्रवर्तन को कहते हैं-

एकान्तफलवद् ज्ञेयमतो धर्मप्रवर्तनम्।
अत्यन्तं भावसारत्वात् तत्रैव प्रतिबन्धतः॥392॥

स्व औचित्य आलोचन के बाद होने से धर्मप्रवर्तन एकांत से फल देने वाला जानना चाहिए क्योंकि अत्यंत भाव प्रधान होने से उसी धर्म में आसक्ति होती है।

स्वयं की योग्यता की विचारणा से धर्म में आसक्ति होती है। धर्म में आसक्ति भाव की अत्यंत प्रधानता होती है, इससे एकांत से यानि अवश्य फल देने वाला धर्म-प्रवर्तन होता है।

अब. यहीं विशेष कहते हैं- (धर्म प्रवर्तन के पहले औचित्य क्यों आवश्यक है? -)

तद्भङ्गादिभयोपेतस्तत्सिद्धौ चोत्सुको दृढम्।
यो धीमानिति सन्न्यायात् स यदौचित्यमीक्षते॥393॥

जो बुद्धिमान् उस योग के भंग आदि के भय से युक्त है और उसकी सिद्धि में अत्यंत उत्सुक है, वह औचित्य की ~~इच्छा~~ को देखता है।

यह धर्मप्रवर्तन एकांत से फलवान् है; ~~क्योंकि~~ क्योंकि यह औचित्य पूर्वक होता है। जो साधक बुद्धिमान् है अर्थात् कार्य के परिणाम को सोचकर प्रवृत्ति करने वाला है, उस अनुष्ठान के भंग - अतिचार के भय से युक्त है और उस योग की सिद्धि में अत्यंत उत्सुक है, वह सदा औचित्य की अपेक्षा रखता है।

अब ~~अब~~, श्लो. 389 (Pg. 235) में बताए हुए स्वऔचित्य-आलोचन और धर्मप्रवर्तन द्वार पूर्ण हुए। अब आत्मसंप्रेक्षण

AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31

हार कहते हैं—

आत्मसम्प्रेक्षणं चैव ज्ञेयमारब्धकर्मणि।
पापकर्मोदयादत्र भयं तदुपशान्तये॥394॥

इस अनुष्ठान में पापकर्म के उदय से भंगादि का भय होता है। उस भय की शान्ति के लिए आरंभ किए गए अनुष्ठान में आत्मसंप्रेक्षण जानना चाहिए।

आत्मसंप्रेक्षण यानि 'क्या किया? क्या कर्तव्य शेष है?' इत्यादि रूप विचारणा से आत्मा को निहालना।

अब. आत्मसंप्रेक्षण का स्वरूप कहते हैं—

विस्रोतोगमने न्याय्यं भयादौ शरणादिवत्।
गुर्वाद्याश्रयणं सम्यक् ततः स्याद् दुरितक्षयः॥395॥

जैसे भयादि में शरणादि में जाते हैं, वैसे ही विस्रोत गमन होने पर गुरु आदि का सम्यक् प्रकार से आश्रय करना न्याय्य (युक्त) है। उससे दुरित का क्षय होता है।

जैसे भय-रोग-विष का विकार आदि उपस्थित होने पर क्रमशः ~~क्षम-क्ष~~ दुर्ग-चिकित्सा-मंत्र आदि की शरण में जाते हैं, वैसे विस्रोत यानि उन्मार्ग में चित्त की प्रवृत्ति होने पर सम्यक् रूप से गुरु-देव-साधर्मिकादि उन्मार्ग के निग्रह हेतुओं का आश्रय लेना चाहिए। उससे उन्मार्ग गमन के हेतु ऐसे कर्मों का नाश होता है क्योंकि यह गुर्वादि का आश्रय अचिन्त्य शक्ति से युक्त है।

अब. श्लो. 389 (पृ.235) से यह अध्यात्म विषयक मतान्तर दर्शा रहे थे, वह मतान्तर पूर्ण हुआ। यह सब अध्यात्म ही है, ऐसा बताते हुए कहते हैं—

सर्वमेवेदमध्यात्मं कुशलाशयभावतः।
औचित्यायत्र निपतात्यलक्षणं पत्पुरोदितम् ॥396॥

यह सब अध्यात्म ही है क्योंकि इसमें कुशल आशय है और पूर्व में कहे हुए 'औचित्यादि' लक्षण अवश्य इसमें है।

यह सब अर्थात् श्लो. 389 (Pg. 235) में कहा हुआ मतांतर और श्लो. 390 से 395 तक उस मतांतर का विवेचन अध्यात्म ही है। क्योंकि इस मतांतर में भी प्रशस्त चित्त का सद्भाव है और हमने पूर्व में श्लो. 358 (Pg. 229) में जो अध्यात्म का 'औचित्यादि' लक्षण कहा था, वह ~~सब~~ पूरा लक्षण इस मतांतर में भी अवश्य घटता है।

★ टीकाकार ने 'औचित्याद् यत्र' ऐसा संधिविग्रह किया है। इसमें अर्थ बराबर नहीं बैठता है इसलिए ऊपर 'औचित्यादि अत्र' ऐसा संधिविग्रह कर अर्थ लिखा है। 'औचित्यादि' पद 'लक्षणं' का विशेषण है और 'अत्र' का अर्थ 'इस मतांतर में' है।

अब. पुनः अध्यात्मविषयक अन्य मतांतर कहते हैं-

देवादिवन्दनं सम्यक् प्रतिक्रमणमेव च।
मैत्र्यादिचिन्तनं चैतत् सत्त्वादिष्वपरे विदुः ॥397॥

सम्यक् प्रकार से देवादि का वंदन, प्रतिक्रमण और सत्त्वादि विषयक मैत्री आदि भावना का चिन्तन ही अध्यात्म है, ऐसा अन्य कहते हैं।

अब. दो श्लोक से देवादि के वंदन को कहते हैं-

स्थानकालक्रमोपेतं शब्दार्थानुगतं तथा।
अन्याऽसंमोहजनकं श्रद्धासंवेगसूचकम् ॥398॥

स्थान ~~और~~, काल ~~के~~ और क्रम से युक्त, शब्द और अर्थ का अनुसरण

2016

करने वाला, अन्य को असंमोह करने वाला तथा श्रद्धा और संवेग का ~~सूचक~~ सूचन करने वाला देवादिवंदन है, ऐसा श्लो. 399 से संबंध है।

→ स्थानकालक्रमोपेत = स्थान यानि चैत्यवंदन के योग्य शरीर की मुद्रा। ~~और~~ काल यानि तीन संध्या आदि। क्रम यानि प्रणिपात-दंडक आदि विधि। इन तीनों युक्त देववंदन करना चाहिए।
→ शब्दार्थानुगत = देववंदन के सूत्र और अर्थ में उपयोग होना चाहिए।
→ अन्याऽसंमोहजनक = योग्य स्वर/आवाज़ की प्रधानता होने से देववंदनादि में प्रवृत्त अन्य लोगों को संमोह न हो।

प्रोल्लसद्भावरोमाञ्चं वर्धमानशुभाशयम्।
अवनामादिसंशुद्धमिष्टं देवादिवन्दनम्॥ 399॥

भावों का रोमाञ्च प्रकृष्ट रीति से उल्लास वाला, शुभ आशय जिसमें बढ़ते हो और अवनाम आदि से संशुद्ध ऐसा देवादि का वंदन इष्ट है।

→ प्रोल्लसद्भावरोमांच = भावों का रोमांच अर्थात् अकृत्रिम पुलक जिसमें उल्लसित होते हो, ऐसा देवादि वंदन इष्ट है।
→ अवनामादिसंशुद्ध = अवनाम, यथाजात आदि वंदन में उपयोगी क्रिया विशेषों से संशुद्ध, अनवद्य देवादिवंदन इष्ट है।

अब. श्लो. 397 में कहा गया 'देवादिवंदन' का वर्णन पूर्ण हुआ। अब 'प्रतिक्रमण' कहते हैं -

प्रतिक्रमणमप्येवं सति दोषे प्रमादतः।
तृतीयौषधकल्पत्वाद् द्विसन्ध्यमथवाऽसति॥ 400॥

इस प्रकार प्रमाद से दोष होने पर ~~अवश्य~~ प्रतिक्रमण भी करना चाहिए अथवा दोष न होने पर भी तीसरे औषध

SEPTEMBER 2016
W M T W T F S S
35 1 2 3 4
36 5 6 7 8 9 10 11
37 12 13 14 15 16 17 18
38 19 20 21 22 23 24 25
39 26 27 28 29 30
2016

समान होने से दो संध्या में करना चाहिए।

इस प्रकार अर्थात् जैसे देववंदन में स्थान काल आदि के दो श्लोकों में कहे गए विशेषणों से युक्त इष्ट है, वैसे ही प्रतिक्रमण भी अनाभोग आदि प्रमाद से दोष होने पर इष्ट है।
यदि दोष न हो तो भी तीसरे औषध समान होने से दो संध्या तो प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। पहली औषध व्याधि होने पर उसे नष्ट करता है, व्याधि न होने पर नई व्याधि उत्पन्न करती है। दूसरी औषध व्याधि को दूर करती है किंतु व्याधि न होने पर कोई लाभ या हानि नहीं करती। तीसरी औषध व्याधि को नष्ट करती है और व्याधि न होने पर रसायन रूप से परिणमन करती है। यह प्रतिक्रमण तीसरे औषध समान है।

अब. प्रतिक्रमण का विषय कहते हैं—

निषिद्धासेवनादि यद् विषयोऽस्य प्रकीर्तितः।
तदेतद् भावसंशुद्धेः कारणं परमं मतम् ॥५०॥

जो निषिद्ध-आसेवनादि हैं, वे इस प्रतिक्रमण के विषय कहे गए हैं। इसलिए यह प्रतिक्रमण भावसंशुद्धि का परम कारण माना गया है।

~~प्रतिषेध~~ प्रतिषिद्ध आचरण करने में, कृत्य/करने योग्य आचरणों को न करने पर, अश्रद्धा करने पर और विपरीत प्ररूपणा करने पर प्रतिक्रमण करना चाहिए (वंदित्तु-४८-४९)। ये सब प्रतिक्रमण के विषय हैं। इसलिए यह प्रतिक्रमण भावों की संशुद्धि का अर्थात् अंतःकरण की निर्मलता का प्रकृष्ट कारण माना गया है।

2016

28 Sunday
AUGUST
Week 34 241-125

अब. श्लो. 397 (Pg. 239) में कहा गया प्रतिक्रमण द्वार पूर्ण हुआ।
अब मैत्री आदि भावना को विस्तार से कहते हैं –

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यपरिचिन्तनम् ।
सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽप्रज्ञाप्यगोचरम् ॥५०२॥

सत्त्व-गुणाधिक-क्लिश्यमान-अप्रज्ञाप्य जीवों विषयक क्रमशः मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्य का परिचिंतन होता है।

सभी जीव विषयक मैत्री भावना, प्रमोद भावना स्वयं से अधिक गुण वाले जीव विषयक, कारुण्य भावना शारीर-मानसिक दुःख के उपनिपात से बाधा वाले जीव विषयक और माध्यस्थ्य भावना समझाने के लिए अयोग्य रागी-द्वेषी जीव विषयक होती है।

अब. यह तत्त्व चिन्तन विशेष रूप से किसे होता है? –

विवेकिनो विशेषेण भवत्येतद् यथागमम् ।
तथा गम्भीरचित्तस्य सम्यग् मार्गानुसारिणः ॥५०३॥

गंभीर चित्त वाले, सम्यग् मार्ग के अनुसारी ऐसे विवेकी जीव को यह मैत्री आदि भावना का चिन्तन आगमानुसार विशेष रूप से होता है।

→ विवेकी = जिसने परमार्थ का विचार प्राप्त कर लिया है।
→ गंभीरचित्त = जिसे हर्ष-विषाद आदि के विकारों से कुछ फर्क नहीं पड़ता।
→ मार्गानुसारी = मोक्ष मार्ग में रहा हुआ।

गंभीर चित्त वाले और सम्यग् रीति से मार्ग का अनुसरण करने वाले ऐसे विवेकी जीव (सम्यग्दृष्टि) को यह मैत्री आदि भावना का चिंतन आगम में बताए अनुसार विशिष्ट वृत्ति से होता है क्योंकि इन चार भावना से बाहर उस जीव की चित्तवृत्ति प्रायः नहीं होती।

अब. इस प्रकार श्लो. 397 (Pg. 239 पर) में बताये गये अध्यात्म विषयक मतांतर का वर्णन पूर्ण हुआ। इस प्रकार श्लो. 380 (Pg. 231 पर) से चालू 'अध्यात्म' योग का विशेष वर्णन पूर्ण हुआ। इस अध्यात्म योग के वर्णन का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

एवं विचित्रमध्यात्ममेतदन्वर्थयोगतः।
आत्मन्यधीतिसंवृत्तेर्ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः॥५०५॥

इस प्रकार अध्यात्म चिन्तकों द्वारा यह विचित्र अध्यात्म व्युत्पत्ति अर्थ के योग से जानने योग्य है क्योंकि 'आत्मनि अधि' इस प्रकार सम्यग् वृत्ति है अर्थात् ऐसी व्युत्पत्ति घटित होती है।

अब. 'अध्यात्म' योग का विशेष वर्णन पूर्णकर अब ~~वृत्तिसंक्षय~~ श्लो. 379 (Pg. 230 पर) में कहे अनुसार अंतिम 'वृत्तिसंक्षय' योग का वर्णन करते हैं—

भावनाद्ित्रयाभ्यास् वर्णितो वृत्तिसंक्षयः।
स चात्मकर्मसंयोगयोग्यतापगमोऽर्थतः॥५०५॥

भावना, ध्यान और समता इन तीन योग के अभ्यास से वृत्तिसंक्षय का वर्णन किया गया है। और वह ~~अभ्यास~~ अर्थ से आत्मा-कर्म के संयोग की योग्यता का वृत्तिसंक्षय अपगम है। (स्पष्टता श्लो. 506 में)

अब. इसी बात की विचारणा करते हैं—

स्थूलसूक्ष्मा यतश्चेष्टा आत्मनो वृत्तयो मताः।
अन्यसंयोगजाश्चैता योग्यतांबीजमस्य तु॥५०६॥

स्थूल और सूक्ष्म चेष्टाएँ आत्मा की #वृत्तियाँ मानी गई हैं। ये वृत्तियाँ अन्यसंयोग से उत्पन्न होती हैं और इस आत्मा-कर्म संयोग की योग्यता का बीज है।

2016 गमन-आगमनादि स्थूल और उच्छ्वास-निःश्वासादि सूक्ष्म चेष्टाएँ / जीवप्रदेश के परिस्पंद आत्मा की वृत्ति

AUGUST 2016
W M T W T F S S
31 1 2 3 4 5 6 7
32 8 9 10 11 12 13 14
33 15 16 17 18 19 20 21
34 22 23 24 25 26 27 28
35 29 30 31

यानी व्यापार हैं। ये व्यापार कर्म के संयोग से होते हैं। इसलिए ये चेष्टाएँ ही इस संयोग की योग्यता का बीज हैं।

★ यहाँ मूल में 'योग्यताबीज' पद को 'योग्यता बीज' ऐसा अलग समझना चाहिए ~~ना~~। श्लोकार्थ → सूक्ष्म और स्थूल चेष्टाएँ आत्मा की वृत्तियाँ हैं। ये वृत्तियाँ कर्म के संयोग से उत्पन्न हुई हैं और इस संयोग का बीज आत्मा में रही कर्मसंयोग की योग्यता है। इस योग्यता का अपगम ही वृत्तिसंक्षय है (इस प्रकार श्लो. ५०९ के साथ संबंध है)। योग्यता के अपगम से संयोग का अपगम और संयोग के अपगम से वृत्ति का क्षय होगा। इसलिए श्लो. ५०९ में कहा कि वृत्तिसंक्षय अर्थ से योग्यता का अपगम ही है।

★ यदि 'योग्यता बीज' पद को साथ में ही रखें तो 'अन्य संयोग का योग्यताबीज ये वृत्ति हैं' ऐसा अर्थ करना पड़ेगा। यह अर्थ संगत नहीं है क्योंकि एक ओर वृत्ति को संयोगज कहा और दूसरी ओर संयोग का बीज वृत्ति को कहा।

अब, ~~यदि~~ योग्यता को संयोग का कारण न मानने पर होने वाली आपत्ति —

तदभावेऽपि तद्भावो युक्तो नातिप्रसङ्गतः।
मुख्येषा भवमातेति तदस्याः अयमुत्तमः ॥५०७॥

योग्यता के अभाव में भी संयोग का भाव मानना अतिव्याप्ति से योग्य नहीं है। यह योग्यता ही भवमाता है, इसलिए इस योग्यता से यह उत्तम संयोग होता है।

यदि आत्मा को योग्यता के बिना ही कर्मसंयोग मानोगे तो अतिव्याप्ति होगी। वह अतिव्याप्ति श्लो. 166 (Pg. 113 पर) में बता चुके हैं। अतः अतिव्याप्ति से योग्यता के अभाव में भी संयोग मानना योग्य नहीं है। अतः कर्मबंध

का कारण होने से यह योग्यता ही संसार की मुख्य माता है अर्थात् संसार का मुख्य कारण है। और इस योग्यता से ही यह कर्मसंयोग उत्तम पानी अनुपचरित होता है।

अव. यह योग्यता ही संसार का मुख्य कारण है, यह बात दृष्टांत से बताते हैं—

पल्लवाद्यपुनर्भावो न स्कन्धापगमे तरोः।
स्यान्मूलापगमे तद्वद् भवतरोरपि ॥५०८॥

जैसे वृक्ष के स्कंध का अपगम करने पर पल्लवादि का अपुनर्भाव नहीं होता किंतु मूल का अपगम करने पर होता है, वैसे संसार वृक्ष के भी (मूल का अपगम करने पर वृत्तियों का अभाव होता है)।

वृक्ष के स्कंध/धड़ को काट देने पर उसके पत्र-पुत्र पुष्प-फल आदि पुनः नहीं उगेंगे, ऐसा नहीं है क्योंकि मूल के नष्ट नहीं होने से स्कंध मूल से पुनः उगेगा और स्कंध पर पुष्प-पत्रादि भी उगेंगे। यदि वृक्ष का मूल ही नष्ट कर देंगे तो फिर निश्चित रूप से उसके पत्र-पुष्पादि पुनः नहीं होंगे। इसी तरह नारक-तिर्यंचादि पर्यायों का उच्छेद करने पर भी संसार रूपी वृक्ष का उच्छेद नहीं होगा क्योंकि उसके मूल समान विकारों का उच्छेद नहीं हुआ है। अतः विकारों से नारकादि पर्याय तो पुनः प्रगट हो जाएगी।

अव. इस दृष्टांत का उपनय बताने द्वारा दार्ष्टान्तिक दर्शाते हैं—

मूलं च योग्यता ह्यस्य विज्ञेयोदितलक्षणा।
पल्लवा वृत्तयश्चित्रा ह्यन्त तत्त्वमिदं परम् ॥५०९॥

इस संसार रूपी वृक्ष का मूल कहे गए लक्षण वाली योग्यता जानना और पत्र अनेक प्रकार की वृत्तियाँ

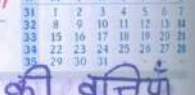

है। यह श्रेष्ठ तत्त्व है।

संसार रूपी वृक्ष का मूल यह कर्मसंयोग की योग्यता है। इस योग्यता का स्वरूप पहले ~~कहा~~ कहा जा चुका है (श्लो. 164 Pg. 111 पर और श्लो. 169 Pg. 115 पर)। आत्मा की जो विचित्र वृत्तियाँ हैं, वे संसार रूपी वृक्ष के पल्लवस्थानीय हैं। अतः इस योग्यता के नाश से ही संसार का नाश होगा।

अत. ऐसा होने से जो सिद्ध होता है, उसे कहते हैं – (★ इस योग्यता के नाश का उपाय कहते हैं –)

उपायोपगमे चास्या एतदाक्षिप्त एव हि।
तत्त्वतोऽधिकृत इयोग उत्साहादिस्तथास्य तु ॥५०॥

इस योग्यता का उपाय स्वीकारने पर तत्त्व से इस योग्यता से ही आक्षिप्त अधिकृत योग और इस योग के ही उत्साहादि हैं। ही उपाय हैं।

यदि इस योग्यता के उपाय की बात करें तो इस तथाभव्यत्व रूप योग्यता से ही आक्षिप्त अर्थात् तथाभव्यत्व के परिपाक से ही प्रगट होने वाला प्रस्तुत अध्यात्मादि योग और इस योग के उत्साहादि ही इस योग्यता के उपाय हैं। अर्थात् तथाभव्यत्व के परिपाक से ही जीव चरमावर्त में प्रवेश करता है और तथाभव्यत्व के परिपाक से ही अपुनर्बंधकादि अवस्था को प्राप्त कर जीव इस योग को प्रगट करता है।

★ यहाँ योग को इस योग्यता से ही आक्षिप्त कहा है, वह 'योग्यता' रूप सामान्य से कहा है। किंतु वास्तव में तो जिस योग्यता का नाश करना है और जिस योग्यता से योग आक्षिप्त होता है, ये दोनों योग्यता अलग हैं। नाश की जाने वाली योग्यता कर्मसंयोग की योग्यता है और योग को आकर्षित

2 Friday
SEPTEMBER

Week 35 246-120

करने वाली योग्यता तथाभव्यत्व रूप योग्यता है।
* अथवा दोनों योग्यता एक भी हो सकती है। कर्मसंयोग की योग्यता ही सहज मल है (श्लो. 164) और यह सहज मल कुछ न्यून। अल्प होने पर ही योग प्रगट होता है (श्लो. 152, 163)। अतः दोनों योग्यता को सहज मल रूप ले सकते हैं। (किंतु यह अर्थ टीकाकार के अर्थ से भिन्न हो जाएगा क्योंकि टीकाकार ने तथाभव्यत्व रूप योग्यता से योग का आक्षेप कहा है।)

अत. इस के उत्साह आदि को कहते हैं—

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात् संतोषात्तत्त्वदर्शनात्।
मुनेर्जनपदत्यागात् बाह्मियोगः प्रसिद्ध्यति ॥५१॥

उत्साह से, निश्चय से, धैर्य से, संतोष से, तत्त्वदर्शन से और मुनि के जनपदत्याग से; इन छहों से योग सिद्ध होता है।

→ उत्साह = वीर्य के उल्लास से।
→ निश्चय = कर्तव्य में एकाग्र परिणाम से।
→ धैर्य = संकट आने पर भी प्रतिज्ञा से चलित न होने से।
→ संतोष = आत्मा में रमणता से।
→ तत्त्वदर्शन = 'योग ही यहाँ परमार्थ है' इस प्रकार बार-बार विचारने से।
→ जनपदत्याग = संसार के गतानुगतिक लोक व्यवहार के त्याग से।

अत. योग के निश्चय का उपाय कहते हैं—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥५२॥

आगम से, अनुमान से और ध्यानाभ्यास के रस से, इन तीन प्रकारों से प्रज्ञा का व्यापार करता योगी उत्तम योग को प्राप्त करता है।

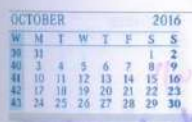

2016

योगविषयक आगम, तथा उपपत्ति-अन्यथा अनुपपत्ति रूप अनुमान और ध्यान का अभ्यास यानी पुनः पुनः अनुशीलन के रस से, इन तीन प्रकारों से बुद्धि का व्यापार करने वाला योगी उत्तम योग का निश्चय करता है।

★ यहाँ 'ध्यान का अभ्यास' न कहकर 'ध्यानाभ्यास का रस' कहा है।

अव. योग का निश्चय कैसा होता है?—

आत्मा कर्माणि तद्योगः सहेतुरुभयात्मकः।
फलं द्विधा वियोगश्च सर्वं तत्तत्स्वभावतः॥५१३॥

आत्मा है कर्म हैं, आत्मा-कर्म संयोग सहेतुक है, उस फल दो प्रकार के हैं और उनका वियोग है। यह सर्व उस-उसके स्वभाव से होता है।

आत्मा यानि जीव है। जीव से अतिरिक्त कर्म हैं। सभी काल में ~~सोने~~ ~~सत्व~~ अग्नि और लोहपिंड की तरह होने वाला कर्म और जीव का संयोग मिथ्यात्वादि हेतुओं से होता है। उस संयोग के दो प्रकार के फल हैं— शुभ और अशुभ। उन दोनों का वियोग भी होता है।
यह सब आत्मादि वस्तु उन-उन आत्मादि द्रव्यों के स्वभाव से ही होता है। स्वभाव न होने पर वंध्यापुत्रादि की तरह किसी भी वस्तु की परिणति नहीं होती है।

अव. ऐसा होने पर जो होता है, वह कहते हैं— (★ स्वभाव को न मानने पर आपत्ति बता रहे हैं—)

अस्मिन् पुरुषकारोऽपि सत्येव सफलो भवेत्।
अन्यथा न्यायवैगुण्याद् भवन्नपि न शस्यते॥५१४॥

2016

यह स्वभाव होने पर ही पुरुषार्थ भी सफल होता है। अन्यथा

4 Sunday
SEPTEMBER
Week 35 248-118

~~[illegible]~~ न्याय (युक्ति) की विपरीतता से होता हुआ पुरुषार्थ भी प्रशंसापात्र नहीं होता।

यह स्वभाव होने पर ही पुरुषार्थ से कार्य सफल होता है। जैसे- मूँग में पकने का स्वभाव होने पर ही उसे पकाने का ~~स्वभाव~~ पुरुषार्थ सफल होता है। अन्यथा यदि स्वभाव न हो तो ~~भी~~ किया गया पुरुषार्थ भी निष्फल हो जाता है। जैसे- जिस मूँग में पकने का स्वभाव नहीं है, उसे पकाने का पुरुषार्थ निष्फल ही होता है।

अतोऽकरणनियमात् तत्तद्वस्तुगतात्तथा।
वृत्तयोऽस्मिन्निरुध्यन्ते तास्तास्तद्बीजसम्भवाः ॥५१७॥

इस स्वभाव से ही उस-उस वस्तु में रहे हुए अकरण नियम से यह पुरुषार्थ होने पर उस~~का (योग्यता रूप)~~ बीज से उत्पन्न उन-उन वृत्तियों का निरोध होता है।

→ अतः = इस स्वभाव से।
→ अकरणनियम = एकांत से वह विवक्षित पाप नहीं करना।
→ अस्मिन् = यह पुरुषार्थ होने पर।

~~इस~~ स्वभाव ~~से~~ ही होने पर ही पुरुषार्थ से कार्य सफल होता है, ऐसा श्लो. ५१५ में कहा। ~~मूल~~ ~~विषय~~ श्लो. ५०९ से वृत्तियों के क्षय करने का विषय चल रहा था। प्रस्तुत श्लो. ५१५ की बात को मूल विषय के साथ यहाँ जोड़ते हैं-

जीव में वृत्तियों का निरोध करने का स्वभाव होता है। ऐसा स्वभाव होने से जीव यदि पुरुषार्थ करता है तो उसकी वृत्तियों का निरोध होता है। जीव उस-उस वस्तु में रहे हुए अकरण-नियम से उन-उन वृत्तियों का

OCTOBER 2016
M T W T F S S
39 31 1 2
40 3 4 5 6 7 8 9
41 10 11 12 13 14 15 16
42 17 18 19 20 21 22 23
43 24 25 26 27 28 29 30
2016

निरोध करता है अर्थात् —
जैसे जीव की नरकगमन रूप वृत्ति है, वह वृत्ति नरकगमन के हेतु महारंभ आदि से उत्पन्न हुई है। जीव इन महारंभ आदि पापों को एकांत से नहीं करेगा तो जीव नरक में नहीं जाएगा। इस प्रकार जीव की ~~नरकगमन~~ महारंभादि से उत्पन्न नरकगमन रूप वृत्ति का ~~इस~~ नरकगमन ~~रूप वस्तु~~ के महारंभादि हेतु विषयक अकरण नियम से निरोध हुआ। जीव ने महारंभादि हेतु के विषय में (वस्तुगत) अकरण का नियम लिया (अकरणनियम), इससे (अकरणनियमात्) वृत्ति का निरोध हुआ।
ऐसे जीव जिस वृत्ति का निरोध करना चाहता है, उस वृत्ति के बीज (कारण) विषयक अकरणनियम से उस वृत्ति का निरोध कर सकता है।
इसीलिए श्लोक में कहा – जीव का वैसा स्वभाव होने से ही उस-उस वस्तु विषयक अकरणनियम से उस (वस्तुरूप) बीज से उत्पन्न उन-उन वृत्तियों का निरोध होता है।

अब. इसी बात को ग्रंथकार दृष्टांत से कहते हैं —

ग्रान्थिभेदे यथैवायं बन्धहेतुं परं प्रति।
नरकादिगतिष्वेवं ज्ञेयस्तद्धेतुगोचरः ॥५।६॥

जैसे ग्रंथिभेद होने पर उत्कृष्ट बंधहेतु के प्रति यह अकरणनियम है, वैसे नरकादिगतियों के विषय में भी उन (गतियों) के हेतु विषयक अकरणनियम जानना चाहिए।

ग्रंथिभेद होने पर ७०को.को.सा. प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबंध कभी नहीं होता। अतः इस बंध के जो हेतु हैं, उनका अकरणनियम हो गया है। वैसे ही नरकादि गति का भी उच्छेद करना हो तो उनके हेतु का ~~अन~~ अकरणनियम करना चाहिए।

6 Tuesday
SEPTEMBER

Week 36 250-116

अब. किसी ~~वस्तु~~ वृत्ति को रोकने के लिए उसके हेतु का अकरण-नियम आवश्यक नहीं मानने पर होने वाली आपत्ति –

अन्यथाऽऽत्यन्तिको मृत्युर्भूयस्तत्राऽगतिस्तथा।
न युज्यते हि सन्न्यायादित्यादि समयोदितम् ॥५॥

अन्यथा (अकरणनियम को आवश्यक न मानने पर) आत्यन्तिक मृत्यु तथा उसमें पुनः अगति इत्यादि शास्त्र में कहा हुआ युक्ति से घटित नहीं होगा।

यदि अकरणनियम का स्वीकार नहीं करेंगे तो शास्त्र में जो आत्यन्तिक मृत्यु और वहाँ पुनः अगति इत्यादि बातें कही गई हैं, वे युक्ति से घटित नहीं होंगी। शास्त्र में कहा गया है कि जीव नरक में नहीं जाएगा, उसे नरक की आत्यन्तिक मृत्यु कहते हैं। ये बात युक्ति से नहीं घटेगी। अतः अकरणनियम को मानना आवश्यक है।

★ टीकाकार ने 'आत्यन्तिक मृत्यु' का अर्थ नरकादि की अपेक्षा से किया है किंतु उसे 'निर्वाण' अर्थ में ले सकते हैं और 'तत्र' का अर्थ भी 'संसार में' कर सकते हैं। श्लोकार्थ → अकरणनियम न मानने पर शास्त्र में कहा हुआ निर्वाण, पुनः संसार में न आना इत्यादि युक्ति से घटित नहीं होगी।

अब. इस अकरणनियम का हेतु कहते हैं –

हेतुमस्य परं भावं सत्त्वापायानिवर्तनम्।
प्रधानकरुणारूपं ध्रुवते सूक्ष्मदर्शिनः ॥६॥

सूक्ष्मदर्शी सत्त्वादि के पाप का निवर्तन करने वाले प्रधानकरुणा रूप उत्कृष्ट भाव को इस अकरणनियम का हेतु कहते हैं।

OCTOBER 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
39	31					1	2
40	3	4	5	6	7	8	9
41	10	11	12	13	14	15	16
42	17	18	19	20	21	22	23
43	24	25	26	27	28	29	30

दूसरे जीवों के दुःख को दूर करने की भावना को करुणा कहते हैं। ~~यह करुणा~~ यदि यह करुणा सम्यग्ज्ञान के से

2016

युक्त होती है तो यह प्रधानकरुणा होती है। इस करुणा से शत्रु-मित्र और उदासीन, सभी जीवों के पापों का नाश होता है। जैसे- भगवान् की करुणा से चंडकौशिक सर्प का क्लिष्ट परिणाम रूप पाप नष्ट हो गया था। यह करुणा ही इस अकरणनियम का हेतु है।

अब. इस अकरणनियम विषयक मतांतर कहते हैं-

तमाधिरेष एवान्यैः सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते।
सम्यक् प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा॥५।१॥

अन्य दर्शनियों द्वारा यह अकरणनियम ही संप्रज्ञात समाधि कहा जाता है क्योंकि इसमें सम्यक्प्रकार से प्रकृष्ट रूप से वृत्त्यर्थ का ज्ञान होता है।

→ प्रकर्षरूप = सवितर्क निश्चय रूप ज्ञान।
→ वृत्त्यर्थज्ञान = नर-नारकादि आत्मा की पर्यायों और द्वीप-समुद्र आदि अर्थों का ज्ञान होने से।

अन्य दर्शनियों द्वारा अकरणनियम ही संप्रज्ञात समाधि कहा जाता है क्योंकि इस अवस्था में जीव को आत्मा की पर्याय रूप वृत्ति और द्वीप-समुद्रादि अर्थों का सविकल्प निश्चय रूप सम्यग्ज्ञान होता है। इसलिए व्युत्पत्ति-अर्थ सिद्ध होने से इसे संप्रज्ञात समाधि कहते हैं।

★ 'संप्रज्ञात समाधि' प्रायः योगदर्शन अथवा बौद्ध दर्शन की संज्ञा है। यह ग्रंथः जैनदर्शनानुसार अप्रमत्त गुणस्थान और उससे ऊपर क्षीणमोह (12वें) गुणस्थान तक की निर्विकल्प अवस्था है।

2016 अब. इस समाधि का फल कहते हैं-

SEPTEMBER 2016
W M T W T F S S
35 1 2 3 4
36 5 6 7 8 9 10 11
37 12 13 14 15 16 17 18
38 19 20 21 22 23 24 25
39 26 27 28 29 30

8 Thursday
SEPTEMBER

Week 36 252-114

एवमासाद्य चरमं जन्माऽजन्मत्वकारणम् ।
श्रेणिमाप्य ततः क्षिप्रं केवलं लभते क्रमात् ॥५२०॥

इस प्रकार (~~इस~~ इस संप्रज्ञात समाधि से युक्त) जीव अजन्मत्व के कारण रूप अंतिम जन्म को प्राप्तकर श्रेणि प्राप्तकर जल्दी से क्रमशः केवलज्ञान-दर्शन को प्राप्त करता है।

अव. (★ यहाँ मतांतर कहते हैं-)

असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः ।
निरुद्धाशेषवृत्त्यादितत्स्वरूपानुवेधतः ॥५२१॥

अन्य दर्शनियों द्वारा यह भी असंप्रज्ञात समाधि कही जाती है; क्योंकि इसमें सभी वृत्ति आदि का निरोध हो जाता है और आत्मा (तत्) के स्वरूप का ऐक्य (अनुवेध) होता जाता है।

अन्य दर्शनियों द्वारा यह केवलज्ञान की अवस्था ही असंप्रज्ञात समाधि कही जाती है क्योंकि इसमें सभी वृत्ति, वृत्तियों के बीज आदि का निरोध हो जाता है और आत्मा उसके स्वरूप में लीन हो जाता है, ~~चर्चा~~ आत्मा का उसके स्वरूप में ऐक्य हो जाता है। इस अवस्था में मानसिक ज्ञान न होने से (विकल्पात्मक ज्ञान न होने से) इसे असंप्रज्ञात समाधि कही जाती है।

असंप्रज्ञात समाधि दो प्रकार से होती है-
(1) सयोगी केवली के काल में- विकल्प ज्ञान रूप मनोवृत्ति के निरोध से।
(2) अयोगी केवली के काल में- सभी योगों के निरोध से।

अव. यहीं अन्य वक्तव्यता कहते हैं- (★ भिन्न-भिन्न दर्शनों में प्रसिद्ध समाधिविशेष के नाम कहते हैं-)

OCTOBER 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
39	31					1	2
40	3	4	5	6	7	8	9
41	10	11	12	13	14	15	16
42	17	18	19	20	21	22	23
43	24	25	26	27	28	29	30

धर्ममेघोऽमृतात्मा च भवशत्रुः शिवोदयः ।
सत्त्वानन्दः परश्चेति योज्योऽत्रैवार्थयोगतः ॥५२२॥ 2016

धर्ममेघ, अमृत आत्मा, भवशत्रु, शिवोदय, सत्त्वानंद और पर,

इस प्रकार अर्थ घटित होने से ये समाधिविशेष भी यहीं (असंप्रज्ञात समाधि में) समझना।

अव. सर्वसमाधि का फल कहते हैं—

मण्डूकभस्मन्यायेन वृत्तिबीजं महामुनिः।
योग्यतापगमाद् दग्ध्वा ततः कल्याणमश्नुते ॥५२३॥

महामुनि योग्यता के अपगम से वृत्तिबीज को मंडूकभस्म न्याय से जलाकर कल्याण को प्राप्त करते हैं।

अनिवृत्तिबादर आदि गुणस्थानक में रहे हुए क्षपक श्रेणि वाले महामुनि आत्मा में से कर्मसंबंध की योग्यता को अत्यंत दूरकर शरीर-मन आदि की चेष्टा के निमित्त रूप वृत्ति के बीज को मेंढक के शरीर की राख बनाने के दृष्टांत से शुक्लध्यान रूपी अग्नि द्वारा जलाकर निर्वाण रूप कल्याण को प्राप्त करते हैं।

अव. इस योग्यतापगम में भी तथाभव्यत्व ही हेतु है, ऐसा कहते हैं—

यथोदितायाः सामग्र्यास्तत्तत्स्वाभाव्यनियोगतः।
योग्यतापगमोऽप्येवं सम्यग्ज्ञेयो महात्मभिः ॥५२४॥

इस प्रकार महात्माओं द्वारा कही हुई सामग्री से योग्यता का अपगम भी उस स्वभावता के नियोग से ही सम्यक् प्रकार से जान ज्ञात होना चाहिए।

जैसे उस-उस बंध का अपगम तथाभव्यत्व से होता है, वैसे ही बंध की योग्यता का अपगम भी जानना।

अव. इस प्रकार योग सिद्ध होने पर जो होता है, वह कहते हैं—

साक्षादतीन्द्रियानर्थान् दृष्ट्वा केवलचक्षुषा।
अधिकारवशात् कश्चिद् देशनायां प्रवर्तते ॥५२५॥

2016

अतीन्द्रिय अर्थों को केवलज्ञान रूपी चक्षु से साक्षात् देखकर

10 Saturday
SEPTEMBER
Week 36 254-112

कोई तीर्थंकर प्रायोग्य जीव अधिकार के वश से देशना में प्रवर्तता है।

अब. वह जीव कैसा होता है? —

प्रकृष्टपुण्यसामर्थ्यात् प्रातिहार्यसमन्वितः।
अवन्ध्यदेशनः श्रीमान् यथाभव्यं नियोगतः॥५२६॥

~~की~~ प्रकृष्ट पुण्य के ~~साम्थ~~ सामर्थ्य से प्रातिहार्य से युक्त, श्रीमान् वह जीव भव्य जीवों के अनुसार अवश्य अवंध्य देशना वाला होता है।

तीर्थंकर नामकर्म रूप प्रकृष्ट पुण्य के सामर्थ्य से वह जीव अशोक वृक्षादि प्रातिहार्य से युक्त होता है तथा सबसे अतिशय ऐसी ज्ञान लक्ष्मी वाला, दिन के प्रथम और अंतिम प्रहर में अवश्य देशना देने वाला, भव्य जीवों के अनुसार अवंध्य देशना वाला अर्थात् सम्यक्त्व आदि का कारण होता है।

अब. यहाँ अन्य दर्शनों के मत कहते हैं—

केचित्तु योगिनोऽप्येतदित्थं नेच्छन्ति केवलम्।
अन्ये तु मुक्त्यवस्थायां सहकारिवियोगतः॥५२७॥

कुछ योगी भी इस प्रकार यह केवलज्ञान नहीं स्वीकारते हैं। अन्य कुछ योगी को सहकारिकारण के वियोग से मुक्ति-अवस्था में केवलज्ञान नहीं मानते हैं।

यहाँ दो दर्शनों के मत बताएँ हैं—

(1) मीमांसा दर्शन- जैमिनि ऋषि के अनुयायी ये दर्शनवाले योगी जीव को भी अतीन्द्रिय अर्थ विषयक केवलज्ञान होने की बात नहीं मानते हैं। इनके मत में कोई भी पुरुष कभी भी सर्वज्ञ नहीं होता। इसलिए ये वेद को प्रमाण मानते हैं और अपौरुषेय मानते हैं। इनका मत है- अतीन्द्रिय

अर्थों का साक्षात् द्रष्टा विद्यमान नहीं है। नित्य वचन से अतीन्द्रिय अर्थों को जो जानता है वह जानता है।

(2) सांख्य दर्शन – इस दर्शन के अनुयायी मुक्ति-अवस्था में केवलज्ञान नहीं स्वीकारते किंतु संसारी अवस्था में स्वीकारते हैं अर्थात् योग के प्रभाव से जीव को केवलज्ञान होता है, फिर वह देशनादि द्वारा शेष कर्मों को नष्ट कर मुक्ति पाता है, तब उसके सब गुण नष्ट हो जाते हैं, निर्गुण हो जाता है। अतः उसका केवलज्ञान भी नष्ट हो जाता है क्योंकि इनके मत में ज्ञान के लिए ~~सह~~ सहकारि कारण के रूप में मन ~~की~~ आवश्यक है और मुक्ति अवस्था में प्रकृति का वियोग होने से मन रूप सहकारी कारण का भी वियोग हो जाता है।
ये दोनों मत किस तरह व्यर्थ हैं, वह हम आगे कहेंगे।

चैतन्यमात्मनो रूपं न च तज्ज्ञानतः पृथक्।
मुक्तितो युज्यतेऽन्ये तु ततः केवलमाश्रिताः॥428॥

चैतन्य आत्मा का स्वरूप है। वह मुक्ति से ज्ञान से भिन्न धरित नहीं होगा। इसलिए अन्य तो केवलज्ञान को स्वीकारते हैं।

चैतन्य आत्मा का स्वरूप है और वह चैतन्य ज्ञान से भिन्न नहीं है, ज्ञान ही है। इसलिए अन्य दर्शनी केवलज्ञान को स्वीकारते हैं। संसार अवस्था और मुक्त अवस्था में भी केवलज्ञान होता है।

★ यहाँ 'अन्ये' पद से टीकाकार ने मात्र 'जैन' लिया है किंतु 'अन्ये' पद से मीमांसा और सांख्य से अन्य प्रायः सभी दर्शन ले सकते हैं। तात्पर्य यह है कि ग्रंथकार मीमांसा और सांख्य दर्शन को उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि आपके अलावा प्रायः सभी दर्शन (वेदांत आदि) सर्वज्ञ और केवलज्ञान को स्वीकारते हैं क्योंकि

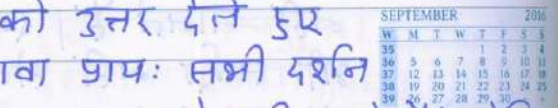

12 Monday
SEPTEMBER
Week 37 256-110

ज्ञान आत्मा का स्वरूप है और स्वरूप मुक्तावस्था में भी द्रव्य से पृथक् नहीं होता।

अब. इस प्रकार केवलज्ञान स्वीकारने का फल कहते हैं –

अस्मादतीन्द्रियज्ञप्तिस्ततः सद्देशनागमः।
नान्यथा छिन्नमूलत्वादेतदन्यत्र दर्शितम् ॥५२७॥

इस केवलज्ञान से अतीन्द्रिय अर्थों का ज्ञान, उससे सत् देशना, उससे आगम होता है। अन्यथा छिन्नमूल होने से आगम नहीं होता। यह अन्यत्र दिखाया गया है।

इस केवलज्ञान से अतीन्द्रिय अर्थों का ज्ञान होता है। उस ज्ञान से ही सत् यानी कष-ताप-छेद से शुद्ध देशना प्रवर्तती है। उस देशना से अंग-उपांग आदि आगमों का प्रवर्तन होता है।

प्र. ~~यदि~~ देशना बिना ही आगम मानने में क्या आपत्ति है?

उ. यदि सर्वज्ञ की देशना बिना ही आगम स्वीकारे जाएँ तो वे आगम आगम नहीं रहेंगे क्योंकि उनका मूल केवलज्ञान ही नहीं बचा। केवलज्ञान से साक्षात् सभी अर्थों को देखकर जो आगम बनता है, वही प्रमाण है। जैसे जन्मांध पुरुषों की बहुत लंबी परंपरा भी हाथी के आकार का सत्य निर्णय नहीं कर सकती, वैसे ही आगम भी छद्मस्थों की परंपरा से सत्य नहीं हो सकते। उनके मूल में सर्वज्ञ होना आवश्यक है। आगम सर्वज्ञ बिना नहीं हो सकते, यह बात शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि ग्रंथों में भी विस्तार पूर्वक कही गई है।

★ 'सर्वज्ञप्रणेतृकं आगमोऽप्यवगीदर्शिपरम्पराप्रज्ञापनापन्नो न सत्यरूपतां प्रतिपद्यते' = सर्वज्ञ प्रणीत आगम भी छद्मस्थों की परंपरा द्वारा प्रज्ञापना को प्राप्त होता हुआ सत्यरूप नहीं होता है। इस पंक्ति का भावार्थ ऊपर विवेचन में थोड़ा बदल दिया है क्योंकि वहाँ वैसा अनुसंधान लग रहा था।

OCTOBER 2016
W M T W T F S S
39 31 1 2
40 3 4 5 6 7 8 9
41 10 11 12 13 14 15 16
42 17 18 19 20 21 22 23
43 24 25 26 27 28 29 30
2016

तथा चेहात्मनो ज्ञत्वे संविदस्योपपद्यते।
एषा चानुभवात्सिद्धा प्रतिप्राण्येव देहिनाम्॥५३०॥

इस प्रकार इस आत्मा का ज्ञस्वभाव होने पर इसे संवित् (ज्ञान) घटित होता है और यह ज्ञान जीवों में प्रत्येक प्राणी को स्वयं के अनुभव से सिद्ध है।

इस प्रकार इस आत्मा का ज्ञस्वभाव / ज्ञानस्वभाव / चित्स्वभाव होने पर इसे ज्ञान होता है, ऐसा घटित होगा। अन्यथा यदि इस आत्मा का ज्ञानस्वभाव नहीं मानो तो ~~ज्ञप~~ जैसे अंध पुरुष हाथ में रहे हुए दीपक से भी कुछ नहीं जानता है, वैसे यह आत्मा भी कुछ नहीं जानेगा। अतः आत्मा का ज्ञानस्वभाव मानना आवश्यक है (ज्ञान और आत्मा को कथंचित् एकरूप मानना आवश्यक है)।
यह ज्ञान सभी जीवों को अनुभव से सिद्ध ही है इसलिए आत्मा की ज्ञस्वभावता अवश्य स्वीकारना पड़ेगी।

अब. यह ज्ञानस्वभाव कैसा है? वह कहते हैं-

अग्नेरुष्णात्वकल्पं तज्ज्ञानमस्य व्यवस्थितम्।
प्रतिबन्धकसामर्थ्यान्न स्वकार्ये प्रवर्तते॥५३१॥

इस आत्मा का ~~वह~~ ज्ञान अग्नि की उष्णत्व के समान रहा हुआ वह ज्ञान प्रतिबंधक के सामर्थ्य से स्वकार्य में प्रवृत्त नहीं होता है।

जैसे ~~अ~~ उष्णत्व अग्नि का स्वभाव है, वैसे यह ज्ञान भी आत्मा का स्वभाव है। कर्म रूप प्रतिबंधक से वह ज्ञान सर्व अर्थ के परिच्छेद रूप स्वकार्य में प्रवृत्त नहीं होता है।

2016 अब. इस प्रतिबंधक को ही व्यतिरेक से सिद्ध करते हैं-

SEPTEMBER 2016
W M T W T F S S
35 1 2 3 4
36 5 6 7 8 9 10 11
37 12 13 14 15 16 17 18
38 19 20 21 22 23 24 25
39 26 27 28 29 30

14 Wednesday
SEPTEMBER

Week 37 258-108

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यात् कथमप्रतिबन्धकः॥४३२॥

ज्ञाता प्रतिबंधक न होने पर ज्ञेय के विषय में कैसे अज्ञ होता? प्रतिबंधक रहित अग्नि दाह्य के विषय में कैसे दाहक नहीं होता?

जिस अग्नि को मंत्रादि से स्तम्भित नहीं किया हो, वह अग्नि तृणादि दाह्य वस्तु को नहीं जलाए, ऐसा कभी नहीं होता अर्थात् ऐसी अग्नि दाह्य वस्तु की दाहक अवश्य बनती है। इसी प्रकार कर्म रूप प्रतिबंधक न होने पर ज्ञाता अज्ञ रहे, ऐसा नहीं होता अर्थात् ऐसा ज्ञाता ज्ञेय को अवश्य जानता है। किंतु वर्तमान में संसारी जीव संपूर्ण ज्ञान रहित दिख रहे हैं, अतः उस ज्ञान का कर्मादि रूप प्रतिबंधक मानना आवश्यक है।

अब पूर्वपक्ष - ~~आप~~ आपके दृष्टांत - दार्ष्टान्तिक में साम्य ~~नहीं है~~ से ≠ आपको कर्म रूप प्रतिबंधक मानने की आवश्यकता नहीं है ^ क्योंकि ~~अ~~ प्रतिबंधक रहित अग्नि सभी दाह्य की दाहक नहीं होती किंतु मात्र समीप में रहे हुए दाह्य की ही दाहक होती है; उसी प्रकार सभी ज्ञान भी चक्षुज्ञान की तरह समीपस्थ विषयों को ही जानेंगे। यहाँ देश से दूर होना, देशविप्रकर्ष ही प्रतिबंधक है। अतः ऐसा प्रतिबंधक होने से आपको (1) कर्म मानने की आवश्यकता नहीं है और सभी विषय कभी भी ज्ञान के समीप नहीं आते होने से (2) सर्वज्ञ मानने की आवश्यकता भी नहीं है। (दो आपत्ति है)
इस शंका का परिहार करते हुए कहते हैं -

न देशविप्रकर्षोऽस्य पुज्यते प्रतिबन्धकः।
तथानुभवसिद्धत्वादग्नेरिव सुनीतितः॥४३३॥

इस ज्ञान को अग्नि की तरह देशविप्रकर्ष प्रतिबंधक नहीं है क्योंकि यह उस प्रकार के अनुभव से सिद्ध है।

OCTOBER 2016
W M T W T F S S
39 31 1 2
40 3 4 5 6 7 8 9
41 10 11 12 13 14 15 16
42 17 18 19 20 21 22 23
43 24 25 26 27 28 29 30
2016

मेरु आदि के ज्ञान में देशविप्रकर्ष प्रतिबंधक नहीं है, यह अनुभव से सिद्ध है। अतः यह सिद्ध होता है कि जैसे देश-विप्रकर्ष अग्नि का प्रतिबंधक है, वैसे वह ज्ञान का प्रतिबंधक नहीं है।

अव. पू. इन दृष्टांत-दार्ष्टान्तिक में ऐसा साम्य नहीं है तो फिर दृष्टांत-दार्ष्टान्तिक भाव कैसे है? —

अंशतस्त्वेष दृष्टान्तो धर्ममात्रत्वदर्शकः।
अदाह्याऽदहनाद्येवमत एव न बाधकम् ॥५३५॥

यह दृष्टांत अंश से ही है और धर्ममात्र का दर्शक है। इसलिए ही अदाह्य का अदहनादि बाधक नहीं है।

यह अग्नि के दाहकत्व स्वभाव का दृष्टांत अंश से ही है और मात्र धर्म का दर्शक है अर्थात् जैसे अग्नि का दाहकत्व स्वभाव है, वैसे ही ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, इस प्रकार मात्र धर्म को बताने वाला है। इसलिए ही अग्नि से अदाह्य वस्तु दहन नहीं होता, विप्रकृष्ट वस्तु का दहन नहीं होता इत्यादि ~~रूप~~ ~~अग्नि~~ वस्तु केवलज्ञान के सर्वार्थविषयत्व की सिद्धि में बाधक नहीं है।

अव. प्रस्तुत सर्वज्ञत्व को ही भावित ~~कर~~ करते हैं:-

सर्वत्र सर्वसामान्यज्ञानाज्ज्ञेयत्वसिद्धितः।
तस्याखिलविशेषेषु तदेतन्न्यायसङ्गतम् ॥५३६॥

सभी विषयों में सर्वसामान्य ज्ञान से ज्ञेयत्व की सिद्धि होने से उस आत्मा को सभी विशेषों में यह केवलज्ञान न्यायसंगत है।

सर्व सामान्य यानी सभी विषयों में रहा हुआ 'सत्त्व' रूप महासामान्य। इस महासामान्य के ज्ञान से सभी पदार्थों में ज्ञेयत्व की सिद्धि होती है अर्थात् सभी पदार्थ ज्ञेय हैं,

16 Friday
SEPTEMBER

Week 37 260-106

ऐसा सिद्ध होता है।
छद्मस्थ व्यक्ति को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप से विशिष्ट ~~ऐसे~~ किसी एक घटादि अर्थ का ज्ञान होने पर भी अन्य सभी पदार्थों का 'सत्' रूप में परिज्ञान घटित होता ही है। इस प्रकार सर्वसामान्य ज्ञान से सभी पदार्थ ज्ञेय सिद्ध होने पर उस योगी आत्मा को प्रतिबंधक का अभाव होने पर सभी विशेषों में यह केवलज्ञान होना युक्तिपुक्त ही है।
इसमें युक्ति/अनुमान इस प्रकार है- जो जो अर्थ सामान्यज्ञान का विषय है, वह किसी को अवश्य प्रत्यक्ष होता है। जैसे- धूम से अनुमित किया जाता अग्नि। और सभी भाव सामान्य ज्ञान के विषय हैं, अतः वे किसी को प्रत्यक्ष होते हैं। जिसे प्रत्यक्ष होते हैं, वही सर्वज्ञ है।

* ~~इस श्लोक में सर्वत्र और अखिलविशेषेषु पदों को विशेषण-विशेष्य रूप में ले सकते हैं। श्लोकार्थ- उस योगी को सभी वि~~

सामान्यवद्विशेषाणां स्वभावो ज्ञेयभावतः।
ज्ञायते स च साक्षात्त्वाद् विना विज्ञायते कथम् ॥५३६॥

सामान्य की तरह विशेषों का स्वभाव भी ज्ञेय होने से जाना जाता है। और वह स्वभाव ही साक्षात् हुए बिना कैसे जाना जाएगा?

सामान्य की तरह ही विशेषों का स्वभाव भी ज्ञेय होने से ही उस केवलज्ञान में जाना जाता है और वह भी साक्षात् ही जाना जाता है। साक्षात् हुए बिना वह नहीं जाना जा सकता।

* श्लो.५३५ में 'सर्वत्र' का अर्थ 'सभी जगह' करना। श्लोकार्थ- सभी जगह सभी विशेषों में सर्वसामान्य ज्ञान होने से ज्ञेयत्व की सिद्धि से उस योगी को यह केवलज्ञान न्याय युक्त है। (इस प्रकार श्लो. ५३५वाँ मात्र सामान्य विषयक है और श्लो. ५३६ विशेष विषयक है।)

अव. इस ज्ञानस्वभाव और सर्वज्ञ की चर्चा का उपसंहार करते हुए कहते हैं –

अतोऽयं ज्ञस्वभावत्वात् सर्वज्ञः स्यान्नियोगतः।
नान्यथा ज्ञत्वमस्येति सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम्॥५३७॥

इसलिए यह आत्मा ज्ञस्वभाव वाला होने से अवश्य सर्वज्ञ होता है। अन्यथा इसका ज्ञस्वभाव ही नहीं होगा, इस प्रकार सूक्ष्मबुद्धि से निरूपण करो।

अतः यह आत्मा ही ज्ञानस्वभाव वाला होने से अवश्य सर्वज्ञ होता है। अन्यथा यदि इसे सर्वज्ञ नहीं मानोगे तो इसका ज्ञानस्वभाव भी नहीं घटेगा।

अव. इस प्रकार सर्वज्ञत्व सिद्ध होने पर जो सिद्ध हुआ, वह कहते हैं–

एवं च तत्त्वतोऽसारं यदुक्तं प्रतिशालिना।
इह व्यतिकरे किञ्चिच्चारुबुद्ध्या सुभाषितम्॥५३८॥

इस प्रकार इस व्यतिकर में प्रतिशाली (ऐसे कुमारिल) द्वारा जो कुछ सुभाषित सुंदर बुद्धि से कहा गया, वह तत्त्व से असार है।

श्लो. ५२७ (Pg. २५५) में मीमांसा दर्शन का मत कहा गया था। मीमांसा के मुख्य तार्किक कुमारिल भट्ट हैं। ~~उनका जो सुभा~~ उन्होंने जो सुभाषित सर्वज्ञत्व के प्रतिषेध के लिए कहा था, वह परमार्थ से ~~असर~~ असार है।

अव. उस कुमारिल के सुभाषित ही कहते हैं – (चार श्लोक –)

ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित् तदुक्तप्रतिपत्तये।
अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः॥५३९॥

अज्ञ को उपदेश करने में विप्रलंभन की शंका वालों द्वारा
2016 उस वेद में कहे गए अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए कोई ज्ञानवाला पुरुष खोजा जाता है।

SEPTEMBER 2016
W M T W T F S S
35 1 2 3 4
36 5 6 7 8 9 10 11
37 12 13 14 15 16 17 18
38 19 20 21 22 23 24 25
39 26 27 28 29 30

18 Sunday
SEPTEMBER
Week 37 262-104

→ तदुक्त = वेद में कहे गए अर्थ। प्रतिपत्ति = ज्ञान/प्रतीति के लिए।
→ विप्रलंभन = व्यभिचार, विपरीत अर्थ।

वेद पढ़ने वाले छात्र वेद में कहे गए अर्थ को जानने के लिए किसी निपुण अध्यापक ज्ञानी पुरुष को ढूँढते हैं, जिससे उन्हें किसी गलत अर्थ का ज्ञान न हो। यदि वे स्वयं पढ़ते तो उन्हें कोई विपरीत अर्थ भी ज्ञात हो सकता है। अतः विपरीत अर्थ की शंका वाले वेदाध्यायी द्वारा अज्ञ को उपदेश करने में वेदोक्त अर्थ की ~~प्रतिपत्तये~~ प्रतीति के लिए कोई वेदार्थ में निपुण अध्यापक ढूँढा जाता है।

तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥५५०॥

इसलिए उसके अनुष्ठान विषयक ज्ञान को विचारो। उसका कीड़ों की संख्या का परिज्ञान हमें कहाँ उपयोगी है।

अज्ञ को उपदेश करने में विपरीतता की शंका होने से वेद में कहे गए अग्निहोत्रादि अनुष्ठान विषयक ज्ञान ही विचारो। उनको समुद्रादि में रहे मत्स्यादि जीवों की संख्या विषयक ज्ञान हमें कहाँ उपयोगी है? वह हमें अत्यन्त अनुपयोगी होने से निष्फल है। इसलिए हम (मीमांसक) किसे सर्वज्ञ कहते हैं, वह बताते हैं—

हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥५५१॥

जो पुरुष उपाय सहित हेय-उपादेय तत्त्व को जानने वाला है, वह हमें प्रमाण है, इष्ट है किंतु सर्व को जानने वाला नहीं।

अतः हम (मीमांसक) ऐसे पुरुष को ही सर्वज्ञ और प्रमाण मानते हैं, जिसे हेय-उपादेय तत्त्वों का और उनके सभी

उपायों का ज्ञान है। सभी अनुपयोगी वस्तु के ज्ञान वाले को हम प्रमाण नहीं मानते।

अव.प. अनिष्ट - दूर - आसन्न आदि के भेद वाली अनुपयोगी वस्तु के ज्ञान से ही अन्य दर्शनियों द्वारा सर्वज्ञ माना गया है तो मात्र इष्ट अर्थ के ज्ञान से सर्वज्ञ कैसे होगा? —

दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शी चेत् चेदेत गृध्रानुपास्महे ॥५५२॥

वह दूर देखे अथवा न देखे लेकिन इष्ट तत्त्व तो अवश्य देखना चाहिए। यदि दूरदर्शी ही आपको प्रमाण है तो चलो, हम गीध पक्षियों की उपासना करते हैं।

वह पुरुष दूर, व्यवहित वस्तु को देखे या न देखे किंतु इष्ट तत्त्व तो देखना चाहिए। यदि आपके लिए दूरदर्शी पुरुष ही प्रमाण है तो चलो! हम गीध पक्षियों की उपासना करते हैं क्योंकि वे गीध पक्षी आकाश में उड़ते हुए सौ योजन से भी मांस को देखते हैं।

अव. चार श्लोकों में कुमारिल का मत बताकर अब उसका खंडन करते हैं —

एवमाद्युक्तसन्नीत्या हेयाद्यपि न तत्त्वतः।
तत्त्वस्यासर्वदर्शी न वेत्त्यावरणभावतः ॥५५३॥

इत्यादि तब कही हुई युक्ति से असार है। और तत्त्व का असर्वदर्शी आवरण होने से हेयादि को भी परमार्थ से नहीं जानता है।

उपर्युक्त चार श्लोकों में कहा हुआ और उनके ग्रंथ में इस विषयक कहा हुआ उपर्युक्त युक्ति से ही (श्लो. 532 आदि युक्ति) असार है।

तथा जीवादि तत्त्व को संपूर्ण नहीं देखने वाला जीव ज्ञान का

SEPTEMBER 2016
W M T W T F S S
35 1 2 3 4
36 5 6 7 8 9 10 11
37 12 13 14 15 16 17 18
38 19 20 21 22 23 24 25
39 26 27 28 29 30
2016

20 Tuesday
SEPTEMBER
Week 38 264-102

आवरण होने से हेय-उपादेय को भी निरवद्य रीति से परमार्थ से कैसे जानेगा? अर्थात् नहीं जान सकेगा।
जो वस्तु जिसकी अपेक्षा से स्वरूप को प्राप्त करती है, वह वस्तु उसका संपूर्ण ज्ञान होने पर ही ज्ञात होती है। जैसे- ह्रस्व वस्तु दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्वत्व को प्राप्त करती है, इसलिए उस दीर्घ का ज्ञान होने पर ही ह्रस्व वस्तु ज्ञान होती है, उसके ज्ञान बिना ह्रस्व का ज्ञान नहीं हो सकता। उपादेय अर्थ भी हेय पदार्थों की अपेक्षा वाले हैं। अतः सभी उपादेय अर्थों का ज्ञान भी हेय के संपूर्ण ज्ञान के आधीन है। इसलिए हेय का संपूर्ण ज्ञान हुए बिना सभी उपादेय का ज्ञान नहीं हो सकता। और ऊपर कहे अनुसार जीवादि तत्त्वों को संपूर्ण नहीं देखने वाला आवरण होने से सभी हेय-उपादेयों को भी नहीं जान सकता। अतः सभी हेय-उपादेय वस्तु के संपूर्ण जानने वाला कोई ज्ञानी विशेष स्वीकारना चाहिए।
अतः आपको सर्वज्ञ स्वीकारना आवश्यक है।

अब इस प्रकार मीमांसा दर्शन के मत का खंडन कर अब सांख्य मत के खंडन के लिए कहते हैं- (दो श्लोक-)

बुद्ध्यध्यवसितं यस्मादर्थं चेतयते पुमान्।
इतीष्टं चेतना चेह संवित्तिसिद्धा जगत्त्रये॥५५५॥

बुद्धि में अध्यवसित अर्थ को पुरुष जानता है, ऐसा सांख्य को इष्ट है। और चेतना ही यहाँ संवित् (ज्ञान) है, ऐसा तीनों जगत् में प्रसिद्ध है।

चैतन्यं च निजं रूपं पुरुषस्योदितं यतः।
तत आवरणाभावे नैतत्स्वफलकृत् कुतः॥५५६॥

और चैतन्य पुरुष का निज स्वरूप कहा गया है, इसलिए आवरण न होने पर यह चैतन्य स्वयं के फल को करने वाला क्यों नहीं होगा?

OCTOBER 2016
W M T W T F S S
39 31 1 2
40 3 4 5 6 7 8 9
41 10 11 12 13 14 15 16
42 17 18 19 20 21 22 23
43 24 25 26 27 28 29 30
2016

बुद्धि के विषय बने हुए अर्थ को पुरुष जानता है, यह बात सांख्य को इष्ट है और यह जानने रूप चेतना ही ज्ञान है, यह बात तीनों जगत् में प्रसिद्ध है, अतः सांख्य इसका विरोध नहीं कर सकते। यह जानने रूप चेतना पुरुष में ही है क्योंकि पुरुष जानता है।
यह चैतन्य पुरुष का ही स्वरूप है, यह बात हम श्लो. 430-1 (Pg. 258 पर) में सिद्ध कर चुके हैं। इसलिए आवरण का अभाव होने पर यह चैतन्य स्वयं के ज्ञान रूप कार्य को क्यों नहीं करेगा? अर्थात् अवश्य करेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि मुक्त अवस्था में भी आत्मा को ज्ञान होता है। (देखें श्लो. 427 Pg. 255, सांख्य मत)

अब. ग्रंथकार द्वारा किए खंडन का उत्तर सांख्य देता है –

न निमित्तवियोगेन तद्ध्यावरणसङ्गतम्।
न च तत्तत्स्वभावत्वात् संवेदनमिदं यतः॥५५६॥

सांख्य – निमित्त के वियोग से वह चैतन्य स्वफलकृत् नहीं होता।
ग्रंथकार – वह निमित्त तो आवरण युक्त है।
सांख्य – आत्मा का संवेदन रूप स्वभाव होने से यह चैतन्य संवेदन नहीं है।

सांख्य मत वाला कहता है कि मन रूपी निमित्त का वियोग होने से यह चैतन्य मुक्त अवस्था में स्वयं का ज्ञान रूप कार्य नहीं करता है।
ग्रंथकार पुनः उत्तर देते हैं कि यह मन रूपी निमित्त तो आवरण से युक्त है। अतः यह मन आवरण युक्त ज्ञान में ही निमित्त है। मुक्त अवस्था में सभी आवरण का अभाव होने से चैतन्य को ~~ज्ञान~~ निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती है। अतः चैतन्य अवश्य ज्ञान करेगा।
श्लो. ~~५५५~~ ५५५ में ग्रंथकार ने चैतन्य को ज्ञान कहा। यह बात सांख्य दर्शन को मान्य नहीं है। अतः सांख्य ग्रंथकार

22 Thursday
SEPTEMBER
Week 38 266-100

को कहता है - आत्मा स्वभाव चैतन्य है, ज्ञान नहीं। इसलिए उस आत्मा को तत्स्वभावत्व अर्थात् चैतन्य स्वभावत्व होने से यह ज्ञान/संवेदन ही चैतन्य नहीं है क्योंकि हमारे मत में ज्ञान बुद्धि का धर्म है (इस प्रकार 'यत:' पद का संबंध आगे श्लो. ५५१ के साथ है)।
(* टीका में 'तत्स्वभावत्व' का अर्थ 'संवेदनरूपत्व' किया है जबकि वहाँ 'चैतन्य स्वभाव' होना चाहिए क्योंकि 'तत्' से आत्मा का ग्रहण किया है और आत्मा का चैतन्य स्वभाव है, संवेदन/ज्ञान नहीं।)
यदि 'तत्' पद से 'मन' का ग्रहण करते तो 'संवेदनरूपत्व' अर्थ बराबर होता। पंक्त्यर्थ → मन का संवेदन/ज्ञान स्वभाव होने से यह चैतन्य संवेदन नहीं है।)

* इस श्लोक को टीकाकार ने सांख्य मत के पक्ष में घटाया है (एक पद के अलावा)। किंतु 'निमित्त के वियोग से ज्ञान नहीं होता है' ऐसा सांख्य मत तो ग्रंथकार श्लो. ५२१ (Pg. २५५) में ही बता चुके हैं। अत: यह बात ग्रंथकार पुन: सांख्य के मुख से नहीं ~~बुलवाते~~ कहलाते क्योंकि पुनरुक्ति दोष होता है। तथा सांख्य मत में 'सहकारी' कारण संज्ञा है, इस श्लोक में 'निमित्त' शब्द है। अत: यह सांख्य के मुख से कही हुई बात नहीं लगती। (~~कुल~~ यह श्लोक सांख्य मत का न होने के दो कारण - (1) पुनरुक्ति (2) 'निमित्त' शब्द)।
अत: यह श्लोक जैन मतानुसार ही लगता है, इस अनुसार भी इस श्लोक का अर्थघटन किया जा सकता है।
श्लो. ५२१ में सांख्य ने सहकारि कारण का वियोग कहा था, उसका उत्तर देते हुए ग्रंथकार कहते हैं -
'न ... संगतम्' ⇒ निमित्त के वियोग से वह आवरण युक्त चैतन्य नहीं होता है अर्थात् निमित्त होने पर वह चैतन्य आवरण युक्त होता है इसलिए उसे निमित्त की अपेक्षा

OCTOBER 2016
W M T W T F S S
39 31 1 2
40 3 4 5 6 7 8 9
41 10 11 12 13 14 15 16
42 17 18 19 20 21 22 23
43 24 25 26 27 28 29 30

है किंतु निमित्त का वियोग होने पर आवरण का भी वियोग हो जाता है इसलिए उस चैतन्य को निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती है।

~~निमित्त न होने पर चैतन्य आवरणसहित होने से उसे निमित्त की अपेक्षा क्यों नहीं रहती ? इस प्रश्न का उत्तर ग्रंथकार देते हैं—~~

~~'न... यतः' क्योंकि यह~~

निमित्त न होने पर चैतन्य आवरण युक्त क्यों नहीं होता ? ऐसा सांख्य द्वारा पूछे जाने पर ग्रंथकार उत्तर देते हैं—

'न... यतः' ⇒ क्योंकि आत्मा का वैसा (चैतन्य) स्वभाव होने से यह आवरण युक्त संवेदन नहीं होता। अर्थात् निमित्त न होने पर आत्मा का चैतन्य स्वभाव संपूर्ण प्रगट हो जाता है इसलिए उसे आवरण युक्त संवेदन नहीं होता।

अब ग्रंथकार ने श्लो. ५५५ में चैतन्य को ही ज्ञान कहा लेकिन यह बात सांख्य को संमत नहीं है। उसके मत में चैतन्य पुरुष है क्योंकि वह जानता है किंतु ज्ञान बुद्धि का धर्म है। इसी बात को सांख्य कहता है—

चैतन्यमेव विज्ञानमिति नास्माकमागमः।
किन्तु तन्महतो धर्मः प्राक्तश्च महानपि ॥५५७॥

चैतन्य ही विज्ञान है, ऐसा हमारा आगम नहीं है किंतु वह ज्ञान महत् का धर्म है और महत् भी प्रकृति का विकार है।

अब सांख्य के इस मत का खंडन करते हैं—

बुद्ध्यध्यवसितस्यैवं कथमर्थस्य चेतनम्।
गीयते तत्र नन्वेतत् स्वयमेव निभाल्यताम् ॥५५८॥

ऐसा होने पर बुद्धि में अध्यवसित अर्थ का चेतन ज्ञान उस आगम में कैसे कहा जाता है ? यह बात आप स्वयं ही विचारो।

2016
SEPTEMBER 2016
W M T W T F S S
35 1 2 3 4
36 5 6 7 8 9 10 11
37 12 13 14 15 16 17 18
38 19 20 21 22 23 24 25
39 26 27 28 29 30 - -

24 Saturday
SEPTEMBER
Week 38 268-098

यदि ज्ञान पुरुष का धर्म नहीं है तो बुद्धि में अध्यवसित अर्थ का ज्ञान ~~क~~ पुरुष को होता है, ऐसा कैसे कहा जाता है? आप स्वयं ही विचारो। बुद्धि में अध्यवसित अर्थ को पुरुष जानता है, ऐसा तभी कहा जाता है, जब ज्ञान पुरुष का धर्म हो। अतः ज्ञान को पुरुष का धर्म अवश्य मानना चाहिए।

अब इस बात का सांख्य पुनः उत्तर देता है—

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥५४९॥

अविकृतात्मा पुरुष ही अचेतन मन को स्वनिर्भासि करता है। जैसे - उपाधि सान्निध्य से स्फटिक को स्वनिर्भासि करती है।

किसी उपाधि के सान्निध्य से स्फटिक ~~भी उस~~ निर्मल होते हुए भी उस उपाधि जैसे दिखने लगता है। जैसे ~~लाल~~ ~~सम~~ पद्मराग - जपा पुष्प आदि उपाधि के सान्निध्य से स्फटिक लाल-पीला आदि रंग वाला दिखता है। यहाँ वह उपाधि जैसे स्वयं अविकृत रहते हुए भी मात्र सान्निध्य से स्फटिक को स्वनिर्भासि करती है अर्थात् स्वयं के आभास जैसा बनाती है; ठीक उसी प्रकार आत्मा/पुरुष भी अविकृत रहते हुए अचेतन ऐसे मन को स्वनिर्भासि ~~व~~ करता है अर्थात् वह जड़ मन भी पुरुष के सांनिध्य से ~~जड़~~ ~~जैसा~~ चेतन जैसा दिखने लग जाता है।

विभक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥५५०॥

बुद्धि में विभक्त-ईदृक्परिणति होने पर इस पुरुष का भोग कहा जाता है। जैसे - स्वच्छ जल में चन्द्रमा के प्रतिबिंब का उदय होता है।

जैसे स्वच्छ जल में चन्द्रमा के प्रतिबिंब का उदय होता है, वैसे बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिंब का उदय होता है। जब बुद्धि में

पुरुष के प्रतिबिंब को ही विभक्त-ईदृक् परिणति कहते हैं; क्योंकि बुद्धि में रही होने से आत्मा के विभाग वाली है और ईदृक् यानी आत्मा के चैतन्य परिणाम वाली है।
बुद्धि जड़ है किंतु उसमें पुरुष का प्रतिबिंब पड़ने से वह चेतन रूप हो जाती है और शब्दादि रूप बाह्य विषयों को अध्यवसित करने में समर्थ हो जाती है। वह बुद्धि ही बाह्य अर्थ को अध्यवसित करती है, तब पुरुष उस विषय को पुरुष जानता है। इसे ही पुरुष का भोग कहते हैं।
संक्षेप में, पुरुष के प्रतिबिंब से युक्त बुद्धि में अर्थ का अध्यवसित होना ही पुरुष का भोग कहा जाता है। यहाँ पुरुष का प्रतिबिंब ही कार्य करता है। पुरुष तो एकांत नित्य है, उसमें कुछ विकार नहीं होता।

अब. ग्रंथकार इस बात का प्रत्युत्तर देते हैं-

स्फटिकस्य तथानाम्नभावे तदुपधेस्तथा।
विकारो नान्यथासौ स्यादन्धाश्मन इव स्फुटम्॥५८॥

स्फटिक का और उसकी उपाधि का वैसा परिणाम होने पर ही विकार होता है। अन्यथा यह विकार अंध पाषाण की तरह स्पष्ट नहीं होना चाहिए।

→ तथानाम्नभाव = वैसा नाम यानी परिणाम होने पर।

स्फटिक का और उसकी उपाधि का वैसा परिणाम/स्वभाव/योग्यता होने पर ही उपाधि से स्फटिक का विकार होता है। यदि दोनों में से किसी एक का भी वैसा परिणाम नहीं आनो तो वह विकार नहीं होगा।

प्र. यदि दोनों में से किसी एक का भी परिणाम नहीं आनें और विकार आनें तो क्या आपत्ति है?

उ. यदि परिणाम नहीं आनोगे तो अंध पाषाण यानी कसौटी के पत्थर

26 Monday
SEPTEMBER
Week 39 270-096

की तरह यह विकार स्पष्ट नहीं होता। अर्थात् उपाधि से कसौटी पत्थर का विकार जैसे नहीं होता है, वैसे स्फटिक का भी विकार नहीं होता। अतः स्फटिक का भी वैसा परिणाम अवश्य स्वीकारना पड़ेगा। दोनों का तथापरिणाम मानना पड़ेगा।

अव. इस प्रकार दोनों का परिणाम सिद्ध होने से क्या सिद्ध होता है? –

तथानामैव सिद्धैव विक्रियाप्यस्य तत्त्वतः।
चैतन्यविक्रियाप्येवमस्तु ज्ञानं च साऽऽत्मनः ॥५५२॥

अतः परमार्थ से इस पुरुष की विक्रिया भी तथापरिणाम वाली ही सिद्ध ही है। इसी प्रकार चैतन्य की विक्रिया भी सिद्ध हो और वह विक्रिया आत्मा का ज्ञान है।

उपर्युक्त श्लोक में सिद्ध किया की कि विकार्य और विकारक, दोनों का तथापरिणाम स्वीकारना पड़ेगा। इसी तरह पुरुष ~~प्रकृति रूप~~ बुद्धि रूप प्रकृति को विकृत करता है, ऐसा आप मानते हो। उसमें भी आपको पुरुष की विक्रिया भी तथापरिणाम से ही स्वीकारना पड़ेगी। पुरुष के चैतन्य की विक्रिया भी इसी तरह सिद्ध होगी। और वह चैतन्य की विक्रिया आत्मा का ज्ञान ही होगा।
इस तरह पुरुष एकांत नित्य नहीं है और उसमें भी ज्ञान है, ऐसा सिद्ध किया तथा श्लो. ५५१, ५५१, ५५० में कहा गया सांख्य मत का खंडन किया।

* श्लो. ५५। में दृष्टांत से ग्रंथकार ने दोनों का तथापरिणाम सिद्ध किया। किंतु उससे विकार्य का ही तथापरिणाम सिद्ध होता है, विकारक का नहीं। अतः पुरुष का विकार सिद्ध नहीं होता। कोई ऐसा दृष्टांत नहीं है, जिसमें विकार्य की योग्यता हो और विकारक की योग्यता न हो। *(देखें पृ. 286)

OCTOBER 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
39	31					1	2
40	3	4	5	6	7	8	9
41	10	11	12	13	14	15	16
42	17	18	19	20	21	22	23
43	24	25	26	27	28	29	30

2016

अव. सांख्य इस बात का क्या उत्तर दे सकता है? वह ग्रंथकार स्वयं

शंका कर उसका समाधान देते हैं :—

निमित्ताभावतो नो चेन्निमित्तमखिलं जगत् ।
नान्तःकरणमिति चेत् क्षीणदोषस्य तेन किम् ॥५५३॥

यदि ऐसा कहो कि मुक्तावस्था में निमित्त के अभाव से पुरुष का विकार नहीं होता तो उसके लिए संपूर्ण जगत् निमित्त है। यदि ऐसा कहो कि मन नहीं है तो क्षीणदोष वाले को उस मन से क्या ?

यदि सांख्य ऐसा कहे कि मुक्त अवस्था में निमित्त का अभाव होने पुरुष के चैतन्य का ज्ञान रूप विकार नहीं होता तो ग्रंथकार उसे प्रत्युत्तर देते हैं कि उसका चैतन्य निरावरण होने से पूरा जगत् उसके लिए निमित्त है, उसे पूरे जगत् का ज्ञान होना चाहिए।
पुनः यदि सांख्य कहे कि मात्र मन ही निमित्त है, अन्य कोई नहीं। इसलिए मन न होने से ज्ञान नहीं होता तो उसे ग्रंथ ग्रंथकार प्रत्युत्तर देते हैं कि सभी दोषों का क्षय होने से उस पुरुष को मन से क्या? अर्थात् उसे मन की अपेक्षा नहीं है। दोष वाले को मन की अपेक्षा रहती है।

अब 'क्षीणदोष वाले को मन से क्या।' इसी बात का समर्थन करते हैं—

निरावरणमेतद् यद् विश्वमाश्रित्य विक्रियाम् ।
न याति यदि तत्त्वेन न निरावरणं भवेत् ॥५५४॥

यदि यह निरावरण चैतन्य विश्व के आश्रय से विक्रिया को नहीं प्राप्त होता है तो परमार्थ से यह निरावरण नहीं है।

अर्थात् यदि यह निरावरण चैतन्य पूरे विश्व के आश्रय से ज्ञान रूप विक्रिया को नहीं करता है तो यह परमार्थ से निरावरण नहीं है, मात्र के आपके कहने में ही निरावरण है क्योंकि आवरण ही चैतन्य की ज्ञान क्रिया

28 Wednesday
SEPTEMBER

का वाचक है।

अत. पुनः ग्रंथकार स्वयं सांख्य के उत्तर की कल्पना कर उसका प्रत्युत्तर देते हैं-

दिदृक्षा विनिवृत्तापि नेच्छामात्रनिवर्त्तनात्।
पुरुषस्यापि युक्तेयं स च चिद्रूप एव वः ॥५५५॥

पुरुष की भी यह दिदृक्षा ~~विनिवृत्त योग्य नहीं~~ इच्छामात्र के निवर्तन से योग्य नहीं है और वह पुरुष ~~आको~~ आपको चिद्रूप ही इष्ट है।

यदि सांख्य कहे कि मुक्तावस्था में पुरुष को देखने की इच्छा भी विनिवृत्त हो जाती है इसलिए ~~स~~ बाह्य अर्थों को देखने की इच्छा तो अवश्य निवृत्त हो जाती है। जब इच्छा ही नहीं होती तो ज्ञान तो कैसे होगा? इसलिए पुरुष को मुक्तावस्था में ज्ञान नहीं होता। इसका पत्युत्तर ग्रंथकार देते हैं-
मुक्तावस्था ~~को~~ में पुरुष की दिदृक्षा निवृत्त होती है, यह सही बात है किंतु मात्र इच्छा ही निवृत्त होती है, उसका चित्स्वभाव निवृत्त नहीं होता। इसलिए दिदृक्षा निवृत्त होने पर भी उसे चैतन्य स्वभाव से ज्ञान तो होता ही रहता है।
पुरुष की स्व और पर, दोनों विषयक दिदृक्षा निवृत्त हो जाती किंतु ज्ञान तो उसे चैतन्य स्वभाव से दोनों का होता रहता है। और वह आत्मा आपको भी चिद्रूप। चैतन्य स्वभाव वाला ही इष्ट है अर्थात् मुक्तावस्था में भी आप पुरुष का चैतन्य स्वभाव तो मानते ही हैं, चैतन्य की निवृत्ति नहीं मानते हैं।

चैतन्यं चेह संशुद्धं स्थितं सर्वस्य वेदकम्।
तन्त्रे ज्ञाननिषेधस्तु प्राकृतापेक्षया भवेत् ॥५५६॥

ऐसे यहाँ संशुद्ध चैतन्य सभी का वेदक सिद्ध होता है। शास्त्र में प्राकृत ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञान का निषेध होता है।

OCTOBER 2016
W M T W T F S S
39 31 1 2
40 3 4 5 6 7 8 9
41 10 11 12 13 14 15 16
42 17 18 19 20 21 22 23
43 24 25 26 27 28 29 30
2016

इस प्रकार ~~श्लो~~ श्लो. ५५५ से श्लो. ५५८ तक यह सिद्ध हुआ कि मुक्तावस्था में संशुद्ध चैतन्य सभी वस्तु को जानने वाला होता है।

प्र. शास्त्र में तो मुक्तावस्था में ज्ञाननिषेध का उल्लेख मिलता है?

उ. वह निषेध प्राकृत अर्थात् प्रकृति के विकार रूप इन्द्रिय ज्ञान की अपेक्षा से किया जाता है।

अव. मुक्तावस्था में पुरुष को ज्ञान होता है, इसमें अन्य युक्ति बताते हैं—

आत्मदर्शनतश्च स्यान्मुक्तिर्यत्तन्त्रनीतितः।
तदस्य ज्ञानसद्भावस्तन्त्रयुक्त्यैव साधितः॥५५७॥

शास्त्र की नीति से आत्मा के दर्शन द्वारा ही मुक्ति होती है। ~~इसलिए~~ इससे भी ~~यह~~ ज्ञान इस पुरुष को ज्ञान का सद्भाव तंत्र युक्ति से ही सिद्ध होता है।

★ शास्त्र की नीति से आत्मा के दर्शन से ही मुक्ति होती है। यहाँ 'दर्शन' शब्द श्रद्धापरक लेना।

अव. इस प्रकार श्लो. ५२१ (Pg. 255) में बताए गए सांख्य मत का खंडन श्लो. ५५५ (Pg. 265) से शुरु होकर यहाँ पूर्ण हुआ। यहाँ आत्मा के दर्शन से मुक्ति की बात कही। उसी अनुसंधान में मुक्ति विषयक बौद्ध मत बताते हैं (पाँच श्लोक में)—

नैरात्म्यदर्शनादन्ये निबन्धनवियोगतः।
दोषप्रहाणमिच्छन्ति सर्वथा न्याययोगिनः॥५५८॥

अन्य न्याययोगी नैरात्म्य दर्शन होने से ~~सर्वथा~~ निमित्तों के वियोग से सर्वथा दोष की प्रहाणि को मानते हैं।

बौद्ध ~~सभी~~ सभी वस्तु को क्षणिक मानते हैं। क्षणिक मानने से ही वे नित्य द्रव्य जैसी कोई वस्तु नहीं मानते। अतः

30 Friday
SEPTEMBER
Week 39 274-092

आत्मा द्रव्य को भी वे नहीं मानते। इसलिए उन्हें नैरात्म्यदर्शन वादी कहा जाता है, जिनके दर्शन में आत्मा नहीं है। नित्य आत्मद्रव्य को न मानने से श्लो. ५५७ में कहे अनुसार वे आत्मा के दर्शन से ~~भी~~ मुक्ति भी नहीं मान सकते। इसलिए वे सर्वथा दोषहानि को ही मुक्ति मानते हैं और यह सर्वथा दोषहानि दोषों के निमित्तों के वियोग से होती है।

समाधिराज एतत्तत् तदेतत्तत्त्वदर्शनम्।
आग्रहच्छेदकार्येतत् तदेतदमृतं परम् ॥५५७॥

यह नैरात्म्य दर्शन ही समाधिराज अर्थात् प्रधान समाधि है। यही तत्त्व अर्थात् परमार्थ दर्शन है। यही कदाग्रहों का छेद करने वाला है। यही श्रेष्ठ अमृत है।

तृष्णा यज्जन्मनो योनिर्ध्रुवा सा चात्मदर्शनात्।
तदभावान्न तद्भावस्ततो मुक्तिरित्यपि ॥५६०॥

तृष्णा जन्म की योनि है और वह तृष्णा आत्मा के दर्शन से ध्रुव होती है। आत्मा के अभाव से उस तृष्णा का भाव नहीं होता। अतः तृष्णा के अभाव से ही मुक्ति है।

जन्म का कारण तृष्णा है और वह तृष्णा आत्मा के दर्शन से निश्चित होती है अर्थात् 'मैं हूँ' ऐसा जानने से जीव को स्वयं के लिए तृष्णा अधिक होने वाली है। आत्मा का अभाव होने से तृष्णा भी नहीं होगी अर्थात् 'मैं हूँ ही नहीं' ऐसा जीव ~~जानेन~~ जानेगा तो उसे स्वयं के लिए कुछ करने की इच्छा नहीं होगी। इसलिए फलतः तृष्णा के सर्वथा अभाव से ही मुक्ति होती है।

OCTOBER 2016
W M T W T F S S
39 31 1 2
40 3 4 5 6 7 8 9
41 10 11 12 13 14 15 16
42 17 18 19 20 21 22 23
43 24 25 26 27 28 29 30

न ह्यपश्यन्नहमिति निश्चित्यात्मनि कश्चन।
न चात्मनि विना प्रेम्णा सुखकामोऽभिधावति ॥५६१॥ 2016

'अहं' ऐसा नहीं देखता हुआ कोई पुरुष आत्मा में स्नेह नहीं करता भी

Notes

है और आत्मा में प्रेम बिना सुख की इच्छा वाला दौड़ता नहीं है।

कोई भी पुरुष 'मैं हूँ' ऐसा नहीं जानता है तो उसे आत्मा में प्रेम नहीं होता है और आत्मा में प्रेम न होने से वह सुख की इच्छा से दौड़ता भी नहीं है।

सत्यात्मनि स्थिरे प्रेम्णि न वैराग्यस्य सम्भवः।
न च रागवतो मुक्तिर्दतित्योऽस्याजत्वाञ्जलिः॥५६२॥

~~आत्म~~ स्थिर आत्मा में प्रेम होने पर वैराग्य का संभव नहीं है और राग वाले को मुक्ति नहीं होती इसलिए इस मुक्ति को जलांजलि देना चाहिए।

इस मुक्ति अर्थात् आत्मा के दर्शन से होने वाली मुक्ति की बात को जलांजलि दे देना चाहिए।

अब. इस बौद्ध दर्शन के मत का खंडन करते हैं—

नैरात्म्यमात्मनोऽभावः क्षणिको वाऽयमित्ययः।
विचार्यमाणं नो युक्त्या द्वयमप्युपपद्यते॥५६३॥

आत्मा का अभाव नैरात्म्य है अथवा क्षणिक आत्मा नैरात्म्य है? विचार करने पर ये दोनों ही विकल्प युक्ति से घटित नहीं होते हैं।

अब. इन दो विकल्पों का क्रमशः खंडन करेंगे। पहले विकल्प का खंडन करते हैं—

सर्वथैवात्मनोऽभावे सर्वा चिन्ता निरर्थिका।
सति धर्मिणि धर्मा यच्चिन्त्यन्ते नीतिमद्वचः॥५६५॥

आत्मा का सर्वथा ही अभाव होने पर सभी चिन्ता निरर्थक है क्योंकि धर्मी होने पर ही धर्म की विचारणा की जाती है।

यह नीतियुक्त वचन है।

आत्मा का सर्वथा अभाव मानने पर स्वर्ग-मोक्ष आदि सभी फल की विचारणा निरर्थक हो जाएगी क्योंकि अनुष्ठान के फल का कोई भोक्ता ही नहीं रहेगा। धर्मी रूप द्रव्य होने पर ही उसके धर्मों की विचारणा की जाती है, यह नीतियुक्त वचन है क्योंकि एकांत असत् ऐसे वंध्यापुत्रादि के कुरूप-सुरूप आदि विशेष धर्मों की विचारणा कभी भी कोई भी विद्वान नहीं करता।

नैरात्म्यदर्शनं कस्य को वाऽस्य प्रतिपादकः।
एकान्ततुच्छतायां हि प्रतिपाद्यस्तथेह कः ॥४६५॥

यह नैरात्म्यदर्शन किसका है अथवा इसका प्रतिपादक कौन है? तथा एकांत तुच्छता होने पर यहाँ प्रतिपाद्य क्या है?

आत्मा का सर्वथा अभाव होने से यह सब घटित नहीं होगा।

अब. अब ज्ञानवादी इसका क्या उत्तर दे सकता है, उसकी कल्पना कर प्रत्युत्तर देते हैं-

कुमारी-सुतजन्मादि स्वप्नबुद्धिसमोदिता।
भ्रान्तिः सर्वेयमिति चेन्ननु सा धर्म एव हि ॥४६६॥

कुमारी की पुत्रजन्म आदि स्वप्नबुद्धि के समान यह सब भ्रांति कही गई है, ऐसा यदि कहो तो वह भ्रांति धर्म ही है।

श्लो. ४६५ में कहे अनुसार ग्रंथकार भ. ने बौद्ध को आत्मा का सर्वथा अभाव मानने पर सभी विचारणा निरर्थक होने की आपत्ति दी तो बौद्ध सामने ऐसा उत्तर दे सकता है कि जैसे कोई कुमारी कन्या से पुत्र के जन्म और मरण का स्वप्न देखे तथा स्वप्न में पुत्र का जन्म होने पर खुश हो और मृत्यु होने पर खिन्न

2 Sunday
OCTOBER

हो, यह सब उसका भ्रम है; ठीक उसी तरह यह पूरा जगत् भ्रम है और हम इस भ्रान्ति रूप जगत् में राग-द्वेष कर दुःखी होते हैं।

ग्रंथकार बौद्धों को कहते हैं कि यदि तुम उपर्युक्त उत्तर दोगे तो मेरा प्रत्युत्तर यह है कि वह कुमारीसुतजन्मादि रूप भ्रान्ति है, वह भी धर्म ही है और वह धर्म होने से धर्मी रूप आत्मा को स्वीकारना पड़ेगा।

अव. बौद्ध यदि कहे कि हम इस बुद्धि को धर्म नहीं मानें तो क्या आपत्ति है? इसका उत्तर ग्रंथकार देते हैं कि इस बुद्धि को धर्म मानना आवश्यक है क्योंकि –

कुमार्या भाव एवेह यदेतदुपपद्यते।
वन्ध्यापुत्रस्य लोकेऽस्मिन्न जातु स्वप्नदर्शनम् ॥467॥

यहाँ यह स्वप्नदर्शन कुमारी का भाव ही घटेगा क्योंकि इस लोक में कभी भी वंध्यापुत्र को स्वप्नदर्शन नहीं होता।

यह स्वप्नदर्शन कुमारी का भाव (धर्म) ही घटित होगा क्योंकि इस लोक में कभी भी अत्यंत असत् ऐसे वंध्यापुत्र को स्वप्नदर्शन ~~किसी भी कुमारी को भी~~ नहीं होता है, सत् को ही स्वप्नदर्शन होता है। यदि सर्वथा अभाव वाले को स्वप्नदर्शन होता तो कुमारी की तरह वंध्यापुत्र को भी स्वप्नदर्शन होता। किंतु लोक में कभी ऐसा नहीं होता।

अतः ~~व~~ आपको सत् रूप में कुछ तो स्वीकारना ही पड़ेगा, जिससे यह सिद्ध होता है कि कुमारी सत् है इसलिए उसे स्वप्नदर्शन होता है और वन्ध्यापुत्र असत् है इसलिए उसे स्वप्नदर्शन नहीं होता। इस तरह कुमारी की तरह कोई स्थिर आत्मा भी मानना पड़ेगा, जिसमें विचारणादि विशेष ~~क~~ माने जाते हैं।

NOVEMBER 2016
W M T W T F S S
44 1 2 3 4 5 6
45 7 8 9 10 11 12 13
46 14 15 16 17 18 19 20
47 21 22 23 24 25 26 27
48 28 29 30

अव. श्लो. 463 में 'नैरात्म्य' को दो विकल्प दर्शाए थे। उनमें से पहले

सर्वथा अभाव पक्ष का खंडन पूर्ण हुआ। अब दूसरे क्षणिक आत्मा वाले विकल्प का खंडन करते हैं –

क्षणिकत्वं तु नैवास्य क्षणादूर्ध्वं विनाशतः।
अन्यस्याभावतोऽसिद्धेरन्यथाऽन्वयभावतः ॥५६८॥

इस आत्मा का क्षणिकत्व तो नहीं ~~से~~ घटित होता (नहीं ही) है क्योंकि क्षण के बाद विनाश होने से अभाव से अन्य की असिद्धि (अनुत्पत्ति) है। अन्यथा अन्वय भाव से सिद्धि है (उत्पत्ति) है।

इस आत्मा का क्षणिकत्व तो युक्ति से घटित ही नहीं होता है क्योंकि यदि आप आत्मा का क्षणिक मानोगे तो एक क्षण के बाद उस आत्मा का विनाश हो जाएगा। विनाश होने के बाद दूसरे क्षण में पुनः उत्पत्ति मानना पड़ेगी। यदि यह उत्पत्ति नहीं मानोगे तो प्रत्यक्ष दूसरे क्षण में दिखती आत्मा की स्थिति ही सिद्ध नहीं होगी। अतः प्रत्यक्ष को सिद्ध करने के लिए दूसरे क्षण में पुनः उत्पत्ति माननी पड़ेगी।
इस उत्पत्ति को मानने के दो तरह से विकल्प हैं –

(1) दूसरे क्षण में उत्पत्ति प्रथम क्षणीय आत्मा के अभाव से होती है → यदि ऐसा मानोगे तो वन्ध्यासुतादि से भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। अतः अभाव से दूसरे क्षणीय आत्मा की उत्पत्ति नहीं मान सकते।

(2) दूसरे क्षण में उत्पत्ति प्रथम क्षणीय आत्मा के भाव से ही होती है → यदि ऐसा मानोगे तो आपको पूर्वक्षण का अन्वय/अनुवृत्ति ही मानना पड़ेगी। पूर्वक्षण का आत्मा ही कथंचित् अभाव रूप होकर उसकी ही कथंचित् भाव से अन्वय/अनुवृत्ति हुई है, ऐसा आपको जबरजस्ती मानना पड़ेगा क्योंकि भाव से भाव की उत्पत्ति इसके अलावा नहीं घट सकती।
इस प्रकार दोनों विकल्प नहीं मान सकते। अतः दूसरे क्षण में आत्मा की उत्पत्ति का हेतु न होने से यह क्षणिकत्व नहीं घटेगा।

2016

OCTOBER 2016
W M T W T F S S
39 31 1 2
40 3 4 5 6 7 8 9
41 10 11 12 13 14 15 16
42 17 18 19 20 21 22 23
43 24 25 26 27 28 29 30

4 Tuesday
OCTOBER

श्लोक का अर्थ → इस आत्मा का (अस्य) क्षणिकत्व (क्षणिकत्वं) तो (नु) नहीं ही घटेगा (नैव) क्योंकि क्षण के बाद (क्षणादूर्ध्वं) विनाश होने से (विनाशतः) अभाव से (अभावतः) दूसरे क्षण में अन्य आत्मा की (अन्यस्य) उत्पत्ति न होती (असिद्धेः)। ~~अन्यथा~~ यदि प्रथम क्षणीय के आत्मा से ही उत्पत्ति मानोगे तो (अन्यथा) वह उत्पत्ति अन्वय होने से ही होगी (अन्वयभावतः)।

अव. ऊपर श्लोक में कहा कि भाव से ही दूसरे क्षण में भाव की उत्पत्ति मानने पर आपको जबरजस्ती अन्वय स्वीकारना पड़ेगा। ऐसा क्यों? इसी बात की विशेष विचारणा करते हैं-

भावाऽविच्छेद एवायमन्वयो गीयते यतः।
स चानन्तरभावित्वे हेतोरस्याऽनिवारितः ॥५६७॥

क्योंकि यह ~~अन्वय~~ भाव का अविच्छेद ही अन्वय कहा जाता है और ~~वह अन्वय अनंतरक्षण के भावित्व में~~ ~~इस~~ वह अन्वय इस आत्मा के हेतु से ~~इस आत्मा के~~ होने वाले अनन्तर भावित्व में अनिवारित है।

प्रथम क्षणीय आत्मा से ही दूसरे क्षण में आत्मा की उत्पत्ति मानने पर आपको अन्वय मानना पड़ेगा क्योंकि उस भाव का विच्छेद न होना ही यह अन्वय कहा जाता है। और यह अन्वय ही हेतु से अनंतर क्षण में भाव की उत्पत्ति होने में अप्रतिस्खलित है।

अव. प. वह क्षणिक अर्थ (1) स्वनिवृत्तिरूप स्वभाव वाला है, (2) अन्य को उत्पन्न करने के स्वभाव वाला है या (3) उभय स्वभाव वाला है, ऐसे तीन विकल्प हैं। क्रमशः इन तीन विकल्पों का खंडन करते हैं-

स्वनिवृत्तिस्वभावत्वे क्षणस्य नापरोदयः।
अन्यजन्मस्वभावत्वे स्वनिवृत्तिरसङ्गता ॥५७०॥

स्वनिवृत्ति स्वभाव होने पर क्षण का अपर उदय नहीं होगा। अन्यजन्म स्वभाव होने पर स्वनिवृत्ति असंगत होगी।

NOVEMBER 2016
W M T W T F S S
44 1 2 3 4 5 6
45 7 8 9 10 11 12 13
46 14 15 16 17 18 19 20
47 21 22 23 24 25 26 27
48 28 29 30 - - - -
2016

(1) उस क्षणिक अर्थ का मात्र स्वनिवृत्ति ही स्वभाव मानने पर दूसरी क्षण की उत्पत्ति नहीं होने की आपत्ति होगी क्योंकि दूसरी क्षण को उत्पन्न करने वाला कोई नहीं है।

(2) यदि अन्यजन्म स्वभाव मानने ही मानोगे तो उस क्षणिक अर्थ की स्वनिवृत्ति ही असंगत हो जाएगी क्योंकि मात्र अन्य को ही जन्म देने का स्वभाव होने से वह अन्य को ही जन्म देगा किंतु स्वयं निवृत्त नहीं होगा।

इत्थं द्वयैकभावत्वे न विरुद्धोऽन्वयोऽपि हि।
व्यावृत्त्यादेकभावत्वयोगतो भाव्यतामिदम् ॥५71॥

इस प्रकार दोनों एकभाव होने पर अन्वय भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि व्यावृत्ति आदि एकरूपत्व का योग है। इसे विचारो।

उभय स्वभाव होने से वह अर्थ स्वनिवृत्ति भी करता है और अपरजन्म भी करता है। इस प्रकार व्यावृत्ति और अपरजन्म रूप स्वभाव को ही अन्वय कहते हैं। अतः उभय स्वभाव मानने पर श्लो. ५६८-9 में कहा गया अन्वय भी विरुद्ध नहीं है।

अन्वयार्थस्य न आत्मा चित्रभावो यतो मतः।
न पुनर्नित्य एवेति ततो दोषो न कश्चन ॥५72॥

अब हमारे अन्वयार्थ का स्वरूप चित्रभाव वाला माना गया है, नित्य ही नहीं। अतः कोई दोष नहीं है। (आत्मा = स्वरूप)

इस प्रकार श्लो. ५६८ से ५71 तक ग्रंथकार द्वारा अन्वय भाव सिद्ध किए जाने पर कोई पूछता है – यह अन्वय भाव आपको नित्य मानना पड़ेगा और नित्य मानने पर बंध-मोक्षादि की घटित नहीं होंगे क्योंकि आत्मा का स्वभाव बदलने पर ही वे घटित होंगे।

इस प्रश्न के समाधान में प्रस्तुत श्लोक है। ग्रंथकार कहते हैं कि

* श्लो. 463 में बताए गए दूसरे मत का भी खंडन हो गया। अब

6 Thursday
OCTOBER

अन्वयार्थ का स्वरूप एकांत ~~नहीं~~ नित्य नहीं है। हमने उसका स्वरूप विचित्र रीति से माना है। वह नित्यानित्य है। अर्थात् द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य है। बंध-मोक्षादि पर्याय में होने से और पर्याय अनित्य होने से उनकी व्यवस्था भी घटित होगी। तथा सभी पर्याय में जिसका अन्वय होता है, जो कभी नष्ट नहीं होता; वह द्रव्य है, नित्य है। अतः हमारी इस व्यवस्था में कोई दोष नहीं है।

अब *श्लो. 460-2 (8.275) में बौद्ध ने कहा था कि स्थिर आत्मा के दर्शन से राग होता है। इस मत का खंडन करते हुए कहते हैं -

न चात्मदर्शनादेव स्नेहो यत्कर्महेतुकः।
नैरात्म्येऽप्यन्यथाऽयं स्याज्ज्ञानस्यापि स्वदर्शनात् ॥473॥

आत्म के दर्शन से ही स्नेह नहीं होता है क्योंकि वह स्नेह कर्महेतुक है। अन्यथा यह स्नेह नैरात्म्य मत में भी ज्ञान के स्वदर्शन से होता।

आपने कहा था कि नित्य-स्थिर आत्मा के दर्शन से उसमें राग होता है और राग होने से मोक्ष नहीं होता। यह बात ठीक नहीं है क्योंकि आत्मदर्शन से ही यह स्नेह नहीं होता है। यह स्नेह कर्म से होता है।
अन्यथा यदि स्नेह को कर्महेतुक नहीं मानोगे तो आपके नैरात्म्य मत में भी यह स्नेह होगा। नैरात्म्य मत में भी क्षणमात्र स्थायी ज्ञान के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से वह ज्ञान को स्वरूप मानेगा और उसमें स्नेह होगा। ~~फल~~ फलतः मुक्ति नहीं होगी। अतः आपको भी स्नेह कर्महेतुक ही मानना पड़ेगा और कर्म के वियोग से मुक्ति होगी।
यही बात हमारे मत में भी है। हम भी स्नेह को कर्महेतुक और कर्मवियोग से मुक्ति मानते हैं।

NOVEMBER 2016
W M T W T F S S
44 1 2 3 4 5 6
45 7 8 9 10 11 12 13
46 14 15 16 17 18 19 20
47 21 22 23 24 25 26 27
48 28 29 30

अब. बौद्ध इसका क्या उत्तर दे सकता है? उसकी कल्पना कर

प्रत्युत्तर देते हैं-

अध्रुवेक्षणतो नो चेत् कोऽपराधो ध्रुवेक्षणे।
तद्गता कात्यचिन्ता चेन्नासौ कर्मनिवृत्तितः ॥५७५॥

यदि अध्रुव देखने से स्नेह नहीं होगा, ऐसा कहो तो ध्रुव देखने में क्या अपराध है? उस विषयक कात्यचिंता होगा, ऐसा कहो तो यह चिंता कर्म की निवृत्ति होने से मोक्ष में नहीं होगी।

~~यदि~~ ऊपर श्लोक में कहा कि ज्ञान रूप स्व में भी उसे स्नेह होगा। इसका उत्तर देते हुए यदि बौद्ध कहे कि वह ज्ञान को अनित्य देखता है और अनित्य देखने से उसे स्नेह नहीं हो तो ग्रंथकार प्रत्युत्तर देते हैं कि वह ज्ञान को अनित्य देखता है किंतु नित्य देखने में क्या आपत्ति है? अर्थात् यदि वह ज्ञान रूप स्व को नित्य देखने लगे तो ऐसा कौन-सा अपराध हो जाता है, जिससे उसे स्नेह हो?
पुनः यदि बौद्ध ऐसा कहे कि यदि वह ज्ञान को नित्य देखेगा तो उसे उस ज्ञान विषयक कात्य चिंता होगी अर्थात् उसे ऐसी चिंता होगी कि भविष्य में मुझे सुखप्राप्ति और दुःखपरिहार कैसे हो?
इसका प्रत्युत्तर देते हुए ग्रंथकार पुनः कहते कि मुक्तावस्था में कर्म की निवृत्ति होने से उसे ऐसी चिंता नहीं होती है।

अब. कर्म की निवृत्ति से यह चिंता क्यों नहीं होती? उसकी विचारणा करते हैं-

उपप्लववशात्प्रेम सर्वत्रैवोपजायते।
निवृत्ते तु न तत्तस्मिन् ज्ञाने ग्राह्यादिरूपवत् ॥५७६॥

उपप्लव के वश से सभी जगह प्रेम होता है। वह उपप्लव निवृत्त होने पर ज्ञान में ग्राह्यादि रूप की तरह वह प्रेम भी नहीं होता।

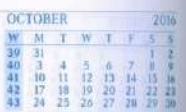

8 Saturday
OCTOBER
Week 40 282-084

मुक्तावस्था में कर्म की निवृत्ति होने से उस ज्ञान को भविष्य काल की चिंता नहीं होती क्योंकि प्रेम सभी जगह उपप्लव अर्थात् संक्लेश के वश से होता है। वह उपप्लव निवृत्त होने पर प्रेम नहीं होता और प्रेम न होने से मुक्तावस्था में चिंता भी नहीं होती। जैसे - आप बौद्धों का ही सिद्धान्त है कि मुक्त होने पर उस ज्ञान के लिए कुछ ग्राह्य नहीं है, उस ज्ञान से किसी का ग्रहण भी नहीं है होता है, न यह ज्ञान अन्य ज्ञान से भी नहीं जाना जा सकता है तो भी यह ज्ञान अप्रकाश रूप ज्ञानमय है। प्रत्यक्ष से उस बुद्ध ने को ऐसी बुद्धि थी अर्थात् उस बुद्ध ने प्रत्यक्ष से यह देखा था।
इसी प्रकार उसे चिंता भी नहीं होगी।

अव. १ ऐसा होने पर जो सिद्ध होता है, वह कहते हैं -

स्थिरत्वमित्थं न प्रेम्णो यतो मुख्यस्य युज्यते।
ततो वैराग्यसंसिद्धेर्मुक्तिरस्य नियोगतः ॥५७६॥

इस प्रकार मुख्य प्रेम का स्थिरत्व घटित नहीं होता है। इससे वैराग्य की सिद्धि होने से इस आत्मा की अवश्य मुक्ति होती है।

इस प्रकार कर्म का ह्रास होने से पुत्र-कलत्रादि बाह्य अर्थ विषयक, ~~प्रेम संसार~~ संसार का मुख्य ~~कर~~ कारण ऐसा प्रेम स्थिर नहीं है। वह प्रेम स्थिर न होने से ही वैराग्य की सिद्धि होती है तथा वैराग्य की सिद्धि से इस भु आत्मा की मुक्ति अवश्य होती है।

अव. श्लो. ५७३ से ग्रंथकार बौद्ध के सामने कर्म की सिद्धि कर रहे हैं। इस कर्म की सिद्धि में ही अन्य युक्ति कहते हैं -

बोधमात्रेऽद्वये तत्त्वे कल्पिते सति कर्मणि।
कथं तदास्या भावादि नेति सम्यग्विचिन्त्यताम् ॥५७७॥

अद्वय बोध मात्र परमार्थ होने पर और कर्म काल्पित होने पर इस मुक्ति के भावादि सदा क्यों नहीं होंगे? ऐसा आप

NOVEMBER 2016
W M T W T F S S
44 1 2 3 4 5 6
45 7 8 9 10 11 12 13
46 14 15 16 17 18 19 20
47 21 22 23 24 25 26 27
48 28 29 30
2016

सम्यग् रीति से विचार करो।

बौद्ध कर्म को नहीं मानते, वे उसे कल्पना मात्र कहते हैं। तथा मात्र बोध/ज्ञान को ही परमार्थ मानते हैं। यह बोध अद्वय है अर्थात् द्वित्व/द्विधा रहित है। बोध ही एक मात्र परमार्थ है, अन्य कोई नहीं। यह बौद्धों का मत है।

इस अब ग्रंथकार बौद्ध को कर्म की सिद्धि के लिए कहते हैं— यदि मात्र एक बोध ही परमार्थ है और कर्म कल्पित है तो जीव की संसार और मुक्ति अवस्था का कारण क्या है? या तो सदा संसार ही होना चाहिए अथवा सदा मुक्त ही होना चाहिए क्योंकि ~~कल्प~~ आपके ही सिद्धांत में कहा गया है कि अन्य किसी की अपेक्षा न होने से पदार्थों को नित्य सत् या असत् होना चाहिए, अन्य निमित्त की अपेक्षा से ही पदार्थों के कादाचित्कत्व का संभव है (प्रमाणवार्तिक 3-34, इस श्लोक की स्पष्टता श्लो.197 में Pg.133 पर देखें)। अतः यदि संसार और मुक्त अवस्था को कर्मादि निमित्त की अपेक्षा नहीं है तो वह सदा होना चाहिए अथवा नहीं होना चाहिए। किंतु आप भी ये अवस्थाएँ तो स्वीकारते ही हैं। अतः आपको इन अवस्थाओं के कादाचित्कत्व की सिद्धि कर्मादि रूप निमित्त से ही करना पड़ेगी।

~~तथा आप कर्म को कल्पित बोल से हैं किंतु आपके मत से भी शुभाशुभ कर्म को मान्य किया है — रागादि क्लेश~~

बौद्ध कर्म को काल्पित मानते हैं तथा संसार-मुक्त अवस्था की सिद्धि का कारण वे वासना को कहते हैं→ रागादि क्लेश से वासित चित्त ही संसार है तथा उनसे रहित वही चित्त मुक्त है।

इस प्रकार बौद्ध मत का खंडन पूर्ण हुआ।

10 Monday
OCTOBER
Week 41 284-082

*(अनुसंधान जोड़ें पृ.271 पर) अतः विकारक की योग्यता सिद्ध करने के लिए दो अलग-अलग विकारक का ही दृष्टांत लेना पड़ेगा। स्फटिक में विकार होता है किंतु वह विकार विकारक के अनुरूप ही होता है। जैसे- रक्त पर रूप उपाधि से स्फटिक भी रक्त दिखता है और नील पर से स्फटिक भी नील दिखता है। यदि विकारक की विकारकता न मानो तो स्फटिक की विकार्यता एक ही होने से (1) सभी प्रकार के विकारक से एक ही प्रकार का विकार होता, अलग-अलग नहीं। अथवा (2) दूसरी आपत्ति यह होती कि एक रक्त पर से कभी रक्त, कभी नील आदि अलग-अलग विकार होते। किंतु जगत् में ऐसा नहीं देखा जाता है।
विकार हमेशा विकारक के अनुरूप ही होता है। अतः विकारक की भी वैसी विकारकता स्वीकारना पड़ेगी।

अव. इस प्रकार बौद्ध मत के सामने श्लो.473 से शुरु की गई कर्मसिद्धि पूर्ण हुई। श्लो.463 (पृ.276) से शुरु किया गया बौद्ध मत का खंडन पूर्ण हुआ। अब एकांत नित्य मत के खंडन के लिए कहते हैं-

एवमेकान्तनित्योऽपि ह्यनात्मा नोपपद्यते।
स्थिरस्वभाव एकान्ताद् यतो नित्योऽभिधीयते ॥478॥

इस प्रकार एकांत नित्य आत्मा भी घटित नहीं होगा; क्योंकि एकांत से/सर्वथा स्थिर स्वभाव वाला आत्मा नित्य कहा जाता है।

अव. नित्य की व्याख्या कहने के बाद ~~इस~~ यह एकांत नित्य आत्मा किस स्वभाव वाला है? उसके चार संभवित देते हैं-

तदयं कर्तृभावः स्याद् भोक्तृभावोऽथवा भवेत्।
उभयानुभयभावो वा सर्वथापि न युज्यते ॥479॥

यह आत्मा (1) कर्ता स्वभाव वाला हो सकता है अथवा (2) भोक्ता स्वभाव वाला (3) उभय स्वभाव वाला अथवा (4) अनुभय स्वभाव वाला हो सकता है। इन चारों में से एक भी

NOVEMBER 2016
W M T W T F S S
44 1 2 3 4 5 6
45 7 8 9 10 11 12 13
46 14 15 16 17 18 19 20
47 21 22 23 24 25 26 27
48 28 29 30 - - - -
2016

विकल्प से घटित नहीं होगा।

अब क्रमशः चारों विकल्पों का खंडन करते हैं —

एकान्तकर्तृभावत्वे कथं भोक्तृत्वसम्भवः।
भोक्तृभावनियोगेऽपि कर्तृत्वं ननु दुःस्थितम् ॥५६०॥

एकांत कर्ता स्वभाव मानने पर भोक्ता स्वभाव कैसे संभव है? भोक्ता स्वभाव के नियम में भी कर्तृत्व सिद्ध नहीं होगा।

→ कर्तृभाव = कर्म ~~करने~~ करने का स्वभाव।
→ भोक्तृभाव = पूर्व में किए हुए कर्मों का फल भोगने का स्वभाव।

जगत् में आत्मा कर्म करता हुआ और पूर्वकृत कर्मों का फल भुगतता हुआ, दोनों रूप में देखा जाता है। अतः दोनों में से किसी एक को ही उसका स्वभाव मानने पर आपत्ति होगी।

न चाकृतस्य भोगोऽस्ति कृतं चाऽभोगमित्यपि।
उभयानुभयभावत्वे विरोधासम्भवौ ध्रुवौ ॥५६१॥

अकृत कर्म का भोग नहीं है और किए हुए का अभोग नहीं है। उभय और अनुभय स्वभाव मानने पर विरोध और असंभव निश्चित है। क्रमशः

पूर्व में नहीं किए हुए कर्म का भोग नहीं है ~~इसलिए~~ अतः मात्र भोक्ता स्वभाव नहीं मान सकते। तथा पूर्व में किए हुए कर्म का भोग नहीं होता, ऐसा नहीं है; भोग अवश्य होता है। अतः ~~ए~~ मात्र कर्ता स्वभाव नहीं मान सकते। इस प्रकार प्रथम दो विकल्पों का खंडन हुआ।

यदि उभय स्वभाव स्वीकारोगे तो विरोध होगा क्योंकि यही तो हमारा मत है। तो आपको हमारे मत को स्वीकारने रूप

2016
OCTOBER 2016
W M T W T F S S
39 31 1 2
40 3 4 5 6 7 8 9
41 10 11 12 13 14 15 16
42 17 18 19 20 21 22 23
43 24 25 26 27 28 29 30

12 Wednesday
OCTOBER

Week 41 286-080

विरोध होगा।
अनुभय स्वभाव मानने पर असंभव दोष होगा क्योंकि स्वभाव रहित वस्तु ही इस जगत् में असंभव है। जैसे- वंध्यापुत्र का कुछ स्वभाव नहीं होता।

* यहाँ उभय स्वभाव पक्ष में टीकाकार ने 'परमत अंगीकार रूप विरोध कहा है। यहाँ नित्य पक्ष का भी विरोध होगा अर्थात् यदि उभय स्वभाव मानोगे तो आपको नित्य मानना छोड़ देना पड़ेगा। नित्य में स्थिर एक स्वभाव होता है किंतु यहाँ उभय पक्ष में दो स्वभाव स्वीकारने पर उस आत्मा का स्वभाव बदलता रहेगा। स्वर्ग नरक में आत्म फल का भोक्ता होता है और मनुष्य-तिर्यंच में वह कर्म का कर्ता होता है। इस प्रकार स्वभाव बदलने से वह नित्य नहीं रहेगा, नित्यत्व खंडित हो जाएगा। अतः आपको अनित्य स्वीकारने रूप विरोध होगा।

अब. पुनः तीसरे उभयस्वभाव वाले विकल्प के आश्रय से कहते हैं- (* कि पूर्वपक्ष कहता है- आप भी तो उभय स्वभाव मानते हो। अतः आपके मत में भी उक्त विरोध होगा। तो ग्रंथकार इसका प्रत्युत्तर देते हैं-)

यत्तयोभयभावत्वेऽप्यभ्युपेतं विरुध्यते।
परिणामित्वसङ्गत्या न त्वागोऽत्रापरोऽपि वः॥५८२॥

उभय भाव होने पर भी अभ्युपेत परिणामित्व की संगति के साथ विरुद्ध है। आपका यहाँ दूसरा भी अपराध नहीं है।

ग्रंथकार प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं कि आप भी उभय स्वभाव मानते हो और हम भी उभय स्वभाव मानते हैं। अतः उभय स्वभाव होने पर भी आपके द्वारा स्वीकारा गया उभयस्वभावत्व हमारे परिणामित्व के साथ विरोधी है।

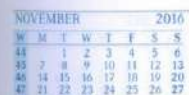

2016

आपके द्वारा उभय स्वभाव स्वीकारा गया होने पर भी आप उसे एकांत स्वरूप

मानते हो, जो पूर्वोक्त रीति से घटित नहीं होता है।
हम उभयस्वभावत्व मानते हैं और उसे परिणामित्व से संगत करते हैं। आत्मा द्रव्य रूप में अवस्थित रहते हुए ही अन्य परिणाम को प्राप्त करता है। इस परिणामित्व स्वभाव हमारे मत में दोष नहीं है।
उभय स्वभाव मानने पर भी परिणामित्व न स्वीकारना ही आपका अपराध है। अन्य कोई अपराध नहीं है।

* यहाँ मूल श्लोक में 'आगस्' शब्द नपुंसक लिंग है और 'अपर' सर्वनाम का पुंल्लिंग रूप है। दोनों को विशेषण-विशेष्य बताया है (टीका में)। (???)
श्लोकार्थ → ~~तथ~~ वैसा उभय भाव होने पर भी आपके द्वारा स्वीकारा गया विरुद्ध है। परिणामित्व द्वारा संगति करने से इसमें ~~क~~ अपराध नहीं होगा। और आपको दूसरा भी दोष है (श्लो. ५८३) के साथ संबंध है)।

अब श्लो: ५७९ (Pg. 286) में दर्शाए गए चार विकल्पों का खंडन कर अब ग्रंथकार एकांत नित्य मत में अन्य भी दोष दिखाते हैं-

एकान्तनित्यरूपां तु तत्तथैकत्वभावतः।
भवापवर्गभेदोऽपि न मुख्य उपपद्यते ॥५८३॥

एकांत नित्यता मानने पर तो उस आत्मा का वैसा ही एक स्वरूप होने से संसार और मोक्ष का भेद भी अनुपचरित नहीं घटेगा।

एकांत नित्य होने से आत्मा का स्वरूप कभी नहीं बदलेगा और स्वरूप नहीं बदलने से संसार और मोक्ष में जो भेद है, वह वास्तविक नहीं होगा, मात्र कहने में ही भेद रहेगा।

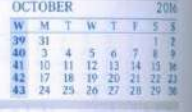

14 Friday
OCTOBER
Week 41 288-078

अव. संसार-मोक्ष का भेद अनुपचरित क्यों नहीं घटेगा ? —

स्वभावापगमे यस्माद् व्यक्तैव परिणामिता।
तथाऽनुपगमे त्वस्य रूपमेकं सदैव हि ॥५४५॥

क्योंकि स्वभाव बदलने पर परिणामिता स्पष्ट ही है। परिणामिता से इस स्वभाव ~~को~~ अपगम न स्वीकारने पर सदा ही एक रूप रहेगा।

यदि आप ऐसा मानोगे कि मुक्त होने पर संसार का स्वभाव दूर हो जाता है तो आत्मा परिणामी है, यह सिद्ध हो जाएगा। अतः आपका एकांत नित्यत्व नष्ट हो जाएगा।
और यदि इस परिणामीपन से इस स्वभाव के बदलने को नहीं स्वीकारोगे तो ~~मुक्तावस्था में भी संसार का स्वभाव~~ एक जैसा ही हमेशा रहेगा। (अस्य = स्वभावापगम) अतः संसार-मोक्ष में कुछ भेद नहीं रहेगा।

तत्पुनर्भाविकं वा स्यादापवर्गिकमेव वा।
आकात्यमेकमेतर्हि भवमुक्ती न सङ्गते ॥५४६॥

और वह एक स्वभाव सांसारिक हो अथवा आपवर्गिक हो, हमेशा यह एक ही रहेगा। इससे संसार और मुक्ति संगत नहीं होगी।

ऊपर कहा कि परिणामिता न मानने पर आत्मा का सदा एक ही स्वभाव रहेगा। वह एक स्वभाव चाहे संसार संबंधी हो अथवा मोक्ष संबंधी हो, वह स्वभाव ही हमेशा रहेगा। अतः संसार और मुक्ति संगत नहीं होगी, क्योंकि इन दोनों में स्वभाव का अंतर अवश्य होना चाहिए।

अव. ~~इस~~ संसार-मोक्ष अवस्था को संगत करने के लिए तं सांख्य क्या उत्तर देते हैं, यह बताकर उनका खंडन करते हैं —

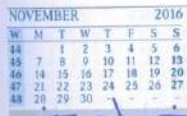

बन्धाच्च भवसंसिद्धिः सम्बन्धश्चित्रकार्यतः।
तस्यैकान्तैकभावत्वे न त्वेषोऽप्यनिबन्धनः ॥५४७॥

2016

बंध से संसार की सिद्धि होती है और विचित्र कार्य से संबंध होता है।

उस आत्मा का एकांत से एक स्वभाव होने पर यह संबंध भी कारण-रहित नहीं घटेगा।

श्लो॰ ५४६ में कहा कि संसार और मुक्ति संगत नहीं होगी। उसका उत्तर देते हुए सांख्य कहता है कि बंध से संसार होता है। पुनः ग्रंथकार पूछते हैं- बंध कैसे होता है? ३ तो सांख्य कहता है कि बंध विचित्र कार्य से होता है अर्थात् वह संसार में विचित्र कार्य करता है, उससे उसे कर्मबंध होता है।
पुनः ग्रंथकार प्रत्युत्तर देते हैं कि आपके मत में उस आत्मा का एकांत से एक ही स्वभाव है अर्थात् हमेशा एक ही स्वभाव रहता है। इसलिए विचित्र कार्य वह नहीं कर सकता। और विचित्र कार्य नहीं होने से उसे बंध का कारण ही उपस्थित नहीं होता, जिससे उसे बंध भी घटित नहीं होता क्योंकि बंध विचित्र परिणामों से ही होता है। अतः यह बंध घटित नहीं होगा क्योंकि उसका कारण ही उपस्थित नहीं है।

अब ४ सांख्य के मत में बंध कैसे घटित होता है, वह बताकर उसका खंडन करते हैं-

नृपस्येवाभिधानाद् यः सातबन्धः प्रकीर्त्यते।
अहिशङ्काविषज्ञाताच्चेतरोऽसौ निरर्थकः ॥५४७॥

राजा की तरह कहने से जो साता का बंध और अहिशंकाविष के दृष्टांत से अन्य असाता का बंध कहा जाता है, यह बंध निरर्थक है।

सांख्य संकल्प मात्र बंध मानते हैं। जैसे- कोई पुरुष राजा नहीं है, उसे संकल्प से 'यह राजा है' ऐसा कहने पर साता का बंध होता है क्योंकि शुभ कहा है; और स्वयं को सर्प डँसा न होने पर भी 'मैं इस सर्प द्वारा डँसा गया' इस प्रकार विषयुक्त मन वाला होने से असाता का बंध होता है। ऐसे जीव

* अब. ऐसे श्लो. ५४३ से यहाँ तक बंध-मोक्ष की असंगतता दर्शाकर अब योगमार्ग 292 में भी आपत्ति देते हैं-

16 Sunday
OCTOBER

Week 41 290-076

को मात्र संकल्प के भेद से बंध होता है।
इसका प्रत्युत्तर देते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि यह बंध भी निरर्थक है क्योंकि आत्मा का एकांत से नित्य स्वभाव होने पर ~~xx~~ संकल्प का यह भेद भी संभव ही नहीं है अर्थात् एक स्वभाव होने से हमेशा संकल्प भी एक रहेगा, वह बदल नहीं सकता।

** एवं च योगमार्गोऽपि मुक्तये यः प्रकल्प्यते।
सोऽपि निर्विषयत्वेन कल्पनामात्रभद्रकः ॥५४४॥

इस प्रकार मुक्ति के लिए जो योगमार्ग भी कल्पित किया जाता है, वह भी विषय रहित होने से मात्र कल्पना है।

ऐसा एक स्वभाव होने पर मुक्त होने के लिए जो योगमार्ग भी आप कहते हो, वह भी मात्र कल्पना ही सिद्ध होगा क्योंकि आत्मा का स्वभाव कभी ~~x~~ न बदलने से उस योगमार्ग का कोई विषय नहीं है।

अब. योगमार्ग मात्र कल्पना कैसे है? वह कहते हैं-

दिदृक्षादिनिवृत्त्यादि पूर्वसूर्युदितं तथा।
आत्मनोऽपरिणामित्वे सर्वमेतदपार्थकम् ॥५४५॥

आत्मा का अपरिणामित्व मानने ~~xx~~ पर पूर्वसूरि द्वारा कहा गया यह दिदृक्षादि की निवृत्त्यादि सब निरर्थक है।

दिदृक्षा, भवबीज, वासना, अविद्या आदि की निवृत्ति-प्रवृत्ति आदि जो पतंजलि वगैरह पूर्व आचार्यों द्वारा कही गई है, यह सब आत्मा को परिणामी न मानने पर निरर्थक होगा, घटित नहीं होगा।

NOVEMBER 2016

अब. इस प्रकार श्लो. ५१४ से शुरु एकांत नित्य मत का खंडन पूर्ण हुआ। अब ग्रंथकार योगमार्ग कैसे घटित होगा, वह बताते हुए स्वमत दर्शाते हैं-

परिणामिन्यतो नीत्या चित्रभावे तथाऽऽत्मनि।
अवस्थाभेदसंगत्या योगमार्गस्य सम्भवः ॥५७०॥

अतः युक्ति से विचित्र स्वभाव वाली और परिणामी आत्मा में अवस्था भेद की संगति से योगमार्ग का संभव है।

इस प्रकार आत्मा को परिणामी नित्य मानने पर योगमार्ग घटित होगा, जिसमें अवस्था भेद संगत होगा।

तत्स्वभावत्वतो धम्मादस्य तात्त्विक एव हि।
क्लिष्टस्तदन्यसंयोगात् परिणामो भवावहः ॥५७१॥

इस परिणामी आत्मा का वैसा स्वभाव होने से आत्मा से अन्य ऐसे कर्म के संयोग से संसार को लाने वाला क्लिष्ट परिणाम तात्त्विक। वास्तविक ही घटेगा।

स योगाभ्यासजेयो यत् तत्क्षयोपशमादितः।
योगोऽपि मुख्य एवेह शुद्ध्यवस्थात्मलक्षणः ॥५७२॥

क्षयोपशमादि से योगाभ्यास द्वारा वह क्लिष्ट परिणाम जेय है। इसलिए शुद्धि अवस्था रूप स्वलक्षण वाला वह योग भी मुख्य ही है।

वह क्लिष्ट परिणाम कर्म-क्षयोपशमादि से योग का अभ्यास करने द्वारा जीतने योग्य है। इसलिए वह योग भी मुख्य ही घटित होगा, वास्तविक ही होगा। तथा शुद्धि रूप अवस्था ही उस योग का स्वलक्षण है।

तत्तस्तथा तु साध्वेव तदवस्थान्तरं परम्।
तदेव तात्त्विकी मुक्तिः स्यात्तदन्यवियोगतः ॥५७३॥

उस योग से उस प्रकार उस आत्मा का अवस्थान्तर सुंदर ही है। श्रेष्ठ अवस्थान्तर ही तात्त्विक मुक्ति है, वह तदन्य

18 Tuesday
OCTOBER
Week 42 292-074

ऐसे कर्म के वियोग होती है।

उस योग से शुद्धि बढ़ने से उस आत्मा का अवस्थान्तर होता है। यह अवस्थान्तर गुणस्थानक के क्रम से सुंदर होता है। अंत में प्रकृष्ट अवस्थान्तर ही तात्त्विक / वास्तविक मुक्ति है। वह कर्म के वियोग से होती है।

अत एव च निर्दिष्टं नामास्यास्तत्त्ववेदिभिः।
वियोगोऽविद्यया बुद्धिः कृत्स्नकर्मक्षयस्तथा ॥५७५॥

यह मुक्ति कर्म के वियोग से होती है इसलिए ही तत्त्ववेदी योगियों द्वारा इस मुक्ति के अविद्या से वियोग, बुद्धि तथा संपूर्णकर्मक्षय, ऐसे नाम कहे गए हैं।

→ अविद्या से वियोग = वेदान्त मत में।
→ बुद्धि = बौद्ध मत में।
→ कृत्स्नकर्मक्षय = जैन मत में।

अब. कर्मक्षय से जो समाधि उत्पन्न होती है, उसे कहते हैं-

शैलेशी संज्ञिताच्चेह समाधिरुपजायते।
कृत्स्नकर्मक्षयः सोऽयं गीयते वृत्तिसंक्षयः ॥५७६॥

यहाँ शैलेशी नामक करण से समाधि उत्पन्न होती है। यह संपूर्ण कर्मक्षय ही वह वृत्तिसंक्षय कहा जाता है। (जिसका विशेष वर्णन श्लो. ५०८ Pg. 243 से शुरु किया था।)

अब. समाधि और मुक्ति में भेद बताते हैं-

तथा तथा क्रियाविष्टः समाधिरभिधीयते।
निष्ठाप्राप्तस्तु योगज्ञैर्मुक्तिरेष उदाहृतः ॥५७६॥

कर्मक्षय करने के लिए उस-उस प्रकार से क्रिया में प्रवृत्त योग समाधि कहा जाता है। समाधि को प्राप्त योग ही

NOVEMBER 2016
W M T W T F S S
44 1 2 3 4 5 6
45 7 8 9 10 11 12 13
46 14 15 16 17 18 19 20
47 21 22 23 24 25 26 27
48 28 29 30 - - -
2016

मुक्ति कहा जाता है।

अव. निष्ठाप्राप्त योग मुक्ति क्यों कहा जाता है? –

संयोगयोग्यताऽभावो यदिहात्मतदन्ययोः।
कृतो न जातु संयोगो भूयो नैवं भवस्ततः ॥५९७॥

निष्ठाप्राप्त योग ही मुक्ति कहा जाता है क्योंकि यहाँ आत्मा और उससे अन्य कर्म के संयोग की योग्यता का अभाव किया गया। पुनः यह संयोग कभी नहीं होगा क्योंकि योग्यता ही नहीं है। पुनः संयोग न होने से संसार भी पुनः नहीं होगा।

योग्यतात्मस्वभावस्तत् कथमस्या निवर्तनम्।
तत्तत्स्वभावतायोगादेतल्लेशेन दर्शितम् ॥५९८॥

योग्यता आत्मा का स्वभाव है तो इस योग्यता का निवर्तन कैसे होगा? उस-उस स्वभावता के योग से यह निवर्तन लेश से बताया गया है।

पूर्वपक्ष प्रश्न करता है कि आत्मा-कर्म संयोग की योग्यता भी आत्मा का ही स्वभाव है, अतः इसकी निवृत्ति कैसे होगी? क्योंकि स्वभाव की कभी निवृत्ति नहीं होती।
ग्रंथकार उत्तर देते हैं – उस योग्यता का वैसा ही स्वभाव है कि संवर होने पर उस योग्यता का निवर्तन होता है। स्वभाव का यह निवर्तन हम पहले ही परिणामीपन की सिद्धि में बता चुके हैं। आत्मा द्रव्य रूप में अवस्थित रहते हुए भी अन्य परिणाम को प्राप्त करता है। इसी प्रकार योग्यता का निवर्तन भी घटित होता है।

स्वनिवृत्तिः स्वभावश्चेदेवमस्य प्रसज्यते।
अस्त्वेवमपि नो दोषः काश्चिदत्र विभाव्यते ॥५९९॥

पू.-ऐसा होने पर इस आत्मा का स्वनिवृत्ति रूप स्वभाव ही प्रसक्त होगा। उ.-ऐसा भी होने दो, हमें यहाँ कोई दोष नहीं है,

20 Thursday
OCTOBER
Week 42 294-072

इसकी विचारणा की जाती है।

पूर्वपक्ष - ऐसे स्वभाव की निवृत्ति मानने पर इस आत्मा का स्वनिवृत्ति रूप स्वभाव होगा।
उत्तरपक्ष - ऐसा होने पर भी होने दो अर्थात् स्वनिवृत्ति रूप स्वभाव भी होने दो, हमें कोई दोष नहीं है।

अ. हमें कोई दोष क्यों नहीं है? -

परिणामित्व एवैतत् सम्यगस्योपपद्यते।
आत्माभावेऽन्यथा तु स्यादात्मसत्तेत्यदश्च न॥ ७००॥

परिणामित्व होने पर ही यह स्वभावनिवर्तन सम्यग् रीति से घटित होता है। अन्यथा आत्मा के अभाव में आत्मा की सत्ता होगी, यह योग्य नहीं है।

इस आत्मा का परिणामिपन होने पर ही यह योग्यता रूप स्वभाव का निवर्तन सम्यक् रीति से घटित होता है। ~~अ~~ अर्थात् योग्यतावाली आत्मा नष्ट होकर योग्यता रहित आत्मा उत्पन्न हुई, तथापि आत्मा आत्मा रूप में तो अवस्थित ही है, ऐसा परिणामित्व मानने पर कोई दोष नहीं है।
अन्यथा यदि परिणामित्व नहीं मानते तो योग्यता रूप स्वभाव का निवर्तन होने से आत्मा का भी अभाव हो जाता है। ~~अर्थ~~ अतः मुक्ति में आत्मा की सत्ता अभाव रूप होती और यह तो योग्य नहीं है क्योंकि आत्मा सदा भावाभाव रूप है। अतः परिणामिपन स्वीकारना आवश्यक है।

अ. स्वभावनिवृत्ति होने पर भी परिणामित्व होता है, ऐसा सिद्ध करते हैं -

स्वभावविनिवृत्तिश्च स्थितस्यापीह दृश्यते।
घटादेर्नवतात्यागे तथा तद्भावसिद्धितः॥ ७०१॥

NOVEMBER 2016
W M T W T F S S
44 1 2 3 4 5 6
45 7 8 9 10 11 12 13
46 14 15 16 17 18 19 20
47 21 22 23 24 25 26 27
48 28 29 30

2016

घटादि के नवता के त्याग में भी घट होने की सिद्धि से स्थित द्रव्य की

भी यहाँ स्वभावनिवृत्ति देखी जाती है।

घर नए से पुराना होता है, ऐसे उसमें से नवीनता का त्याग होता है तो भी घर ही कहलाता है। नवीनता रूप धर्म का त्याग होने पर भी घर का अभाव नहीं होता, घर अवस्थित ही रहता है। इस प्रकार अवस्थित द्रव्य का भी परिणामित्व दिखता है।

नवतायां न चाऽत्यागस्तथा नातत्स्वभावता।
घटादेर्न न तद्भाव इत्यत्रानुभवः प्रभा ॥५०२॥

नवीनता का अत्याग नहीं है तथा ~~वह~~ उस नवीनता की तत्स्वभावता नहीं है, ऐसा भी नहीं है। घटादि का तद्भाव नहीं है, ऐसा भी नहीं है। इसमें अनुभव ही प्रमाण है।

घर नया से पुराना होता है, इसलिए नवीनता का त्याग होता ही है, अत्याग नहीं। तथा यह नवीनता घर का स्वभाव नहीं है, ऐसा भी नहीं है अर्थात् वह घर का स्वभाव ही है। तथा घटादि का तद्भाव अर्थात् पुराना होने के बाद घर घर नहीं रहता है, ऐसा भी नहीं है; वह घर घर ही रहता है। यह सब प्रत्यक्ष अनुभव होने से प्रमाण है।

अब. ऐसे श्लो. ५७१ से यहाँ तक स्वभावनिवर्तन सिद्ध कर पुनः योग्यतापगम वाले विषय में जोड़ते —

योग्यतापगमेऽप्येवमस्य भावो व्यवस्थितः।
सर्वौत्सुक्यविनिर्मुक्तः स्तिमितोदधिसन्निभः ॥५०३॥

इस प्रकार योग्यता का अपगम होने पर भी इस आत्मा का सभी उत्सुकता से रहित और स्थिर समुद्र समान भाव अवस्थित रहता है।

2016

22 Saturday
OCTOBER
Week 42 296-070

एकान्तक्षीणसंक्लेशो निष्ठितार्थस्ततश्च सः।
निराबाधः सदानन्दो मुक्तावात्माऽवतिष्ठते ॥ ५०५॥

इसके बाद एकांत से क्षीण संक्लेश वाला, निष्ठितार्थ, निराबाध, सदानन्द ऐसा वह आत्मा मुक्ति में अवस्थित रहता है।

→ एकांतक्षीणसंक्लेश = सभी तरह से संक्लेश क्षीण हो गए हैं जिसके।
→ निष्ठितार्थ = जिसके सभी प्रयोजन पूर्ण हो गए हैं, कृतकृत्य।
→ निराबाध = सभी आबाधा / संकट से रहित।
→ सदानंद = सभी काल में आनंद वाला।

अस्यावाच्योऽयमानन्दः कुमारीस्त्रीसुखं यथा।
अयोगी न विजानाति सम्यग्जात्यन्धवद् घटम् ॥ ५०६॥

इस आत्मा को यह आनंद कुमारीस्त्री के सुख की तरह अवाच्य होता है। जैसे जात्यन्ध पुरुष घट की सम्यक् तरह अयोगी सम्यग् नहीं जान सकते।

आज तक जिस कुमारी ने पुरुषसंयोग के सुख का अनुभव नहीं किया, उसे यह सुख अवाच्य होता है; वैसे ही यह आनंद इस आत्मा को अवाच्य होता है, उसे व्यक्त ही नहीं कर सकते। इसलिए ही अयोगी इस आनंद को कभी भी सम्यक्रीति से नहीं जान सकता, जैसे जात्यन्ध पुरुष घर को नहीं जान सकता।

योगस्यैतत् फलं मुख्यमैकान्तिकमनुत्तरम्।
आत्यन्तिकं परं ब्रह्म योगविद्भिरुदाहृतम् ॥ ५०७॥

योगविद् पुरुषों द्वारा योग का यही फल ऐकान्तिक, अनुत्तर, आत्यन्तिक पर ब्रह्म ही योग का मुख्य फल कहा गया है।

NOVEMBER 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
44		1	2	3	4	5	6
45	7	8	9	10	11	12	13
46	14	15	16	17	18	19	20
47	21	22	23	24	25	26	27
48	28	29	30	-	-	-	-

2016

→ मुख्य = अनुपचरित।

→ ऐकान्तिक = एकान्त से होने वाला।
→ अनुत्तर = सभी फल में अतिशायी।
→ आत्यन्तिक = अत्यंत रीति से होने वाला।
→ पर ब्रह्म = श्रेष्ठ सिद्धत्व।

ऐकान्तिक यानी एकमात्र सिद्धत्व होना, दूसरा कुछ मिश्र नहीं होना। आत्यन्तिक यानी बीच-बीच में अंतर नहीं होना।

अब. उपसंहार कहते हैं-

सद्गोचरादिसंशुद्धिरेषाऽऽलोच्येह धीधनैः।
साध्वी चेत्प्रतिपत्तव्या विद्वत्ताफलकाङ्क्षिभिः॥507॥

इस प्रकार सद्गोचरादि की यह संशुद्धि यहाँ बुद्धिमानों द्वारा विचारी जाना चाहिए। यह यदि यह संशुद्धि संगत है तो विद्वत्ता के फल की इच्छा वाले पुरुषों द्वारा स्वीकारी जाना चाहिए।

श्लो. 5 में योग की शुद्धि तीन प्रकार से कही थी - विषय, स्वरूप और फल (Pg.5)। वह संशुद्धि बुद्धिमान पुरुषों को विचारना चाहिए और यदि संगत हो तो स्वयं की विद्वत्ता के फल के इच्छुक पुरुषों द्वारा स्वीकारी जाना चाहिए।

अब. विद्वत्ता के फल के इच्छुक पुरुषों को ही यह क्यों स्वीकारना चाहिए?-

विद्वत्तायाः फलं नान्यत् सद्योगाभ्यासतः परम्।
तथा च शास्त्रसंसार उक्तो विमलबुद्धिभिः॥508॥

विद्वत्ता का सद्योग के अभ्यास से श्रेष्ठ अन्य श्रेष्ठ कोई फल नहीं है। तथा विमलबुद्धि वाले पुरुषों द्वारा शास्त्र ही संसार कहे गए हैं।

विद्वानों को सद्गोचरादि से संशुद्ध योग स्वीकारना चाहिए क्योंकि विद्वत्ता का सद्योग के अभ्यास से श्रेष्ठ अन्य कोई फल नहीं है। यदि शास्त्र पढ़ने के बाद भी

* पूरे ग्रंथ का उपसंहार करते हुए कहते हैं- 300

योग का अभ्यास न करे तो निर्मल बुद्धि वाले पुरुषों द्वारा उन शास्त्रों को ही संसार कहा गया है।

अत: शास्त्र ही संसार कैसे हैं?—

पुत्रदारादिसंसारः पुंसां सम्मूढचेतसाम्।
विदुषां शास्त्रसंसारः सद्योगरहितात्मनाम् ॥509॥

मूढ चित्त वाले पुरुषों को पुत्र-स्त्री आदि संसार हैं। सद्योग से रहित आत्मा वाले विद्वानों को शास्त्र ही संसार है।

मूढचित्त वाले यानी तत्त्वज्ञान से रहित बुद्धि वाले पुरुषों के लिए पुत्र-स्त्री आदि ही संसार है क्योंकि वे भवभ्रमण के हेतु हैं। तथा सद्योग से रहित यानी शुद्ध योग के अभ्यास से रहित विद्वान पंडितों को शास्त्र ही संसार है।

*↑

कृतमत्र प्रसङ्गेन प्रायेणोक्तं तु वाञ्छितम्।
अनेनैवानुसारेण विज्ञेयं शेषमन्यतः ॥510॥

यहाँ अधिक विस्तार से क्या? पर्याप्त है। प्रायः कहने के लिए इच्छित वस्तु तो कह दी है। शेष नहीं कहा गया भी इसी अनुसार अन्य ग्रंथों से जानना।

एवं तु मूलशुद्ध्येह योगभेदोपवर्णनम्।
चारुमात्रादिसत्पुत्रभेदव्यावर्णनोपमम् ॥511॥

इस प्रकार सुंदर माता आदि के सत्पुत्र के भेद के व्यावर्णन की उपमा वाला मूलशुद्धि से योगभेदों का उपवर्णन ~~किया~~ है।

सुंदर यानी जाति-कुल-शील आदि से शुद्ध माता-पिता के सत्पुत्रों के भेद/विशेषों के वर्णन समान यह मूल विषयादि की शुद्धि से योग के भेदों का वर्णन है। सभी जगह कारण शुद्ध होने पर ही कार्य शुद्ध होता है। जैसे- माता-पिता जाति-

कुल - शील आदि से शुद्ध होने पर उनके पुत्र भी सज्जन होते हैं। इसी प्रकार सामान्य से योग के विषय - स्वरूप आदि शुद्ध होते हैं, तो उनके अध्यात्मादि भेद भी शुद्ध होते हैं।

अन्यद् वान्ध्येयभेदोपवर्णनाकल्पमित्यतः।
न मूलशुद्ध्यभावेन भेदसाम्येऽपि वाचिके ॥ ५।२॥

अन्य वर्णन वंध्यापुत्र के भेद के उपवर्णन समान है, इसलिए वह योगभेद का वर्णन ही नहीं है क्योंकि भेदों का वाचिक साम्य होने पर भी मूलशुद्धि का अभाव है।

अन्य दर्शनी द्वारा भी अध्यात्मादि भेदों का वर्णन किया जाता है किंतु उनमें विषय - स्वरूप और फल शुद्ध नहीं होता। इसलिए योग के भेदों में शाब्दिक/नाम समान होने पर भी उनका मूल्य शुद्ध नहीं होता। अतः अन्य योगभेदवर्णन वंध्यापुत्र के वर्णन समान है, इसलिए वह वस्तुतः योगभेद का वर्णन ही नहीं है। (योगभेदोपवर्णन ऊपर वाले श्लोक से अध्याहार है।)

अब वंध्यापुत्र के वर्णन समान योगभेदों के वर्णन का दृष्टांत बताते हैं -

यथेह पुरुषाद्वैते बद्धमुक्ताऽविशेषतः।
तदन्याऽभावनादेव तद्वैतेऽपि निरूप्यताम् ॥ ५।३॥

जैसे - पुरुषाद्वैत मत में बद्ध और मुक्त जीवों में भेद न होने से वंध्यापुत्र समान योगभेदवर्णन है। पुरुष से अन्य का अभाव होने से ही पुरुषाद्वैत मत में वैसे ही वर्णन का निरूपण करो।

पुरुषाद्वैत मत - इस जगत् में मात्र एक पुरुष ही सत् है, वही मुक्त है। शेष सभी संसारी जीव उसके अंश हैं। इस प्रकार इस मत में बद्ध (संसारी) और मुक्त जीव एक ही है इसलिए पुरुषाद्वैत कहा जाता है।

इस मत में बद्ध और मुक्त जीव एक ही होने से इसमें विषय,

आदि शुद्धि नहीं है। अतः योग का वर्णन वंध्यापुत्र वर्णन समान है।

पुरुषाद्वैत- बौद्ध बद्ध और मुक्त जीवों में तो भेद मानते हैं किंतु ज्ञान से अन्य कर्म आदि का अभाव मानते हैं। अतः इस मत में भी विषयादि शुद्ध न होने से योगभेद का वर्णन वंध्यापुत्र वर्णन समान है।

अव. क्रमशः इन दो मतों को विशेष से दूषित करेंगे –

अंशावतार एकस्य कुत एकत्वहानितः।
निरंश एक इत्युक्तः स चाद्वैतनिबन्धनम् ॥ ६।५॥

एक के ही अंशों का अवतार एकत्व की हानि होने से कैसे होता है? एक निरंश होता है, ऐसा कहा गया है और वह अद्वैत का कारण है।

आपके मत में एक मुक्त आत्मा के ही अंशों का संसार में अवतार होता है। यदि वह एक ही है तो उसके अंशों का अवतार कैसे होगा? यदि अंशों का अवतार मानोगे तो उसके एकत्व की हानि हो जाएगी अर्थात् वह एक नहीं बचेगा, उसके टुकड़े हो जाएँगे। क्योंकि निरंश, निरवयव अर्थात् अवयव रहित को ही एक कहा जाता है और ऐसा निरंश एक ही अद्वैत का कारण है।

मुक्तांशत्वे विकारित्वमंशानां नोपपद्यते।
तेषां चेहाऽविकारित्वे सन्नीत्या मुक्ततांशिनः ॥ ६।६॥

मुक्त के अंश होने पर अंशों का विकारित्व घटित नहीं होता है क्योंकि उनका अविकारित्व होने पर ही वे युक्ति से मुक्त के अंशी हैं।

ग्रंथकार पुनः पुरुषाद्वैतवादी को अन्य दोष बताते हैं –

यदि संसारी जीव मुक्त के अंश हैं तो अंशों का विकारित्व घटित नहीं होता है अर्थात् संसारी जीव विकारी कैसे हो गए? उन्हें विकारी नहीं होना चाहिए।

यदि ये जीव अविकारी होते तो युक्ति से यह स्वीकार सकते हैं कि ये जीव मुक्तता के अंशी हैं अर्थात् इन जीवों में मुक्तता का अंश है। अतः इनके विकारी होने से भी ये मुक्त आत्मा के अंश रूप सिद्ध नहीं होते।

अब पुरुषाद्वैत वादी को पूछा कि वे अंश मुक्त आत्मा से भिन्न हैं या अभिन्न हैं? इस प्रश्न का उसने जो उत्तर दिया वह बताकर उसका खंडन करते हैं –

समुद्रोर्मिसमत्वं च यदंशानां प्रकल्प्यते।
न हि तद्भेदकाभावे सम्यग्युक्त्योपपद्यते॥ ५।६॥

अंशों का समुद्र की ऊर्मि से ~~जो~~ जिस समत्व की कल्पना की जाती है, वह समत्व भेदक के अभाव में युक्ति से घटित नहीं होता है।

ग्रंथकार – वे अंश मुक्तात्मा से भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं?
पुरुषाद्वैतवादी – जैसे समुद्र की लहरें समुद्र से भिन्न नहीं हैं किंतु वे समुद्र ही हैं, इसी प्रकार ये अंश भी लहरों के समान मुक्तात्मा से भिन्न नहीं है, अभिन्न ही है।
इस प्रकार पुरुषाद्वैतवादी द्वारा अंशों का समुद्र की ऊर्मियों के साथ समत्व की कल्पना की जाने पर ग्रंथकार उसे प्रत्युत्तर देते हैं –
समुद्र की लहरें वायु रूप भेदक होने पर अलग-अलग होती हैं। इसलिए हमें सब लहरें भिन्न-भिन्न दिखती हैं। इसी प्रकार सभी अंश मुक्तात्मा से अभिन्न होने पर भी प्रत्येक अंश हमें भिन्न दिखते हैं किंतु इन्हें भिन्न करने वाला कोई भेदक तो है ही नहीं। अर्थात् जैसे समुद्र में वायु लहरों का भेदक है, वैसे इन अंशों का भेदक कोई नहीं है।
अतः भेदक के अभाव में यह समुद्र ऊर्मि का समत्व युक्ति से घट नहीं सकता।

28 Friday
OCTOBER
Week 43 302-064

अब उन अंशों में तात्त्विक भेद मानना ही पड़ेगा, ऐसा अन्य युक्ति सिद्ध करते हैं:-

सदाद्यमत्र हेतुः स्यात् तात्त्विके भेद एव हि।
प्रागभावादिसंसिद्धेर्न सर्वथाऽन्यथा त्रयम्॥5।7॥

तात्त्विक भेद होने पर ही प्रागभाव आदि की सिद्धि होने से यहाँ सत् प्रथम हेतु है। अन्यथा तीनों सर्वथा नहीं होते।

समुद्र ~~की~~ ऊर्मि और भेदक, इस प्रकार इन तीनों का प्रथम कारण संग्रह नय से समुद्र ही है, वैसे ही मुक्तात्मा के अंश और भेदक, इनका कारण संग्रह नय से सत् ही है।
~~यदि अंशों में~~ समुद्र और ऊर्मि में तात्त्विक भेद मानने पर ही यह सिद्ध होगा कि ऊर्मि समुद्र में उत्पन्न नहीं हुई थी, ~~अब~~ तब तक उसमें उसका प्रागभाव था। ठहर गई तब ठहर का समुद्र में ध्वंसाभाव है। इस प्रकार उन दोनों में वास्तविक भेद मानने पर ही ~~इ~~ प्रागभावादि की सिद्धि होती है। इसी तरह मुक्तात्मा और अंशों में वास्तविक भेद मानने पर ही ~~सम~~ प्रागभावादि की सिद्धि होती है।
इस तरह प्रागभावादि की सिद्धि होने से इस भेद का पहला कारण संग्रह नय से सत् को मान सकते हैं। इससे आपके ~~इ~~ और हमारे मत में समन्वय हो जाएगा। आप सत् ~~के~~ रूप में एक भी मान सकते हो और वास्तविक भेद मानने से प्रागभावादि की सिद्धि भी हो जाएगी।
अन्यथा यदि वास्तविक भेद नहीं मानो तो प्रागभावादि की सिद्धि नहीं होगी क्योंकि भेद न होने से समुद्र और ऊर्मि एक ही हो जाएगी तथा एक ही होने पर स्व का स्व में प्रागभाव आदि नहीं रहता। अतः वास्तविक भेद न होने से प्रागभावादि की सिद्धि नहीं होगी और उसकी सिद्धि न होने से समुद्र, ऊर्मि और भेदक ये तीनों सर्वथा नहीं होंगे अर्थात् तीनों एक ही हो जाएँगे। ठीक इसी तरह मुक्तात्मा और अंशों में भी

NOVEMBER 2016
W M T W T F S S
44 1 2 3 4 5 6
45 7 8 9 10 11 12 13
46 14 15 16 17 18 19 20
47 21 22 23 24 25 26 27
48 28 29 30
2016

वास्तविक भेद नहीं मानने पर इनके भी प्रागभावादि की सिद्धि नहीं होगी। अतः ये तीनों सर्वथा घटित नहीं होंगे।

सत्त्वाद्यभेद एकान्ताद् यदि तद्भेददर्शनम्।
भिन्नार्थप्रभवदेवेति तद्वदद्वैतदर्शनम् ॥ ५।८॥

~~यदि~~ एकांत से तत्त्वादि का अभेद होने पर ~~च~~ यदि वह ~~भेद~~ भिन्न आलंबन वाला भेददर्शन असत् ही है तो उसी प्रकार यह अद्वैत दर्शन भी ~~अभेद~~ असत् ही है।

आप एकांत से सत्त्व मानने का अभेद मानते हो और जगत् में जो भेद दिखता है वह भिन्न आलंबन वाला होने से असत् मानते हो। यदि आप जगत् में दिखते भेद को असत् मानते हो तो जैसे आप भेद को असत् मानते हो, वैसे ही आपका अद्वैत दर्शन भी असत् ही है।

अव॰ श्लो॰ ५।३ (Pg. 301) में दो मत की बात की थी - पुरुषाद्वैत मत और बौद्ध का मात्र पुरुष को स्वीकारने वाला मत। इनमें से पहले मत का खंडन पूर्ण हुआ। अब दूसरे मत का खंडन करते हैं -

यदा नार्थान्तरं तत्त्वं विद्यते किञ्चिदात्मनाम्।
मालिन्यकारि तत्त्वेन न तदा बन्धसम्भवः ॥ ५।९॥

यदि ~~आत्मा~~ के परमार्थ से आत्माओं की मलिनता को करने वाला अन्य कोई अर्थान्तर तत्त्व विद्यमान नहीं है, तो बंध का संभव नहीं है। क्योंकि किसी भी बंध हेतु का अभाव है।

असत्यस्मिन् कुतो मुक्तिर्बन्धाभावनिबन्धना।
मुक्तमुक्तिर्न पन्याया भावेऽत्यतिप्रसङ्गता ॥ ५।१०॥

यह बंध न होने पर बंध के अभाव से होने वाली मुक्ति कैसे होगी? क्योंकि मुक्त की मुक्ति योग्य नहीं है। मुक्ति

होने पर इस मुक्त की अतिव्याप्ति होगी।

यह बंध न होने पर मुक्ति घटित नहीं होगी क्योंकि पहले से बंधे हुए आत्मा की मुक्ति होती है, उस बंध का अभाव होने पर मुक्ति होती है।
यदि आप बंध के बिना ही मुक्ति मानोगे तो पहले से ही मुक्त जीव की मुक्ति मानने की आपत्ति होगी और ऐसे मुक्त जीव की मुक्ति मानना योग्य नहीं है।
यदि मुक्त जीव की भी मुक्ति मानोगे तो अतिव्याप्ति होगी क्योंकि जो जीव पूर्व में मुक्त हो चुके हैं, उन्हें भी पुनः मुक्ति होने का प्रसंग उपस्थित होगा।

काल्पितादन्यतो बंधो न जातु स्यादकल्पितः।
कल्पितश्चेत्ततश्चिन्त्यो ननु मुक्तिरकल्पिता ॥52॥

कल्पित ऐसे अन्य से कभी भी अकल्पित बंध नहीं होता। यदि बंध भी कल्पित मानो तो मुक्ति भी अकल्पित होगी।

पूर्व श्लोक में बंध न मानने पर होने वाली आपत्ति देने पर बौद्ध कहते हैं कि हम कल्पित ऐसे अन्य से बंध मानते हैं।
ग्रंथकार प्रत्युत्तर देते हैं कि यदि कर्मादि अन्य को कल्पित मानोगे तो बंध भी कल्पित होगा, अकल्पित नहीं। और यदि अकल्पित बंध मानोगे तो पुनः श्लो. 50 में कही हुई आपत्ति उपस्थित हो जाएगी। कल्पित बंध से मुक्ति भी कल्पित होगी, अकल्पित/वास्तविक मुक्ति घटित नहीं होगी; क्योंकि मुक्ति वास्तविक बंध से ही होती है।
अतः आत्मा से अन्य कर्मादि को वास्तविक मानना पड़ेगा।

NOVEMBER 2016
W M T W T F S S
44 1 2 3 4 5 6
45 7 8 9 10 11 12 13
46 14 15 16 17 18 19 20
47 21 22 23 24 25 26 27
48 28 29 30

अर्थात् इस प्रकार कर्मादि को वास्तविक सिद्ध करने पर बौद्ध और पुरुषाद्वैतवादी, दोनों एकसाथ जैन मत वाले को कहते हैं:

31 Monday
OCTOBER

नान्यतोऽपि तथाभावादृते तेषां भवादिकम् ।
ततः किं केवलानां तु ननु हेतुसमत्वतः ॥५२२॥

अन्य से भी आत्मा के तथाभाव बिना उन आत्माओं का भवादि नहीं होगा । ~~इसलिए~~ इससे क्या ? केवल आत्माओं का भवादि हेतु के समानपन से होना चाहिए ।

नैयायिक भी कर्मादि अन्य वस्तु नहीं मानता । वह मात्र आत्मा में ही उस प्रकार के भाव/धर्म/अदृष्ट से उसे संसारादि मानता है और उससे रहित होने पर मुक्ति मानता है ।
~~मंथकार~~ यह नैयायिक ग्रंथकार को कहता है कि आप आत्मा से अन्य कर्मादि को मानते हो लेकिन अन्य कर्म से भी आत्मा के तथाभाव यानी उस प्रकार के भाव/स्वभाव के बिना उन आत्माओं को संसार आदि नहीं होगा । अतः कर्मादि अन्य को मानने से क्या ? अर्थात् कर्मादि अन्य को मानने से क्या लाभ ? उन्हें ~~नहीं~~ मानना नहीं चाहिए ।
ग्रंथकार इसका प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं कि यदि केवल आत्माओं के तथाभाव से संसारादि मानते हो तो आपको भी पुरुषाद्वैत मत और बौद्ध मत स्वीकार लेना चाहिए क्योंकि दोनों में हेतु समान है अर्थात् आप नैयायिक केवल आत्मा के तथाभाव से भवादि मानते हो और पुरुषाद्वैतवादी तथा बौद्ध भी मात्र आत्मा के तथाभाव से ही भवादि मानते हैं । इस तरह समान मत होने से आप नैयायिकों को पुरुषाद्वैत मत या बौद्ध मत स्वीकार लेना चाहिए ।
श्लोक की अक्षरगमनिका ⇒ नैयायिक - अन्य ऐसे कर्म से भी (अन्यतोऽपि) आत्मा के तथाभाव बिना (~~आत्मा~~ के तथाभावादृते) उन आत्माओं का (तेषां) भवादि (भवादिकं) नहीं होगा (न)। अतः इस कर्म से (ततः) क्या (किं) ?
ग्रंथकार - ~~नहीं~~ के केवल आत्माओं का भवादि मानने पर (केवलानां तु) हेतु समान होने से/हेतु का समानपन

होने से (हेतुसमत्वतः) आपको पुरुषाद्वैत या बौद्ध = मत स्वीकार लेना चाहिए।

★ कर्म को वास्तविक सिद्ध करने पर पुरुषाद्वैतवादी और बौद्ध दोनों जैन मत में आपत्ति देते हुए कहते हैं-
आत्मा से अन्य ऐसे कर्मादि से भी आत्मा के तथापरिणाम बिना उन जीवों का भवादि नहीं होगा क्योंकि यदि आत्मा के परिणाम बिना मात्र कर्म से संसार मानो तो मुक्त जीवों को संसार होने की आपत्ति होगा, ~~क~~ म उनके क्षेत्र में भी कर्म के पुद्गल तो हैं ही। अतः आत्मा के परिणाम बिना मात्र कर्म से संसार नहीं मान सकते। अतः मुख्य हेतु परिणाम ही है।
आपके जैन मत में भी ऊपर कहे अनुसार आत्मा के परिणाम से ही संसार है और हमारे पुरुषाद्वैत-बौद्ध मत में भी केवल आत्माओं के परिणाम से ही संसार आदि है। अतः हम दोनों के मत ~~म~~ में संसार का हेतु (परिणाम) समान होने से केवल आत्मा मानने में क्या आपत्ति है? आपको भी कर्म मानने की आवश्यकता नहीं है।
अक्षरगमनिका⇒ अन्य से भी (अन्यतोऽपि) तथाभाव बिना (तथाभावाऽते) ~~भवादि~~ उन आत्माओं का (तेषां) भवादि नहीं होगा (न भवादिकम्)। इसलिए (ततः) संसार का हेतु-परिणाम हम दोनों के मत में समान होने से (हेतुसमत्वतः) केवल आत्मा मानने वालों को (केवलानां) क्या दोष है? (किं)?

अव. जैन दर्शनानुसार आत्मा से अन्य कर्म को ~~क~~ मानना ही पड़ेगा, इस बात को युक्ति से सिद्ध करते हैं-

मुक्तस्येव तथाभावकल्पना यन्निरर्थका।
स्यादस्यां प्रभवन्त्यां तु बीजादेवाऽङ्कुरोदयः॥ ६२३॥

क्योंकि मुक्त जीव की तरह तथाभाव की कल्पना निरर्थक होगी यह कल्पना होने पर भी बीज से ही अंकुर का उदय होता है।

NOVEMBER 2016
M T W T F S S
44 1 2 3 4 5 6
45 7 8 9 10 11 12 13
46 14 15 16 17 18 19 20
47 21 22 23 24 25 26 27
48 28 29 30

2 Wednesday
NOVEMBER

Week 44 307-059

ग्रंथकार नैयायिक को कर्म की सिद्धि कराने के लिए प्रत्युत्तर देते हैं-
जैसे हम यदि मुक्त जीव में तथा परिणाम की कल्पना करेंगे तो वह निरर्थक ही होगी क्योंकि मुक्त जीव में तथापरिणाम की कल्पना से भवादि नहीं होगा; वैसे ही यदि संसारी जीव में भी कर्मसंयोग के बिना तथापरिणाम की कल्पना करेंगे तो वह निरर्थक ही होगी क्योंकि अन्य संयोग बिना ~~तथापरिण~~ भवादि नहीं होगा। इसलिए अन्य संयोग होने पर ही तथापरिणाम से भवादि होता है।
जैसे अंकुर में उगने का परिणाम होता है किंतु वह बीज से ही उगता है, बीज के बिना अंकुर में योग्यता होने पर भी वह नहीं उगता; ठीक उसी तरह आत्मा में भी तथापरिणाम होने पर भी उसे अन्यसंयोग से ही भवादि होते हैं, अन्य संयोग के बिना नहीं।
अतः तथापरिणाम होने पर भी अन्य संयोग मानना आवश्यक है।

* ग्रंथकार जैनमतानुसार पुरुषाद्वैतवादी और बौद्ध को कर्म मानना आवश्यक है, यह बताते हैं-
आप भी संसार का हेतु परिणाम मानते हो और हम भी। किंतु वह परिणाम भी अन्यसंयोग बिना निरर्थक है। जैसे परिणाम होने पर भी अंकुर की उत्पत्ति बीज से ही होती है, वैसे ही परिणाम होने पर भी भवादि अन्यसंयोग से ही होता है।

अब. उपसंहार करते हुए कहते हैं-

एवमाघत्र शास्त्रज्ञैस्तत्त्वतः स्वहितोद्यतैः।
माध्यस्थ्यमवलम्ब्योच्चैरात्मोच्चं स्वयमेव तु ॥524॥

इस प्रकार परमार्थ से स्वहित में उद्यत शास्त्रज्ञों द्वारा माध्यस्थ्य का अवलंबन लेकर स्वयमेव ही अत्यंत विचार किया जाना चाहिए।

DECEMBER 2016

W	M	T	W	T	F	S	S
48				1	2	3	4
49	5	6	7	8	9	10	11
50	12	13	14	15	16	17	18
51	19	20	21	22	23	24	25
52	26	27	28	29	30	31	-

2016

अब. माध्यस्थ्य के अवलंबन से क्यों विचार ~~क्यों~~ किया जाना चाहिए?-

आत्मीयः परकीयो वा कः सिद्धान्तो विपश्चिताम् ।
दृष्टेष्टाबाधितो यस्तु युक्तस्तस्य परिग्रहः ॥525॥

विद्वानों के लिए स्वयं का अथवा पर का सिद्धान्त कौन-सा होता है ? (अर्थात् विद्वानों के लिए कोई भी सिद्धान्त स्वकीय या परकीय नहीं होता।) जो सिद्धान्त दृष्ट और इष्ट से अबाधित है, ~~उसका ही परिग्रह~~ विद्वानों को उसका ही परिग्रह करना योग्य है।

अब अब ग्रंथकार इस ग्रंथरचना का प्रयोजन, उद्धारस्थान और स्वयं का नाम सूचित करते हुए कहते हैं –

स्वल्पमत्यनुकम्पायै योगशास्त्रमहार्णवात् ।
आचार्यहरिभद्रेण योगबिन्दुः समुद्धृतः ॥526॥

स्वल्प मति वाले जीवों की अनुकंपा के लिए आचार्य हरिभद्र द्वारा योगशास्त्र रूपी समुद्र से ~~इस~~ इस योगबिंदु ग्रंथ का समुद्धार किया गया।

समुद्धृत्यार्जितं पुण्यं यदेनं शुभयोगतः ।
भवान्ध्यविरहात् तेन जनः स्याद् योगचक्षुषः ॥527॥

ग्रंथ का समुद्धार करके शुभ योग से ~~यह~~ जो पुण्य अर्जित किया गया, उस पुण्य से लोग संसार की अंधता ~~से~~ के विरह से योग रूपी चक्षु वाले हों।

'विरह' यह श्री हरिभद्रसूरि जी के स्वप्रकरण का द्योतक है।

योगबिंदु प्रकरण की यह टीका समाप्त हुई। (ग्रंथाग्र 3620)

2016

4 Friday
NOVEMBER
Week 44 309-057

इति श्रीहरिभद्रसूरिकृतः श्रीयोगबिन्दुप्रकरणग्रन्थोऽयं हिन्दीभाषया भावार्थेन सह गुरुकृपया लिखितः।

समाप्तिवासरः = ज्येष्ठ कृष्ण नवमी (गुज.)
आषाढ़ कृष्ण नवमी (मार.) 26/6/2019।
समाप्तिस्थलम् = 'बिन्नी' इति सङ्घः, चैन्नई, तमिलनाडु।

*(अनुसंधान Pg.No. 192 पर)
आगम भी अनुमान ही है कैसे? उ.-
शब्द दो प्रकार के हैं - दृष्ट अर्थ विषयक, अदृष्ट अर्थ विषयक।
दृष्ट अर्थ के विषय में शब्द से जो प्रतीति होती है, वह वस्तुतः अनुमान से ही होती है क्योंकि कोई पहले पृथुबुध्न उदरादि वाले अर्थ में घट शब्द का प्रयोग किया जाता देखकर उसके बाद में कहीं 'घटमानय' आदि शब्द सुनकर 'पृथुबुध्नादि वाला अर्थ ही घट कहा जाता है, क्योंकि वैसे पदार्थ में ही घटशब्द के प्रयोग की प्रवृत्ति होती है, जैसे पहले कुंभकार की दुकान आदि में, अभी भी घटशब्द सुना जाता है, अतः वैसे पदार्थ की ही आनयनादि क्रिया करना चाहिए' ऐसा अनुमानकर प्रमाता घट को लाने आदि की क्रिया करता है। इस प्रकार दृष्ट अर्थ विषयक शाब्द प्रमाण अनुमान से भिन्न नहीं है।

DECEMBER 2016
W M T W T F S S
48 1 2 3 4
49 5 6 7 8 9 10 11
50 12 13 14 15 16 17 18
51 19 20 21 22 23 24 25
52 26 27 28 29 30 31

अदृष्ट अर्थ विषयक जो शाब्द प्रमाण है, वह भी तत्त्व से अनुमान का उल्लंघन नहीं करता है। तथाहि - 2016
स्वर्ग नरकादि अदृष्ट अर्थ विषयक वचन प्रमाण है, अविसंवादी वचन

ही आप्त द्वारा प्रणीत होने से, चंद्र-सूर्य ग्रहणादि वचन की तरह। इस प्रकार अनुमान से ही उसमें प्रमाणता है। ऐसे कोई भी आप्त पुरुष को हम नहीं देखते हैं, जिसे आत्मा प्रत्यक्ष हो, इसलिए उसका वचन आगम है, ऐसा हम स्वीकार लें।

(विशेषा. भा. गा. 1552 मलधारि हेमचंद्रसूरि वृत्ति)

NOVEMBER 2016
W M T W T F S S
44 1 2 3 4 5 6
45 7 8 9 10 11 12 13
46 14 15 16 17 18 19 20
47 21 22 23 24 25 26 27
48 28 29 30

6 Sunday
NOVEMBER

Week 44 311-055

जिनके द्वारा सद् योग रूप चिन्तामणि से जगत्..

आदि-अन्त से रहित और योगीन्द्र से वंदित ऐसे शिव को नमस्कार कर सभी योगशास्त्रों के अविरोधपूर्वक सन्नीति से मध्यस्थ योगविदों के प्रति योगशास्त्रों के स्थापक और महान् उदय वाले ऐसे योगबिंदु ग्रंथ को मैं तत्त्व की सिद्धि के लिए कहूँगा।

→ आदि-अन्तविनिर्मुक्तं = आदि और अंत से रहित।
→ शिवं = सकल्य उपप्लव, उपद्रवों के अंश से भी रहित।
→ योगीन्द्रवंदितं =
→ योगबिंदुं = योगबिंदु ३ नामक ग्रंथ।
→ तत्त्वसिद्धिये =
→ महोदयं =
→ सर्वेषां योगशास्त्राणां =
→ अविरोधेन
→ तत्त्वतः
→ सन्नीति
→ स्थापक
→ मध्यस्थ
→ तद्विदः प्रति

ग्रंथकार हरिभद्रसूरिजी म.सा. यहाँ प्रथम दो श्लोक में अनुबंध चतुष्टय का निर्देश करते हैं। वह अनुबंध चतुष्टय इस प्रकार है—

(1) मंगल → ॐ आदि-अंत से रहित और गणधरादि महामुनि रूप योगियों के स्वामी द्वारा भी वंदित वंदन किए गए शिव को ग्रंथकार मंगल रूप में नमस्कार करते हैं। यहाँ शिव का आदि और अंत से रहित यह विशेषण प्रवाह की अपेक्षा से है। शिव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और अनंत है। कोई एक ही शिव अनादि-अनंत नहीं है।

DECEMBER 2016
W M T W T F S S
48 1 2 3 4
49 5 6 7 8 9 10 11
50 12 13 14 15 16 17 18
51 19 20 21 22 23 24 25
52 26 27 28 29 30 31
2016

संबंधी
अनादि से शुद्ध ईश्वर की अन्य दर्शन की मान्यताओं का अन्य ग्रंथों में विस्तार पूर्वक खंडन किया गया है।

(2) अभिधेय → 'योगबिंदु' पद से ग्रंथकार अभिधेय का कथन करते हैं। योग अर्थात् आत्मा को मोक्ष से जोड़ने वाला अनुष्ठान इस योग के अवयव, अंश को योगबिंदु कहा जाता है। इस योगबिंदु के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को भी योगबिंदु कहते ग्रंथकार हैं। ऐसे योगबिंदु नामक प्रकरण ग्रंथ को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं। यह ग्रंथ मध्यस्थ योगविदों के प्रति तात्पार्थ से सभी योगशास्त्रों के अविरोध पूर्वक युक्ति द्वारा सभी योगशास्त्रों का स्थापक है अर्थात् यह ग्रंथ तात्पर्यार्थ की विचारणा से कपिल, सुगत (बुद्ध) आदि द्वारा प्रणीत योगशास्त्रों, अध्यात्म शास्त्रों का विरोधी नहीं होगा। इस ग्रंथ में सबका समन्वय किया जाएगा इसलिए यह ग्रंथ मध्यस्थ चित्त योगविदों के सामने सभी योगशास्त्रों की युक्ति से प्रतिष्ठा करेगा।

9. यहाँ आपने तात्पर्यार्थ की विचारणा से अविरोध क्यों कहा?

J. क्योंकि शब्द तो सभी दर्शन में भिन्न-भिन्न होते हैं। पदार्थों की संज्ञाएँ, नाम सभी दर्शन में अलग होते हैं किंतु अर्थ एक ही रहता है। इसलिए इस ग्रंथ में भी उसी अर्थ की विचारणा की जाएगी किंतु शब्द भिन्न हो सकते हैं। अतः यह ग्रंथ भी तात्पर्यार्थ की ~~विचारणा~~ से अविरोधी सभी योगशास्त्रों की होगा, शब्द से नहीं।

प्रश्न Pg. No. 2

9. J. Pg. No. 2 से.

NOVEMBER 2016
W M T W T F S S
44 1 2 3 4 5 6
45 7 8 9 10 11 12 13
46 14 15 16 17 18 19 20
47 21 22 23 24 25 26 27
48 28 29 30